धर्मसुधाकर।



प्रथम खण्ड।



चतुर्दश किरण।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेडके शास्त्रप्रकाश
विभाग द्वारा प्रकाशित।

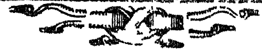
काशीधाम।

प्रथम संस्करण।

संवत् १९८५] सन् १९२८ ईस्वी। [मूल्य दो रुपया।



गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित।



प्रस्तावना ।

श्रीभगवानकी अपार कृपासे 'धर्मसुधाकर' के चतुर्दश किरण प्रकाशित हो गये। अभी और दस किरण प्रकाशित होने हैं। चौबिस किरण एक ही साथ प्रकाशित करनेका विचार था। किन्तु सुधाकरकिरणप्रेमियोंके सप्रश्रय आग्रहके कारण दूसरे खण्डके लिये दस किरण रख दिये गये, जो शीघ्र ही प्रकाशित कर दिये जायेंगे।

धर्मकल्पद्रुम जैसे विशाल ग्रन्थके रहते हुए भी धर्मसुधाकरकी आवश्यकता क्यों पड़ी इस प्रश्नके कई एक उत्तर हैं। प्रथमतः धर्मकल्पद्रुम बहुत विशाल और कई खण्डोंमें होनेके कारण साधारण श्रमशील तथा मननशील पाठकके लिये दुर्बोध्य और दुरधिगम्य है। इस विशाल समुद्रको मथ कर अभीष्ट प्राप्ति करना सामान्य पुरुषार्थका कार्य नहीं है। इसी कारण समुद्र मथन द्वारा सुधाकरकी प्राप्ति जैसे हुई थी, ऐसे ही विशाल धर्मकल्पद्रुमके सारसंग्रहरूपसे धर्मसुधाकर प्रकाशित करनेकी आवश्यकता जान पड़ी। द्वितीयतः आठ खण्ड तथा तीन हजार पृष्ठ रायल साईज ग्रन्थ धर्मकल्पद्रुमके लिये मूल्य भी बहुत देना पड़ता है, जो कि साधारण प्रजाके लिये कुछ कष्ट-साध्य ही है। तृतीयतः भाषा तथा भावके विचारसे सामान्य शिक्षित जनोंके लिये धर्मकल्पद्रुमका हृदयङ्गम होना अति कठिन है, इस कारण भी सरल भाषा तथा सरलभावपूर्ण एक देशकालोपयोगी धर्मग्रंथकी अतीव आवश्यकता थी। चतुर्थतः धर्मकल्पद्रुम जिस समय लिखा गया था उस समय सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक हिन्दु जीवन ऐसा वैचित्र्यमय नहीं था, जैसा कि, आजकल है। इस कारण भी वर्त्तमान राजनैतिक-सामाजिक-धार्मिक मार्मिक विचारपूर्ण एक सुखबोध्य ग्रंथके प्रकाशनकी विशेष आवश्यकता प्रतीत हुई। इत्यादि अनेक कारणोंसे 'धर्मसुधाकर' प्रकाशित किया गया।

हिन्दुधर्मके अनन्त विषयोंसे चुन चुन कर चौबिस उपयोगी विषय इस ग्रन्थमें दिये गये हैं। इन चौबिसोंके भीतर अवान्तर विषय शत शत हैं, जिसकी उपयोगिता पाठकगण- पढ़ कर जान सकते हैं। धर्मवक्ता तथा

धार्मिक शास्त्रार्थप्रेमी विद्वानोंके लिये तो 'धर्मसुधाकर' सर्वोत्तम आदरणीय ग्रंथ है, क्योंकि इसमें प्रत्येक विषयपर व्याख्यानके ढङ्गसे एक एक निबन्ध और एक एक शास्त्रार्थ दिये गये हैं। बीच बीचमें शंकासमाधानरूपसे जटिल विषयोंकी सप्रमाण सविज्ञान गम्भीर मीमांसा भी कर दी गई है। वेद, स्मृति आदिके जितने प्रमाण दिये गये हैं सबके साथ मूलग्रंथके अध्याय, श्लोक आदि सब कुछ लिख दिये हैं, ताकि शास्त्रार्थिगणको प्रमाणग्रंथोंके अन्वेषणमें असुविधा न हो। इसके अतिरिक्त सभी कोटि तथा सभी श्रेणिके पाठकोंके लिये आध्यात्मिक, यौगिक, धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक, नैतिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक देशकालोपयोगी, देशहितकर, समाजहितकर, निखिलकल्याणकर सभी विषयोंपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। आशा है 'धर्मसुधाकर' अपनी शीतल सुधामय किरणोंसे त्रिविध ताप तप्त तथा जिज्ञासु जनोंके शरीर मन प्राणको परितृप्त कर सकेगा।

नियमानुसार इस ग्रंथका प्रकाशन भार श्रीभारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेडके शास्त्रप्रकाशन विभागको दे दिया गया है।

काशीधाम
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
संवत् १९८५

ग्रन्थकर्त्ता।

विषयसूची ।

प्रथम किरण ।

द्वितीय किरण ।

तृतीय किरण ।

चतुर्थ किरण ।

अष्टम किरण।

नवम किरण।

दशम किरण।

एकादश किरण।

द्वादश किरण ।

त्रयोदश किरण ।

चतुर्दश किरण ।

ओ३म्तत् ।

धर्मसुधाकर ।

मङ्गलाचरण ।

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् सदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथम किरण ।

धर्म ।

धर्मशब्द धृधातुसे बनता है, इसका अर्थ "धरतीति धर्म्मः" अथवा "येनैतद्धार्य्यते स धर्म्मः" अर्थात् जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा सम्पूर्ण संसारका धारण होता है, वही धर्म्म है ।

धर्म विज्ञान ।

धर्म्मका इस प्रकारका लक्षण वेदमें भी वर्णित है, यथा—

"धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्म्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्म्मेण पापमपनुदति धर्म्मे सर्व्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति ।"

(नारायणोपनिषद् ७९)

धर्म्म ही समस्त संसारकी स्थितिका मूल है, संसारमें लोग धर्म्मात्मा पुरुषका अनुसरण करते हैं, धर्म्मसे पाप दूर होता है, धर्म्म ही पर सब अवलम्बित है इसलिये महर्षियोंने धर्म्मको उत्तम पदार्थ कहा है ।

इसी प्रकार भगवान् वेद व्यासने भी धर्मका लक्षण कहा है—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म इति निश्चयः॥

(महाभारत कर्णपर्व)

धारण करता है इसलिये धर्मको धर्म कहा गया है, धर्म प्रजाओंको धारण करता है, जो धारण करनेकी योग्यता रखता है वही धर्म है।

ईश्वरकी जो अलौकिक इच्छा शक्ति सम्पूर्ण संसारका भरण पोषण अथवा उसकी रक्षा करता है, उसीका नाम धर्म है। जो शक्ति पृथिवीके भीतर व्यापक रहकर पृथ्वीका परिचालन करती है और उसके काठिन्य तथा गुरुत्वकी रक्षा करती हुई पृथिवीमें पृथिवीपन बनाये रखता है जो शक्ति जलमें रहकर जलका जलत्व और उसकी तरलता सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उसकी उष्णता और तेजस्विताकी रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी, जल या तेजरूपमें पलट जाती अथवा तेज कठिन और वजनदार (भारी) हो जाता, आज पृथिवी रूपमें है कल वह आकाश रूपमें या आकाश ही पृथिवीके समान स्थूल दिखाई देता, जो शक्ति इस पञ्चभूत एव मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपमें स्थित रक्खे, आपसमें टकराकर नष्ट भ्रष्ट होने न दे, उसी शक्तिको धर्म कहते है। जिस शक्तिके प्रबल प्रभावसे पृथिवी अपने मेरुदंडपर घूमती हुई प्रतिदिन नियमसे रात और दिनको बना रही है और प्रतिवर्ष ठीक समयपर नियमके साथ सूर्य्यदेवकी प्रदक्षिणा कर रही है, जिस शक्तिकी महनीय महिमासे महान् महीतलपर प्रतिवर्ष नियमके साथ छ ऋतुओंका विमल विकाश हुआ करता है, जिस शक्तिकी सामर्थ्यसे शीतप्रधान देशमें पशु पक्षी आदि उस देशके योग्य शरीरका उपादान लेकर उत्पन्न होते हैं और मरुभूमिके समान उष्ण देशोंमें उसके योग्य शरीरोंको धारण करके जन्म लेते हैं, वही शक्ति धर्म है। जिस शक्तिके अतुल बलसे शरीरमें वात पित्त और कफ या पञ्चभूतोंकी समानताकी रक्षासे शरीरकी रक्षा होती है, क्षणभरके लिये भी जिस शक्तिके न रहनेसे शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है अथवा तेजसे जल सूखकर या जलके द्वारा तेज नष्ट होकर शरीरमें बड़ा गड़बड़ मचा देता है, जो शक्ति काठके काठपनकी रक्षा करे, काठके उपादानभूत परमाणुओंमें आकर्षण और विकर्षणकी समा

नता बनाये रक्खे, जिस समानताके बलसे काठके परमाणुसमूह आकर्षण अधिक होनेके कारण आपसमें बहुत खिच खिच कर काठको कुछ औरसे और न बना दे अथवा विकर्षणके आधिक्यसे वे परमाणुसमूह परस्पर बिखरते हुए उसका आकार बहुत बड़ा न बना दे या तेज अथवा वायुके साथ मिलाकर उड़ा न दें, किन्तु जो शक्ति दोनोंकी समानता रखकर संसारके सब पदार्थोंको अपने ठीक आकारमें रखती है उसीका नाम धर्म्म है।

साधारण रीतिपर सृष्टिके सब पदार्थोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते है। एक जड दूसरा चेतन। जो असाधारण धारिकाशक्ति अनादिकालसे इन दोनोंको अपनी अपनी अवस्थाओंमें स्थिर रखती है, वही धर्म्म है।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें तथा प्रत्येक अणु परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी दो शक्तिया है। इन दोनोंकी समानताके कारण ही इस असीम शून्य महाकाशमें वर्त्तमान अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्य्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र अपनी अपनी कक्षामें घूमते हुए कभी कोई अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टकरा नही जाते हैं, जलमय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्य्यलोक में प्रवेश करके नष्ट नही होता है अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नही करता है, जो ईश्वरकी शक्ति इस प्रकारसे आकर्षण और विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सृष्टिके सब पदार्थोंकी रक्षा करती है, वही धर्म्म है।

जिस प्रकार जड जगत्में धर्म्मकी असम धारिणी शक्ति देखी गई है उसी प्रकार चेतन जगत्मे भी धर्म्मका अटल प्रभाव पाया जाता है। मनुष्य, पशु और वृक्ष आदि सब ही चेतन है किन्तु इनमें बड़ा भेद है। जो शक्ति जीवोंमें इस प्रकारके परस्पर भेदोंकी समानताको बनाये रखती है, जिस शक्तिके न रहनेसे क्षणभरमें मनुष्य स्थावरके समान जड हो जाता और वृक्ष आदि स्थावर मनुष्यके समान बुद्धिशक्तिको प्राप्त हो जाते, किन्तु जो शक्ति मनुष्यत्व, पशुत्व और वृक्षत्व आदिको सङ्कर होनेसे बचाती है उसी सामञ्जस्य करनेवाली शक्तिका नाम धर्म्म है।

संसारमें धर्म्मकी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखाई देता है, एक, एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसको ठीक अपनी अवस्थामें रखना और दूसरा, क्रमशः उन्नति कराकर पदार्थको पूर्णताकी ओर ले जाना।

क्रमाभिव्यक्ति (क्रमशः प्रकट होना) के नियमसे जीवभावका विकाश

उद्भिज्जसे आरम्भ होता है और क्रमशः स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज पशु आदि योनियोंको पारकर मनुष्ययोनिमें पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, ये ही पाञ्च कोष या पाञ्च विभाग हैं। जीवका स्थूल शरीर अन्नमय कोष या प्रथम विभाग, प्राण, अपान आदि क्रियाओंसे युक्त वायुको चलानेवाली शक्ति ही प्राणमय कोष या द्वितीय विभाग, कर्मेन्द्रिय और मन, मनोमय कोष या तृतीय विभाग, ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि, विज्ञानमय कोष या चतुर्थ विभाग और प्रिय, मोद और प्रमोद, इन तीन वृत्तियोंसे युक्त अन्तःकरणकी अवस्था विशेष, जिसका पूर्ण विकाश सुषुप्ति (घोरनिद्रा) कालमें होता है वही आनन्दमय कोष या पञ्चम विभाग है। इन पञ्च कोषोंके विकाशके तारतम्यसे ही वृक्ष और मनुष्यमें इतना भेद है। उद्भिज्जमें केवल अन्नमय कोषके विकाशसे ही ऐसी शक्ति देखनेमें आती है कि केवल शाखा (डाढ) रोपनेसे वृक्ष बन जाता है। यह उद्भिज्जमें रहनेवाली धर्म्मशक्तिके किञ्चिन्मात्र विकाशका फल है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश है। प्राणमय कोषका विकाश होनेसे ही स्वेदज कीट आदिमें अनेक प्राणक्रियाएं देखनेमें आती हैं। जैसा कि रोगके कीटसे शरीरमें रोग उत्पन्न होकर देशभरमें महामारीका फैल जाना और रुधिरमें शुक्र कीटकी प्रबलतासे रोगका विनाश होना इत्यादि। अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश है, मनोमय कोषके विकाश होनेसे ही साधारण पक्षियोंमें अपने बच्चोंके साथ स्नेह करना अथवा कबूतर एवं चक्रवाक (चकवा) आदि विशेष पक्षियोंमें दाम्पत्य प्रेम आदि देखनेमें आते हैं जो मनोवृत्तिके स्पष्ट लक्षण हैं। जरायुज पशु आदिमें विज्ञानमय कोषका विकाश होनेसे ही घोड़ा, हाथी और कुत्ते आदिमें स्वामीकी भक्ति आदि बुद्धिका अनेक वृत्तियोंका परिचय मिलता है। मनुष्यमें पाञ्चों कोषोंका विकाश है। आनन्दमय कोषका विकाश होनेसे ही मनुष्य हंस कर अपने मनका आनन्द प्रकट कर सकता है। और अन्य जीवोंमें आनन्दमयकोषके रहनेपर भी उनमें उसका विकाश नहीं है इसलिये वे हंस नहीं सकते। जीव कोष-विकाशके अनुसार उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज पशु आदि, और पशु आदिसे मनुष्य योनिमें आता है। वहां भी क्रमशः असभ्यसे अनार्य्य, अनार्य्यसे आर्य्य शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी मूर्ख जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण,

उससे कर्मी ब्राह्मण, उससे विद्वान् ब्राह्मण, विद्वान्से तत्त्वज्ञ, तत्त्वज्ञसे आत्मज्ञ ब्राह्मण होकर पञ्चकोषोंके विकाशकी पूर्णताको लाभ करता है, उसके बाद आत्मज्ञानको प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है। जीवकी यह क्रमोर्द्ध्वगति या जीवभावका क्रमविकाश धर्म्मका ही कार्य्य है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जिस शक्तिने जीवको जडसे पृथक् कर रक्खा है और जो प्रत्येक विभिन्न जीवकी स्वतन्त्र सत्ताका रक्षा कर रही है एवं जो शक्ति वृक्ष आदि स्थावरसे लेकर जीवको क्रमशः उन्नत करती हुई अन्तमें मोक्षप्राप्त करा देती है, उसी एकमात्र व्यापक शक्तिका नाम धर्म्म है। इसलिये वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता महर्षि कणादने कहा है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म्म है।

जीव धर्म्मके द्वारा क्रमशः उन्नत और अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। अज्ञान और बुद्धिका विकाश न होनेके कारण उद्भिज्ज आदि मनुष्यसे नीचेके सब जीव प्राकृतिक नियमके अधीन रहकर क्रमशः उन्नत होते हैं। प्रकृति माता उनको बालकके समान अपनी गोदमें लालन पालन करती हुई अन्तमें मनुष्य योनितक पहुंचा देती है। इसलिये वृक्ष आदिसे पशु तक जीव माके गोदमें बालकके समान पूरे तौरपर प्रकृतिके अधीन रहकर बढ़ते हैं। वस्तुतः इनके सब कामोंका भार प्रकृतिपर रहनेसे ये पाप या पुण्यके भागी नहीं होते हैं, किन्तु मानवयोनिमें अपनेपर अहङ्कार बढ़ जानेसे जीव स्वाधीन होकर काम करने लगता है इसलिये वह अपने कामका जिम्मेवार हो जाता है। इसी लिये मनुष्य योनिसे ही धर्मका साक्षात् सम्बन्ध शास्त्रोंमें वर्णित है, जैसा कि महाभारतमें—

मानुषेषु महाराज ! धर्माधर्मौ प्रवर्त्ततः।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥

(मोक्षपर्व २९७ अ०)

जिस प्रकार मनुष्यमें धर्म्माधर्म्मकी ठीक ठीक प्रवृत्ति होती है, मनुष्यसे भिन्न अन्य जीवोंमें वैसी नहीं होती। अत्यन्त दीन होनेपर भी मनुष्यको दु खोंसे घबडाना न चाहिये, क्योंकि चाण्डालकी भी मनुष्ययोनि अन्य पशु आदि योनियोंसे बहुत ही उत्तम है। यही एक योनि है जिसको प्राप्त करके मनुष्य शुभ कर्म्मोंको करता हुआ अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त हो सकता है। वेदमें भी—

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽ
श्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्य पुरुषमानयत्ता
अब्रुवन सुकृत वतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।

(ऐतरेयोपनिषत् द्वि० ख० ९-३)

इसी बातका साख्यकारिकामें श्रीमान् ईश्वरकृष्णने भी कहा है—

धर्म्मेण गमनमूर्द्ध्वम्।
गमनमधस्ताद्भवत्यधर्म्मेण॥

जीव धर्मके द्वारा ऊर्द्ध्वगति और अधर्मके द्वारा अधोगतिको प्राप्त होता है। पशु आदि जीव प्रकृतिके नियमानुसार परिचालित होनेसे पाप पुण्यके फलभागी नहीं होते हैं। वे समष्टि प्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार क्रमशः उन्नत होते हैं इसलिये मनुष्यसे इतर सब जीवोंकी उत्पत्ति और उन्नतिकी एक सीमा है, अर्थात् कितने जन्मोंमें वृक्ष आदि जीव अपने अधिकारकी पूर्णताको प्राप्त होकर स्वेदज आदि उच्च योनियोंका अधिकार प्राप्त करेंगे, इसका भी नियम है। ऋषिगण उन सब नियमोंपर भलीभांति सयम करके लिख गये हैं कि—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलज नवलक्षकम्।
कृमिज रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे॥

(बृहद्विष्णुपुराण)

वृक्ष आदि उद्भिज्जमें बीस लाख, स्वेदज कृमिमें ग्यारह लाख, अण्डज मछली, पक्षी आदिमें उन्नीस लाख एव पशु वानर आदि जरायुजमें चौंतीस लाख वार जन्म ग्रहण करना पडता है। इस प्रकार क्रमोन्नतिके समय जीव

चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करके अन्तमें मनुष्य योनिको प्राप्त होता है। परन्तु मनुष्य कितने जन्मोंमें अपने अधिकारकी पूर्णताको पाकर मुक्तिपदको प्राप्त होगा इसका कोई नियम नहीं है क्योंकि जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वाधीन हो जाता है और प्रकृतिपर आधिपत्य जमाकर उसके नियमोंको तोडने लगता है अर्थात् यहांपर प्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारा रुक जाती है। पशु आदि जीव, आहार निद्रा भय और मैथुन विषयमें प्राकृतिक नियमके सर्वथा अधीन होकर चलते हैं। वे कभी भी समयके नियमका उल्लङ्घन नहीं करते हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होनेसे उस नियमको तोड देता है और इस प्रकारकी स्वाधीनताके कारण ही प्राकृतिक नियमभङ्ग होनेसे प्रकृतिका जो क्रमोन्नतिकारी प्रवाह है, जिसने जीवको उद्भिज्जसे लेकर क्रमशः उन्नत करता हुआ मनुष्य योनितक पहुंचा दिया था वह प्रवाह मनुष्ययोनिमें आकर बाधाको प्राप्त होता हुआ फिर नीचेकी ओर लौटने लगता है। जिस शक्तिके द्वारा प्राकृतिक प्रवाहकी निम्नप्रवणता (नीचेकी ओर लौटनेका उद्योग) बन्द होकर क्रमशः ऊर्द्ध्वगमनशील प्रवाह बे रोक टोक ऊपरकी ओर बहता रहे और जिसका अवलम्बन करके जीव मनुष्ययोनिमें प्राप्य मुक्तिपदको प्राप्त हो सके, वही धर्म है। जीव मनुष्ययोनिमें धर्मके आश्रयसे प्रकृतिके अनुकूल चलकर प्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारामें अपनेको अनायास छोड देता हुआ धीरे धीरे शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी विद्वान्, कर्मी, तत्त्वज्ञ एवं आत्मज्ञ होकर अन्तमें मोक्षको प्राप्त होता है। यही चेतन जगत्‌में अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला प्रकृतिके अनुकूल धर्मका अनुशासन है। इसी प्रकारसे भगवान्‌की अलौकिक इच्छारूपिणी धराधारिका धर्मशक्तिके द्वारा जडचेतनसम्बन्धी विशेष धारण क्रियाएं सम्पन्न होती हैं।

ऊपर धर्मके सार्वभौम स्वरूपका वर्णन किया गया है जो प्रत्येक देशकाल पात्रके लिये समानरूपसे कल्याणकारी हो सकता है। अब इस साधारण धर्मके सार्वभौमभाव प्रतिपादक अङ्गोंका वर्णन तथा देशकालपात्रानुसार उसके विशेष विशेष भावोंका वर्णन किया जाता है। पूज्यपाद महर्षियोंने उल्लिखित विचारानुसार धर्मके चार विभाग किये हैं, यथा—

धर्माङ्गनिर्णय।

१. साधारण धर्म।

२ विशेष धर्म।

३ असाधारण धर्म्म।

४ आपद् धर्म्म।

साधारण धर्मके विषयमें आगे कहा जायगा। विशेष धर्म उसको कहते हैं कि जो धर्मके विशेष विशेष अधिकारानुसार विशेष विशेषरूपसे विहित हो। साधारण धर्मकी अपेक्षा विशेष धर्मकी महिमा अधिक है क्योंकि जीव विशेष धर्मके साधन द्वारा ही अपने अपने अधिकारकी भूमिपर खड़ा रहकर उन्नति कर सकता है। जिस प्रकार पृथिवीपर चलनेवाले मनुष्य यदि जलमें तरनेके समान पुरुषार्थ करें तो वे निष्फलमनोरथ ही नहीं होंगे किन्तु उनका सब शरीर अवसादग्रस्त होगा और छिल जायगा, उसी प्रकार यदि जलके ऊपर मनुष्य तरनेका पुरुषार्थ न करके चलने लगे तो डूब जायगा, ठीक इसी उदाहरणके अनुसार अपनी अपनी अधिकारविशेषतासे विशेष धर्म्मका साधन समझना उचित है। यदि स्त्री, पुरुष धर्मका पालन करना चाहे तो वह विफल मनोरथ ही नहीं होगी बल्कि पतित हो जायगी; उसी प्रकार पुरुष यदि पुरुषधर्मको छोड़कर स्त्रीधर्मके पालन करनेमें यत्न करे तो विफलता ही नहीं होगी किन्तु संसारमें वह उन्मादग्रस्त कहावेगा। यदि संन्यासी अपने निवृत्ति धर्मको छोड़कर गृहस्थके प्रवृत्ति धर्मको पालन करनेके लिये यत्न करता हुआ कामिनीकाञ्चनका संग्रह करेगा तो अवश्य ही पापग्रस्त होकर अधोगतिको प्राप्त करेगा। उसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ अपने गार्हस्थ्यधर्मको छोड़कर यतिधर्मका पालन करने लगे तो वह विफलमनोरथ ही नहीं होगा बल्कि कर्त्तव्यच्युत होनेके कारण पापग्रस्त होगा। निष्कर्ष यह है कि जिसको पूर्व कर्म और वर्त्तमान प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकारके अनुसार जैसे धर्म करनेका अवसर प्राप्त हुआ है उसीके अनुसार वह जीव विशेषधर्मका आश्रय लेता हुआ अभ्युदय प्राप्त करे तभी ठीक है। नारीको नारीधर्म पालन करते हुए, पुरुषको पुरुषका धर्म पालन करते हुए, संन्यासीको सन्यासधर्म पालन करते हुए और गृहस्थको गृहस्थधर्म पालन करते हुए अग्रसर होनेसे ही उनकी धर्मोन्नति और साथ ही साथ आत्मोन्नतिके पथमें बाधा नहीं होगी। यही विशेष धर्मका स्वरूप है।

विशेष विशेष अधिकारीके उपयोगी पृथक् पृथक् देशकाल पात्रके उन्नति वर्धक जो नियम हैं वे विशेष धर्म कहाते हैं और जब विशेषधर्मका अधिकारी

अपने विशेष धर्मकी मर्यादाको छोड़कर प्रबल पुरुषार्थके द्वारा कोई असाधारण फलकी सिद्धि करे तो उस दशामें जो धर्म साधन होता है उसको असाधारण धर्म कहते हैं। उदाहरणरूपसे नारी जातिका धर्म विचारने योग्य है। सती धर्मका पालन नारी-जातिके विशेष धर्मका उदाहरण है। इस पवित्र धर्मके पालन करनेवाली सीता, सावित्री आदि प्रात स्मरणीया स्त्रियोंका नाम पुराणोंमें मिलता है। असाधारण धर्मके उदाहरणमें द्रौपदीका उदाहरण ग्रहण करने योग्य है। द्रौपदी घटनाचक्रसे नारी-जातिके पूर्वकथित विशेष धर्मके पालन करनेमें असमर्थ हुई थी, परन्तु योगियोंके लिये भी दुर्लभ प्रबल धारणाके साधन द्वारा वह पाच पतिकी सेवा करके भी शरीर और मनसे पातिव्रत्य धर्मका पालन कर सकी थी और प्रबल पुरुषार्थ द्वारा एक पतिकी सेवा करते समय दूसरे पतिके पतिसम्बन्धका आभास तक अन्तःकरणमें आने न देनेसे प्रात स्मरणीया बन रही है। आपद्धर्म, विशेष धर्म और असाधारण धर्म इन तीनोंका विज्ञान अतिजटिल है इस कारण किसी एक ही चरित्रमें तीनोंका धर्म दिखानेके लिये पुनः यत्न किया जाता है। महर्षि विश्वामित्रका चरित्र स्मरण करने योग्य है। विश्वामित्रजीका राजधर्म विशेष धर्म है। आपत्कालमें विश्वामित्रका कुक्कुरमांस तक ग्रहण करके शरीररक्षाकी इच्छा करना आपद्धर्म है और प्रबल तपस्या द्वारा एक ही जीवनमें असाधारण योगशक्तिके द्वारा क्षत्रियसे ब्राह्मण हो जाना असाधारण धर्मकी पराकाष्ठाका उदाहरण है। धर्मका तत्त्व अति दुर्ज्ञेय है, इसी कारण श्रीमहाभारतमें कहा गया है कि—"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।" साधारण मनुष्य इन सूक्ष्म भेदोंको समझ नहीं सकता है इस कारण स्मृत्यादि धर्मशास्त्र द्वारा विस्ताररूपसे धर्म और अधर्मका निर्णय किया गया है।

आपद्धर्म भी विशेष धर्मके विराट् शरीरका एक प्रधान विभाग है। देश काल पात्र और भावके विचारानुसार आपद्धर्मका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित हैं इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर वर्त्तमान देश, वर्त्तमान काल और वर्त्तमान पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। भावकी ऐसी महिमा है कि शुद्ध भावको हृदयमें रखकर आपत्कालमें अनुष्ठित पापकार्य भी पुण्यरूपमें परिणत हो जाता है। यह बात

शास्त्रमें प्रसिद्ध है कि महर्षि विश्वामित्रने दुर्भिक्षपीडित होकर श्वानमास भक्षणका भी उद्योग किया था, किन्तु भावशुद्धि रहनेसे आपत्कालमें अनुष्ठित इस कर्म्मके द्वारा पापग्रस्त नही हुए थे। जो व्यक्ति मृत्युको ही उचित समझता है उसके लिये ऊपर उक्त दशामें यद्यपि मरजाना ही अच्छा है और स्वधर्म्म छोडना उचित नही है परन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति ऐसा समझता हो कि मेरे लिये मरना ठीक नहीं है, मेरा यदि शरीर रहेगा तो मैं अन्यान्य पुण्य कर्मसे इस पापकर्मका शुद्ध कर लूँगा और क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करके धर्म्मजगत्‌में बढ सकूगा उसके लिये आपत्कालमें चाहे जिस प्रकारसे हो शरीरको बचा लेना ही धर्म्म होगा। विश्वामित्रजीने इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर ही श्वानमासभक्षणका निःसङ्कोच उद्योग किया था और इसीलिये पापाचरण करते हुए भी भावशुद्धिके कारण पापभागी नहीं हुये थे।

धर्मके तीन विभागोंका वर्णन करके अब चतुर्थ विभाग अर्थात् साधारण धर्म्मका वर्णन किया जाता है। साधारण धर्म्म सर्वहितकर है क्योंकि इसके ७२ अङ्ग तथा अनन्त उपाङ्गोंमेंसे किसी न किसीकी सहायतासे प्रकृतिभेदानुसार सभी मनुष्य चल सकते हैं। अब नीचे इसके ७२ अङ्गोंका वर्णन किया जाता है।

साधारण धर्मके प्रधान अङ्ग तीन हैं, यथा दान, तप और यज्ञ। यथा वेदमें—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।

(बृहदारण्यके षष्ठे चतुर्थं ब्राह्मणम्)

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।"

(गीता १८-५)

ऐसा गीतामें भी कहा है। इन तीनों अङ्गोंमेंसे दानधर्म सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये सबसे प्रथम और कलियुगमें परम सहायक है। अपनी वस्तुको अपना सम्बन्ध हटाकर दूसरेको दे देनेका नाम दान है। स्मरण रहे कि दे देना तो सहज है परन्तु दी हुई वस्तुसे अपना सम्बन्ध चित्तसे हटाना अत्यन्त ही कठिन है इस कारण जो दाता अपनी दान की हुई वस्तुसे जितना

चित्तको हटाता हुआ सम्बन्धको छोड़ता है उतनी ही उसके दानकी गणना उत्तम श्रेणीमें होती है। दानधर्म तीन प्रकारका माना गया है, यथा—अभय दान, ब्रह्मदान और अर्थदान। भवभय दूर करनेके लिये श्रीगुरुदेव शिष्यको दीक्षादि जो कुछ दान करते हैं उसको अभयदान कहा जाता है। विद्योन्नतिके अभिप्रायसे साक्षात् तथा परोक्षरूपसे जो कुछ दान किया जाता है उसको ब्रह्मदान कहते है। विद्यालय स्थापन करना, विद्योन्नतिकारी यन्त्रालय स्थापन करना, पुस्तक प्रकाश करना, पुस्तक प्रणयन करना, पुस्तक दान करना, शास्त्र पढ़ाना आदि सभी प्रकारके कार्य्य ब्रह्मदानके अन्तर्गत हैं। धन, ऐश्वर्य्य आदिके सम्बन्धका जो दान किया जाता है उसको अर्थ दान कहते हैं। ये सब प्रकारके दान ही त्रिगुण विचारसे तीन प्रकारके होते हैं, यथा—गीतामें—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

देना अपना कर्त्तव्य और धर्म है इस विचारसे जो दान किया जाय और ऐसे व्यक्तिको दान किया जाय जिससे किसी प्रकारके प्रत्युपकार पानेकी कोई भी सम्भावना न हो और कैसे देशमें दान करनेसे दानका अधिक फल होगा, कैसे समयमें दान करनेसे दानका अधिक फल होगा और कैसे व्यक्तिको दान करनेसे दानका अधिक फल होगा इन सब बातोंको विचार करके सावधानता पूर्वक जो दान किया जाता है उसे सात्त्विक दान कहते हैं और बदलेमें प्रत्युपकारकी आशासे, फलके उद्देश्यसे और देते समय चित्तमें क्लेश पाकर जो दान किया जाता है उसको राजसिक दान कहते हैं और सात्त्विक दानमें जिस प्रकारके देश काल और पात्रका विचार रक्खा गया है उस प्रकारके देश, काल और पात्रका विचार न रखकर जो दान किया जाय और दान लेनेवालेको जिस प्रकार सम्मान करना उचित है वैसा सम्मान न करके तथा अवज्ञाके

साथ जो दान किया जाय उसको तामसिक दान कहते हैं। इस प्रकारसे दानके नौ भेद हुए।

अपने शारीरिक और मानसिक सुखोंका त्याग करके शरीर और मनको द्वन्द्वरहित करनेको तप कहते हैं। जिस प्रकार पशुको बाँध रखनेसे उसका वेग और उसके काम करनेकी शक्ति अधिक बढ़ जाया करती है उसी प्रकार मन इन्द्रिय और शरीरको सुख भोगसे हटाकर तपमें लगानेसे उनकी शक्ति असाधारणरूपसे बढ़ जाया करती है। इसी कारण शास्त्रोंमें वर्णन है कि तपशक्ति द्वारा प्राचीन कालमें ऋषि मुनिगण नाना दैव कार्योंके करनेमें समर्थ हुआ करते थे। अब भी महात्माओंमें तपकी अलौकिक शक्ति देखनेमें आया करती है। जिन जिन अङ्गोंकी तपशक्ति बढाई जाती है, साधकगणको उसी अङ्ग तथा भावकी शक्ति अधिक प्राप्त हुआ करती है, यथा-वाचनिकतपके द्वारा और प्रकारका फल मिलनेपर भी वाक्‌सिद्धिकी प्राप्ति तो अवश्य हुआ करती है। साधनके विचारसे तप तीन प्रकारका कहा जाता है, यथा-शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तप। श्रीगीतामें तीनोंके लक्षण निम्नलिखितरूपसे बताये गये हैं, यथा—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और तत्त्वज्ञानी महात्माकी पूजा करना, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शारीरिक तप कहाता है। अनुद्वेगकारी, सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना, वेद और शास्त्रादिका पाठ करना यह वाचनिक तप कहाता है और मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह और विशेष भावोंका संशोधन यह मानसिक तप कहाता है। प्रत्येक तप ही त्रिगुणानुसार तीन प्रकारका होता है अतः तपके नौ अङ्ग हुए।

धर्मके तीसरे अङ्गरूप यज्ञके मुख्य तीन भेद हैं, यथा-कर्मयज्ञ, उपासना

यज्ञ और ज्ञानयज्ञ। इनमेंसे कर्मयज्ञके छः भेद, उपासनायज्ञके नौ भेद और ज्ञानयज्ञके तीन भेद होते है। कर्मयज्ञके छः भेद, यथा—

नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, अध्यात्म कर्म, अधिदैव कर्म और अधिभूत कर्म। जिन कर्मोंके न करनेसे पाप होता हो और करनेसे विशेष फल न मिलता हो उनको नित्य कर्म कहते है, यथा-त्रिकाल सन्ध्या पञ्चमहायज्ञादि। इसका उद्देश्य यह है कि प्राक्तन कर्मानुसार मनुष्य प्रकृतिकी जिस कलापर प्रतिष्ठित है उसीमें स्थिर रहनेके लिये ये सब कर्म किये जाते है इसलिये इनके करनेसे पुण्य नही है किन्तु न करनेसे पाप है क्योंकि न करनेसे मनुष्य उस अधिकारपर प्रतिष्ठित नही रह सकता है। इस विज्ञानके अनुसार अपने अपने वर्ण और आश्रम या अपने अपने जीवनमें जो कर्त्तव्य कर्म है वे सभी नित्य कर्मके अन्तर्गत होंगे। ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणवृत्ति, क्षत्रियोंकी क्षात्रवृत्ति, वैश्योंकी वैश्यवृत्ति और शूद्रोंकी शूद्रवृत्ति इत्यादि सभी नित्यकर्म है।

जिन कर्मोंके करनेसे फलकी प्राप्ति होती है और न करनेसे पाप नही होता है उनको नैमित्तिक कर्म कहते हैं, यथा-तीर्थ दर्शनादि। तीर्थोंमे दैवी शक्तिकी स्थिति तथा महात्माओंका स्थान होनेसे तीर्थसेवा द्वारा पुण्य होता है, किन्तु सेवा न करनेसे पाप नही होता है। इसी तरहसे गृहस्थोंके लिये साधुका दर्शन, देवस्थान दर्शन, धर्माचार्योंका सत्सङ्ग करके सत् शिक्षा लाभ आदि कर्म भी नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत है जिनके न करनेसे पाप तो नही होता है परन्तु करनेसे विशेष पुण्य लाभ होता है।

जो कर्म किसी विशेष कामनाको पूरी करनेके लिये किये जाते है वे काम्य कर्म कहाते है, यथा-पुत्रेष्टियाग, अश्वमेधयाग आदि। काम्यकर्मके मूलमें स्वार्थ रहता है और यह भी बात विचार करने योग्य है कि एक ही कार्य भावके भेद होनेसे कहा नैमित्तिक कर्म भी कहलाता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य केवल तीर्थ दर्शनके ही लक्ष्यसे तीर्थयात्रा करे तो उसकी तीर्थयात्रा नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत होगी, परन्तु यदि वह मनुष्य इस प्रकार यात्रा न करके किसी विशेष कामनाकी सिद्धिके लिये तीर्थ यात्रा करे तो वह यात्रा काम्यकर्म हो जायगी। तात्पर्य यह है कि नैमित्तिक कर्मके मूलमें केवल चित्तका साधारण धर्मभाव रहता है, परन्तु काम्य कर्मके मूलमें विशेष कामना रह सकती है।

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने गीतामें कर्मकी गतिको गहना कहकर कर्म रहस्यका अच्छी तरहसे वर्णन किया है। केवल भावमात्रके प्रभेद होनेसे ही कर्मकी शक्तिमें तारतम्य बहुत कुछ हो जाया करता है। इसलिये कर्मोका सूक्ष्म विचार करते हुए महर्षियोंने कामनाके तारतम्यानुसार कर्माकी शक्तिके तारतम्य होनेसे उनको आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिकरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया है। मनुष्योंकी कामना आत्माकी उन्नतिके साथ साथ बहुत कुछ उदारताको प्राप्त हो जाती है और तदनुसार कर्मके भी भावमें परिवर्तन हो जाता है।

साधारणत अधिभूत कर्म उसे कहते हैं कि जिसमें दूसरे भूतोंके द्वारा कामनाकी सिद्धि और फलकी प्राप्ति हो, यथा-ब्राह्मणभोजनादि कर्म। ब्राह्मण भोजनमें सद्ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे उनके आशीर्वाद तथा मानसिक शक्ति आदिके द्वारा बहुत कुछ फलकी प्राप्ति हो सकती है इसलिये ब्राह्मणभोजन साधुभोजन आदि कर्म अधिभूत कर्मके अन्तर्गत हैं। इस कामनाको बढ़ाकर जब मनुष्य संसारकी सुखकामनाके साथ अपनी सुखकामनाको मिलाता है तब लोकोपकारक सकल स्थूल कर्म ही अधिभौतिक कर्म में परिगणित होते हैं। दरिद्रोंको भोजन देना, अनाथालय आदि स्थापन करना, दातव्य चिकित्सालय आदिके द्वारा जीवोंका कल्याण करना आदि देशहितकर सभी कार्य इस विज्ञानके अनुसार अधिभौतिक कर्म है।

आधिदैविक कर्म उसे कहते हैं कि जिस कर्मके द्वारा दैवी शक्तिको अनुकूल करके फल प्राप्त किया जाता है। यह बात शास्त्रसिद्ध है कि कर्म नष्ट न होनेपर भी प्रबल कर्मके द्वारा दुर्बल कर्म दब जाते हैं। इसलिये यदि कोई मनुष्य दैवीशक्तिको प्रसन्न करके उससे उत्पन्न प्रबल संस्कारके द्वारा अपने विपरीत संस्कारको हटा देवे तो वह कर्म आधिदैविक कहावेगा। दुष्ट प्राक्तन कर्मोंके फलसे जब जीव दुःख पाता है, तो याग यज्ञादि आधिदैविक कर्मोके द्वारा पुण्यमय संस्कारका उदय करनेपर जीवका वह दुःख दूर हो सकता है। इसी व्यक्तिगत कामनाको उदार करता हुआ मनुष्य समस्त देशके लिये भी आधिदैविक कर्मोका अनुष्ठान कर सकता है, यथा—ग्राम, नगर अथवा देशके लिये यज्ञानुष्ठान, ग्रामदेवता आदिकी प्रतिष्ठा ये सभी आधिदैविक कर्म हैं। देशमें महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदिको दूर करनेके लिये भी इस प्रकारसे दैवयज्ञादिरूप आधिदैविक कर्मोके अनुष्ठान हो सकते हैं।

आध्यात्मिक कर्ममें बुद्धिका प्राधान्य रहता है इसी विचारसे स्वधर्म और स्वदेशोपकारक कर्म तथा ज्ञानविस्तारकारी कर्मोंको आध्यात्मिक कर्म कह सकते हैं। जीवप्रकृतिपर लक्ष्य करनेसे निश्चय होता है कि जीव अपने व्यक्तिगत अहङ्कारको जितना ही घटाता है उतना ही विश्वजीवनके साथ उसके जीवनकी एकता होती जाती है। उस समय उसकी रुचि क्षुद्र विषय या इन्द्रियोंकी ओर नहीं रहती है परन्तु संसारके सुखके लिये कष्ट होनेपर भी वह उसे परम सुख समझकर आनन्दसे सहन करता है। उस समय उसकी सत्ता बहुत उदार हो जानेसे स्वार्थ बुद्धि नष्ट होकर उसमें परार्थ बुद्धिका विकाश होता है और इस दशामें उससे देश और धर्मके लिये जो कुछ कार्य्य होता है सो सभी आध्यात्मिक कर्म कहाते हैं। इस प्रकारसे देश और जातिके साथ अपने जीवनकी एकता करते करते अन्तमें समस्त संसारको भगवान्का रूप समझकर वे महात्मा "वसुधैव कुटुम्बकं" भावको प्राप्त होते हैं। यही जीवन ऋषियोंका था इसलिये उनकी विभूति परोपकारके लिये ही हुआ करती थी, उनकी चिन्ता परोपकारमें ही लगा रहती थी, उनकी ज्ञानशक्ति समस्त संसारके अज्ञानान्धकारको नष्ट करती थी। उन्हींकी कृपा है कि आज भारत निर्धन होनेपर भी ज्ञान धनमें धनी तथा जगत्पूज्य है। इस प्रकारसे देश जाति और संसारके कल्याण साधनके लिये तथा ज्ञानज्योतिके विस्तारके लिये ऋषिगण जो कुछ ज्ञान विस्तार, पुस्तक निर्माण, उपदेशदान आदि समष्टि जीवकल्याणकारी कर्मको करते थे वे सभी आध्यात्मिक कर्म हैं। इस प्रकारसे कर्मयज्ञके छः अङ्ग हैं और प्रत्येक अङ्ग ही त्रिगुणानुसार त्रिविध होनेसे कर्मयज्ञके अठारह अङ्ग हुए।

परमात्माके सान्निध्यलाभके लिये शास्त्रोंमें जो जो उपाय बताये गये हैं उनका नाम उपासना है। उपासनायज्ञके अनेक भेद हैं और यह अङ्ग बहुत विस्तृत है। इसके मुख्यतः नौ भेद हैं, यथा—उपासना पद्धतिके अनुसार पांच भेद–निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि देवता पितर उपासना और भूत प्रेतोपासना। साधन पद्धतिके अनुसार उपासनाके ४ भेद हैं, यथा—मन्त्रयोगविधि जिसमें स्थूल मूर्त्तिका ध्यान है, हठयोग विधि जिसमें ज्योतिका ध्यान है, लययोगविधि जिसमें सूक्ष्म बिन्दुका ध्यान है और राजयोगविधि जिसमें निर्गुण निराकार ब्रह्मका ध्यान है।

उपासनायज्ञके इन नौ अङ्गोंके सत्त्व रज और तमोगुणके अनुसार तीन तीन भेद हैं। इस प्रकारसे उपासना यज्ञके सत्ताईस भेद हुए। इन सबोंके विस्तारित वर्णन आगे किये जायंगे।

यज्ञके तृतीय अङ्गरूप ज्ञानयज्ञके भी तीन अङ्ग होते हैं, यथा—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रीगुरुमुखसे तत्त्वज्ञानप्रद वाक्योंके सुननेका नाम श्रवण है। सुने हुए विषयोंपर चिंतन तथा विचार करनेका नाम मनन है और मनन किये हुए पदार्थकी उपलब्धिका नाम निदिध्यासन है। इन तीनों अङ्गोंके ठीक ठीक अनुष्ठान द्वारा मुमुक्षुको स्वरूपकी प्राप्ति होती है। ज्ञानयज्ञके इन तीनों अङ्गोंके सत्त्व रज और तमोगुणके अनुसार तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकारसे ज्ञानयज्ञके नौ भेद हुए।

सनातनधर्मके इन अङ्ग तथा उपाङ्गोंमेंसे किसीका भी पूर्णरूपसे सात्त्विक रीतिसे अनुष्ठान करनेपर जीव मुक्ति पदतक पहुँच सकता है, क्योंकि अग्निमें जो दहन शक्ति है वह उसके एक सामान्य स्फुलिङ्गमें भी पूर्णरूपसे विद्यमान है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञानयोग आदिके अवलम्बनसे बौद्धधर्म जगत्में मान्य हो गया है। वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका केवल कर्त्तव्यप्रियता, देशसेवा तथा उसके लिये स्वार्थत्याग, सत्यप्रियता, गुणपूजा, ज्ञानार्जनस्पृहा, नियमपालन, नियमबद्ध व्यवस्था आदि थोडी ही धर्मवृत्तियोंके साधनसे आज दिन जगत्में प्रतिष्ठित हो रहा है। जापानमें इन सब गुणोंके अतिरिक्त वृद्ध सेवा, पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य और क्षात्रधर्म आदि कतिपय धर्मवृत्तियोंकी और भी अधिक उन्नति हो जानेसे वह क्षुद्र देश यूरोप और अमेरिकाके दाम्भिक अधिवासियोंके द्वारा भी सम्मानित हो रहा है। जिन जिन वृत्तियों का नाम लिखा गया, सनातनधर्मके अङ्गोंके साथ मिलानेपर यही निश्चय होगा कि वे सब उसके उपाङ्ग ही हैं। यथा-सत्यप्रियता मानसिक तपका उपाङ्ग और स्वार्थत्याग अवस्था भेदसे तप तथा दानका उपाङ्ग हुआ करता है। इस प्रकारसे पितृपूजा उपासना यज्ञका उपाङ्ग और क्षात्रधर्म कर्मयज्ञका उपाङ्ग है। इसी तरहसे एक धर्माङ्गके बहु उपाङ्ग हो सकते हैं। सनातन धर्मके अङ्गों और उपाङ्गोंके विस्तार पर जब विज्ञानवित् पुरुषगण ध्यान देते हैं तो उनको प्रमाणित होता है कि सनातनधर्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे पृथिवी भरके सब उपधर्म, पन्थ और सम्प्रदायोंको धर्मसाधनोंकी सहायता प्राप्त हुई है। इसी मूल धर्मके आधार पर शाखा प्रशाखा या उसकी

छायारूपसे संसारके सभी 'मजहब' बने है। जङ्गली कोल भील आदि जातियोंकी भूतप्रेत उपासना भी इसके भीतर है, जापानियोंकी पितृ पूजा भी इसी धर्मके भीतर है, प्राचीन रोमन कैथोलिककी Angel उपासनारूपसे देवोपासना तथा पारसियोंके Zoroastrian धर्मान्तर्गत समुद्र अग्नि आदि विभूति उपासनारूपसे देवोपासना भी इसीके भीतर है। महम्मदीय और ईसामसीय भक्ति भावप्रधान उपासना भी इसीकी छायासे बनी हुई है। Herbert Spencer आदि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी सर्वव्यापी शक्तिपूजा भी इसीके भीतर है। बौद्धों तथा जैनोंकी बुद्धदेवपूजा, ऋषभदेवपूजा आदि तथा तीर्थङ्करपूजा अवतारोपासनारूपसे इसीके भीतर है, शाक्त, शैव, वैष्णव आदि साम्प्रदायिक जनोंकी पञ्चदेवोपासना भी इसीके भीतर है, सिख आदि नानकपंथियोंकी गुरुपूजा भी विभूतिपूजा तथा अवतारोपासनारूपसे इसीके भीतर है और राजयोगपरायण वैराग्यवान् साधककी निर्गुण निराकार अन्तिम ब्रह्मपूजा भी इसीके भीतर है। अतः जब सभी 'मजहब, इसीके भीतर आये तो सनातनधर्मको छोड़कर अन्य मजहबोंमें फसना और फसकर सनातनधर्मकी ही निन्दा करना नीरे अज्ञानमात्र है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। मनुष्य इसी मूलधर्मकी शरणमें रहकर अपने अपने अधिकारके अनुसार सभी प्रकार उन्नति इसीके द्वारा कर सकता है। पूर्ण भवरोगवैद्य महर्षियोंने इस धर्मके भीतर किसी भी रोगका इलाज बाकी नहीं छोड़ा है। केवल उनपर विश्वास रखनेसे सभी अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकते हैं।

धर्मविज्ञान तथा धर्माङ्गोंके विषयमें वर्णन करके अब धर्मकी आवश्यकताके विषयमें कुछ बताया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मणमें इस विषयमें एक सुन्दर मन्त्र मिलता है, यथा—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्।
तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः
सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति
स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश
आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वदेवा मरुत इति। स
नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं
पुष्यति यदिदं किञ्च। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं

तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैव यो वै स धर्मः।"

प्रथम सृष्टिके समय सब ब्राह्मण था, अन्य वर्ण नहीं थे। उससे काम नहीं चला। इसलिये परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय-वर्णकी उत्पत्ति की, जो पृथिवीमें क्षत्रिय नामसे कहे गये और दैवजगत्में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र पर्जन्य, यम, मृत्यु, और ईशान इत्यादि नामसे अभिहित हुए। फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णसे भी काम पूरा न चला, क्योंकि, रक्षार्थ अर्थोपार्जनकी आवश्यकता हुई। इसलिये परमात्माने वैश्य-वर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्य लोकमें वैश्य कहलाते हैं वही और दैवजगत्में 'गण' नाम प्राप्त करते हैं। देवताओंमें वे ऐसे यथा--अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास मरुत्गण। तदनन्तर उससे भी सब काम नहीं चला। तब सेवाके लिये परमात्माने शूद्रवर्णकी उत्पत्ति की, दैवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णके अन्तर्गत है और मनुष्यलोकमें शूद्रजाति है। इस प्रकारसे चार वर्णोंकी सृष्टि करनेपर भी व्यवस्था नहीं चली। यथेष्ट वृत्ति सबमें बनी रही, कोई किसीका सञ्चालक नहीं रहा। क्षत्रिय प्रबल होकर दुर्बल अन्य जातिको पीडित करने लगे। अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा। तब परमात्माने चार वर्णोंके ही सञ्चालक रूपसे धर्मरूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति की, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण ठीक ठीक अपना अपना कर्म करने लगे और संसारकी सब व्यवस्था ठीक ठीक हो गई। इस प्रकारसे श्रुतिने विश्वके चालकरूपसे धर्मकी ही महिमा वर्णित की है। धर्मके विषयमें पहले ही कहा गया है कि धर्मके द्वारा ही जडचेतनात्मक ब्रह्माण्डकी रक्षा होती है।

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः"
"धर्मेणैव जगत् सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः"

इत्यादि धर्मकी विश्वरक्षिणी शक्तिके विषयमें अनेक प्रमाण पहले ही दिये गये हैं। ब्रह्माण्डकी स्थिति दशामें धर्मकी यह महती शक्ति समस्त विश्वके सब विभागोंमें व्याप्त होकर सभीकी रक्षा किया करती है।

सकल उन्नतिके ही मूलमें धर्मोन्नति है। बिना धर्मोन्नतिके पूर्ण सम्पादन किये न शारीरिक उन्नति हो सकती है, न मानसिक उन्नति हो सकती है

और न बुद्धिकी ही उन्नति हो सकती है। मनुष्यप्रकृतिमें देवभावसे असुर भाव अधिक बलवान होनेके कारण मनुष्यका शरीर, मनुष्यकी इन्द्रियां, मन या बुद्धि सदा पापकी ओर ही जानेको उद्यत रहती है। केवल धर्म्म ही मनुष्यके भीतर कर्त्तव्यनिष्ठता, संयमका सुफल, इन्द्रियपरताका कुपरिणाम, विषयसुखकी तुच्छता तथा पापमय जीवनसे परलोकमें दुःख आदि दूरदर्शिता पूर्ण दैवभावोंको उत्पन्न करके जीवचित्तमें असुर भावको नियमित रूपसे दबाये रहता है जिससे शारीरिक, मानसिक तथा बुद्धिसम्बन्धीय सभी उन्नति मनुष्योंके लिये सुसाध्य हो जाती है। मनुष्य शारीरिक व्यायाम चाहे कितना ही क्यों न करे यदि तपोमूलक इन्द्रियनिग्रह न हो, शरीरको इन्द्रियोंके दास बननेसे रोक न सके, तो यथार्थमें शारीरिक उन्नति मनुष्योंकी कदापि न होगी। उसी प्रकार मनका निग्रह भी धर्मके बिना कदापि नहीं हो सकता। धर्म ही मनुष्यको सुकर्म कुकर्मका परिणाम दिखाता है और बताता है कि पुण्यपरिपाकसे स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकार अलौकिक दिव्यसुख प्राप्त होता है और पापके फलसे प्रेतशरीरप्राप्ति तथा नरकादि लोकोंमें किस प्रकार भीषण दुःख भोगना पड़ता है। धर्म ही मनुष्यको बताता है कि उत्तम, मध्यम, अधम प्रत्येक क्रियाकी किस किस प्रकार प्रतिक्रिया हुआ करती है, किस प्रकारसे सत्पात्रमें धनदान करनेपर मनुष्य आगामी जन्ममें प्रचुर धनलाभ करता है और धनका अपव्यवहार, असदुपायसे धनार्जन या यक्षकी तरह धन सञ्चय करनेपर आगामी जन्ममें महा दरिद्र हो जाता है किस प्रकारसे प्राणियोंकी वृथा हिंसा करनेपर अल्पायु तथा रोगी होता है और भूतदयाके द्वारा दीर्घायुलाभ तथा पुण्य सञ्चय कर सकता है; किस प्रकारसे चक्षुरादि इन्द्रियोंका शास्त्रानुकूल उपयोग करनेपर दिव्यचक्षुलाभ, मानसिकशक्तिलाभ आदि कर सकता है और दुरुपयोगसे मानसिकशक्तिहीनता, दृष्टिशक्तिहीनता, बधिरता आदि अवश्य प्राप्त होती है, किस प्रकारसे तपस्या द्वारा अपूर्वशक्ति लाभ तथा असंयम द्वारा सकल प्रकारकी हानि होती है इत्यादि इत्यादि विचारोंके द्वारा यही स्पष्ट होता है कि बिना धर्मोन्नतिके कोई भी उन्नति चिरकालस्थायी तथा यथार्थमें उन्नतिपदवाच्य नहीं हो सकती है। इसी प्रकार बुद्ध्युन्नतिके मूलमें भी धर्मोन्नति गूढ़रूपसे निहित है। मनुष्य धर्म संस्रवके बिना भी केवल लौकिक चातुरीके द्वारा लौकिक जगत्में थोड़े दिनके लिये चमत्कार दिखा सकता है किन्तु इस प्रकार चमत्कार भावी घोर

अ धकारका ही सूचक है इसमें अणुमात्र स देह नहीं है, क्योंकि धर्महीन बुद्धि कौशल कवल दूसरेको प्रतारित करके लौकिक अर्थकामसिद्धिमें ही समाप्तिको प्राप्त हो जाता है। उसमें उसल बुद्धिमान वही कहलाता है जिसने नरहत्या, परधनलुण्ठन या परपीड़नके लिये जितना सीधा तथा सहजसाध्य उपाय निकाला हो। कुछ दिनसे पश्चिम देशमें भी इस प्रकार धर्महीन लौकिक राजनीति आदि सम्बधीय बुद्धिचातुरी चली हुई है और उसका अवश्य म्भावी परिणाम अशान्ति, नरहत्या, दु खदारिद्र्य, राजनैतिक विप्लव तथा जातीय महासङ्ग्राम प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः सिद्ध हुआ कि धर्मके मूलमें न रहनेस इहलोकप्रसाधिनी बुद्धि अपूर्ण, अनर्थकर तथा अशान्ति प्रसविनी ही होती है और परलोकप्रसाधिनी बुद्धिके विषयमें तो कहना ही क्या है! इस बुद्धिका विकाश तो धर्मबुद्धिके बिना कदापि हो नहीं सकता है, क्योंकि धर्मके बिना न परलोकमें ही विश्वास होता है और न आत्माके अस्तित्वमें ही विश्वास होता है और जहा विश्वास नहीं है वहाँ सिद्धि भी कदापि नहीं हो सकती है।

आर्यशास्त्रमें मनुष्य जीवनके समस्त पुरुषार्थके चार लक्ष्य बताये गये हैं, यथा–काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न होकर जो कुछ करता है सभीका लक्ष्य इन चारोंमेंसे कोई न कोई होता है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें साधकोंके सभी अधिकारानुसार ये ही चार लक्ष्य बताये गये हैं। कोई साधक धर्मलक्ष्य करके भगवान्‌की उपासना करता है, कोई अर्थ प्राप्तिके लिये उनकी पूजा करता है, कोई कामना सिद्धिके लिये भगवद्भक्त बनता है और कोई मोक्ष प्राप्तिके अर्थ परमात्माकी आराधनामें रत रहता है। भगवान् अपने चारों हाथोंसे अधिकारानुसार अपने आर्त्त, अर्थार्थी आदि सभी प्रकार भक्तोंको चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। धर्म अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चतुर्वर्ग प्रदानके लिये ही उनके चार हाथ हैं। उनका चक्रयुक्तहस्त धर्मका देनेवाला है, शङ्खयुक्तहस्त मोक्ष प्रदाता है, गदायुक्तहस्त अर्थको देता है और सकमलहस्त कामद है। इसी प्रकार शिवरूपमें भी 'परशुमृगवराभीति' हस्तोंसे भगवान् चतुर्वर्ग ही देते हैं। परशुधारीहस्त अर्थप्रद है, मृगयुक्तहस्त काम प्रदाता है, वर मुद्रायुक्तहस्त वरणीय धर्मका देनेवाला है और अभयमुद्रायुक्त हस्तसे भवभयनाशकारी मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि जगत्‌में चतुर्वर्ग ही सकल जीवोंके सकल पुरुषार्थका लक्ष्य होता है। कर्म तथा

अधिकारके तारतम्यानुसार लक्ष्यमें भी तारतम्य होता है। इसी कारण कोई व्यक्ति या जाति अर्थ या कामको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है और कोई व्यक्ति या जाति धर्म मोक्षको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है। उपनिषद्में लिखा है "यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति" अर्थात् सुखहीको लक्ष्य करके जीवका सकल चेष्टा होती है। दुःखके लिये किसीकी भी कोई चेष्टा नहीं होती है। अत धर्मार्थकाममोक्षमेंसे किसी वर्गमें भी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है। अर्थकामलक्ष्यपरायण जाति अर्थ काममें ही परम सुख मानकर उसीके लिये पुरुषार्थ करती है। धर्ममोक्षलक्ष्य परायण जाति धर्म मोक्षमें ही आत्यन्तिक सुख जानकर उसीके लिये पुरुषार्थमें प्रवृत्त हो जाती है। लक्ष्य सुखलाभ करना सभीका है केवल अधिकार तथा विचार तारतम्यानुसार ही पुरुषार्थ प्रवृत्तिमें तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

पूज्यपाद दूरदर्शी प्राचीन आर्य्यमहर्षियोंने अनेक विचार करके अर्थ कामकी अपेक्षा धर्ममोक्षको ही श्रेष्ठतर लक्ष्यरूपसे निर्णय किया है और इसी लिये आर्य्यजातिके आत्यन्तिक सुख साधन तथा जातीय लक्ष्यरूपसे धर्ममोक्षको ही बताया है। उन्होंने अर्थकामके प्रति आर्य्यजातिको उपेक्षा करनेका उपदेश नहीं दिया है, सो पूर्वकथित उपासना विज्ञानसे बुद्धिमान व्यक्ति स्पष्ट ही समझ सकते हैं। वेदके संहिता तथा ब्राह्मणभागमें अर्थकामप्रधान प्रवृत्ति मार्गका ही इसलिये वर्णन है। महर्षियोंने केवल अर्थकामके लिये ही अर्थ कामकी सेवा न करके धर्मानुकूल अर्थकामकी सेवा करनेको कहा है ताकि धर्मरहित अर्थकामका जो दुःखमय परिणाम है सो जावको प्राप्त न होकर धर्मानुकूल अर्थकामके द्वारा अन्तमें आनन्दमय मोक्षपदमें जीवकी प्रतिष्ठा हो। यही उनके इस प्रकार उपदेश करनेका तात्पर्य है और यह तात्पर्य कितना गम्भीर, दूरदर्शिता तथा सत्यदर्शितासे पूर्ण है सो अर्थकामलक्ष्यके विषयमें धीर होकर थोड़ा विचार करनेसे ही पता लग जायगा। अर्थकाम जीवके चित्तमें विषयवासनाको उत्पन्न करता है। जीव अर्थकामका दास होकर इन्द्रियसुखके लिये उन्मत्त हो जाता है। विषयवासनाका स्वरूप यह है कि—

न जातु काम॰ कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

(मनुसंहिता २ अ०)

विषयभोगके द्वारा विषयवासना निवृत्त नहीं होती है, किंतु घृतपुष्ट अग्निकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है। इसलिये जिस जातिमें अर्थकाम ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम लक्ष्य नहीं है वह जाति वासनाका दास बनकर उसीकी तृप्तिके लिये संसारमें किसी प्रकारके अधर्माचरणमें भी संकोच नहीं करती है। काञ्चनमें आसक्त जीव मिथ्या, प्रतारणा, चोरी, कपट व्यवहार, दूसरेको ठगना, नरहत्या आदि सभी पापकर्मके द्वारा अर्थ संग्रहमें रात दिन व्यग्र रहता है। काममें आसक्त जीव उससे भी अधिक पशुभावको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि एक तो कामसेवाके द्वारा कामाग्नि बढ़ती ही रहती है, दूसरा कामसुख मनका अभिमानमात्र होनेसे नवीन भोग्यवस्तुमें कामुक स्त्रीपुरुषको अधिक सुखकी प्रतीति हुआ करती है। इसलिये जिस जातिमें धर्महीन काम ही लक्ष्य है वहांके स्त्रीपुरुषोंमें व्यभिचारका विस्तार होना स्वतः सिद्ध है। इसीसे विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं कि धर्महीन अर्थकामपरायण जातिकी अन्तिम दशा क्या होगी। अर्थलोलुप बनकर सम्पत्ति संग्रहके लिये दूसरोंकी सम्पत्ति तथा दूसरोंका धन उन्हें ठगकर या उनसे लड़कर लेनेकी स्वभावतः ही इच्छा होगी। कामका दास बनकर परस्त्रीके छीननेकी या दूसरेको वञ्चना करके लेनेकी स्वतः ही इच्छा होगी। फल यह होगा कि अर्थकामपरायण जातिके भीतर अन्तर्विवाद, परस्परमें कलह, प्रतारणा और संग्राम सदा ही बना रहेगा और यह दोष जब समस्त जातिके भीतर फैल जायगा तो ऐसी जाति दूसरी जातिका सम्पत्ति हरण अथवा बलात्कारसे युद्धादि द्वारा सम्पत्ति आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगी। इसीसे जातीय संग्राम या जातीय महासमर भीषणरूपसे प्रवृत्त होकर जातीय शान्ति, जातीय प्रेम सभीको ग्रास कर लेगा। यूरोपका महासमर इसी धर्महीन अर्थकाम परताका ही विषमय परिणामस्वरूप था और जबतक समस्त संसारमें धर्ममूलक अर्थकामसंग्रहकी प्रवृत्ति नहीं होगी तबतक बीच बीचमें इस प्रकारका संग्राम सर्वथा अपरिहार्य है। ✓ कुरुक्षेत्रका महासमर जिसके तीव्र अनलमें चिरकालके लिये भारतीय वीरता भस्मीभूत हो गई है, वह भी कौरवोंकी धर्महीन अर्थकामपरायणताका ही चरम परिणाम था। अर्थकाम तथा राजसिक शक्तिके मदमें उन्मत्त होकर दुर्योधनने जब धर्मकी कुछ भी परवाह नहीं की और कपटता, प्रवञ्चना तथा घोर अधर्मका आश्रय लेकर धार्मिक पाण्डवोंको अनन्त दुःख दिया तभी कुरुक्षेत्रका महासमर प्रारम्भ हुआ था।

इसी प्रकारसे जगत् प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जातिका भी विनाश धर्महीन अर्थ काम सेवाके द्वारा हुआ था। यूरोपके नाना देशोंपर अधिकार विस्तार करके सम्पत्ति तथा प्रभुताके मदमें अत्यन्त उन्मत्त होकर रोमनजातिमें विषय लालसा बहुत बढ़ गई थी। अति घृणितरूपसे कामसेवा, व्यभिचार, पशु तकके साथ अप्राकृतिक इन्द्रिय संसर्ग ये सब उनके सामाजिक आचारमें परिगणित तथा निर्दोष आनन्दके उपादान माने जाने लग गये थे। प्रकाश्य थियेटर आदिमें स्त्रीपुरुष मिलकर इन सब वीभत्स नारकीय दृश्योंको करने और देखने लग गये थे। तभी पापके गुरुभारसे वसुधरा काप उठी था और भीषण भूकम्पके द्वारा इटाली देशका अनेक अंश विध्वस्त हो गया था। और पश्चात् इसी अर्थकाममूलक महापापके फलसे रोमन जाति स्वाधीनता च्युत, विदेशीय जातिके द्वारा विदलित और नष्ट भ्रष्ट हो गई थी। यही सब धर्महीन अर्थकामपरायणताका अवश्यम्भावी कुपरिणाम है। इसी कारण दूरदर्शी प्राचीन महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको लक्ष्य न बताकर आत्माको लक्ष्य बनाया है और धर्मानुकूल अर्थकाम सेवा द्वारा अन्तमें मोक्षपदवीपर प्रतिष्ठा हो उसी आत्माराम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये उपदेश किया है।

पहले ही कहा गया है कि "सुखार्थाः खलु भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः" अर्थात् जीवकी यावतीय चेष्टा सुखलाभके लिये ही होती है। इस कारण अदूरदर्शी जीव अर्थकामकी भी सेवा सुखलालसासे ही करता है। किन्तु ऊपर लिखित वर्णनासे स्पष्ट होगा कि अर्थकाम जीवको वास्तवमें सुख न देकर अन्तमें घोर दुःखानलमें ही दग्ध करता है। शास्त्रमें त्रिगुणभेदसे जो तीन प्रकारके सुख बताये गये हैं उनमें अर्थकामजन्य सुख राजसिक तामसिक है। राजसिक सुखका लक्षण यह है कि—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे राजसिक सुख उत्पन्न होता है, वह प्रथमतः अमृतकी तरह होनेपर भी परिणाममें विषवत् दुःखदायी तथा प्राण घातक है। पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोंमें भलीभांति इस बातको सिद्ध कर दिखाया है कि मोक्षकी तो बात ही नहीं है, धर्मको अपने सम्मुख न रखकर

केवल अर्थ और कामके लिये जो अर्थ कामका संग्रह जीव करता है उससे उपस्थित राजसिक और तामसिक सुख कुछ होनेपर भी अन्तमें वह व्यक्ति अवश्य ही घोर नरकका अधिकारी होता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। विषय सुखमें दुःख क्या है इस विषयमें भगवान पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"

विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेक प्रकारके दुःख होनेसे विवेकी पुरुषके निकट विषयसुख दुःखरूप है। चित्तकी शांति ही सुखका कारण है, किन्तु विषयसेवा द्वारा विषयस्पृहा पुनः पुनः बलवती होकर चित्तको कदापि शान्त होने नहीं देती है इसलिये भोगकालमें भी भोगी का चित्त भोगलुब्ध तथा चञ्चल होकर दुःखी ही रहता है। मन चञ्चल रहता है किन्तु इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर काम नहीं देती हैं, भोगान्तमें प्रतिक्रिया द्वारा समस्त शरीर तथा मन अवसन्न क्लान्त, मृतवत् होकर अगाध ग्लानि तथा अनुतापके समुद्रमें डूब जाता है, वासनाकी शान्ति नहीं, किन्तु उसकी तृप्तिके पहले ही शरीर भोगपरिणाममें अवश्यम्भावी अति कठिन रोगोंके द्वारा ग्रस्त हो जाता है, जिससे अकाल मृत्यु, अति कष्टप्रद मृत्यु आदि सभी दुःख जीवको प्राप्त होते हैं—येही सब विषयसुखके साथ अवश्य भोक्तव्य परिणामदुःख है। भोगदशामें समभोगी या अधिकभोगीको देखकर ईर्षादिद्वारा महान् तापदुःख भोगीको प्राप्त होता है। और अन्तमें भोगमें असक्त वृद्धावस्थामें भोग्यवस्तुओंका स्मरण करके संस्कारदुःख होता है। इस प्रकारसे विषयसुखके साथ परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःखका नित्य सम्बन्ध होनेसे विचारवान् पुरुषगण विषयसुखको दुःखरूप ही समझते हैं। जब राजसिक विषयसुखके साथ ही इतना है तो उसके तामसिक हो जानेपर प्रमाद, मोह आदि द्वारा विषयसुख कितना दुःखप्रद होगा इसका वर्णन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः केवल इहजन्ममें ही विषयसुखसहचर दुःखकी समाप्ति नहीं होती है। उसका संस्कार कर्माशयमें एकत्रित होकर मृत्युके समय, मृत्युके अनन्तर प्रेतादियोनि, तथा नरकादिमें पुनः पुनः जन्म मरणमें जीवके लिये अशेष दुःखका कारण बनता है। आजीवन सेवित विषयको जीव मृत्युके समय छोड़ नहीं सकता है, किन्तु भोगसे तृप्ति होनेके पहिले ही काल जीवनतरुका छेदन कर देता है, अतृप्त विषयी अत्यन्त दुःखके साथ संसारको छोड़कर परलोकमें जाता है,

विषयके उन्मादमें अनुष्ठित अधर्माचरणोंको स्मरण करके अनुतापके अनलमें दग्ध होने लगता है, वासनाके केन्द्र स्त्री पुत्रपरिवारोंको सामने विलाप करते हुए देखकर उसका प्राण फटता है और इस प्रकारसे विषयमुग्ध होकर मरनेसे निश्चय ही जीवको मरणानन्तर प्रेतयोनि प्राप्त होती है। प्रेतयोनिमें वासना विदग्ध जीवको दारुणदुःख भोगना पड़ता है, उसको क्षणभरके लिये भी उस योनिमें शान्ति नहीं मिलती है, वासना हृदयमें बलवती रहनेपर भी उसके भोगनेमें असमर्थताके कारण प्रेतके हृदयमें अशान्तिकी अग्नि सदा ही जलती रहती है, इत्यादि इत्यादि अनेक दुःख भोगके बाद अर्थकामपरायण जीवको पूर्व असत्कर्मानुसार नरकलोकमें भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन आदि नरकोंका दुःख शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। उनमें भीषण कष्ट पानेके बाद पुनः मातृगर्भमें प्रविष्ट होकर दस महीने तक जीवको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। तदनन्तर गर्भसे निकलनेके समय अनेक कष्ट पाकर पूर्व मन्दकर्मानुसार हीन योनियोंमें जीवका जन्म होता है। अन्यायरूपसे अर्थोपार्जनकारी दरिद्रके घरमें उत्पन्न होकर आजीवन दुःख पाते हैं। कामपरायण पापी कामसम्बन्धीय अनेक कष्टोंको झेलते हैं। इसी प्रकारसे अर्थकामवासना द्वारा नवीन नवीन संस्कार उत्पन्न होकर जीवको घटीयन्त्रकी तरह जन्म-मरण चक्रमें घुमाया करते हैं और सहस्र प्रकारसे जीवहृदयमें अनन्त दुःखके दारुण दाहको बढ़ाया करते हैं। क्षणभङ्गुर अर्थकाममूलक विषयसुखके साथ इतना परिणामादि दुःख सम्बन्ध होनेसे ही दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको जीवनका लक्ष्य न बताकर आत्माको ही जीवनका लक्ष्य बताया है और धर्मके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमें अग्रसर होकर उसी नित्यानन्दमय आत्माकी उपलब्धिको ही आत्यन्तिक लक्ष्य करके वर्णन किया है। यही मनुष्यजीवनमें अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद धर्मकी आवश्यकता है, जिसको धर्मविज्ञान तथा धर्माङ्गोंके साथ अनुभव कर लेनेपर जीव अशेषकल्याणका अधिकारी हो सकता है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे प्रथमकिरणम्।

द्वितीय किरण ।



वर्णधर्म ।

आजकल जन्मानुसार चार वर्णोंके अस्तित्व स्वीकार करनेमें तथा उसीके अनुसार उनके पृथक् पृथक् कर्त्तव्यनिर्देशके विषयमें लोगोंके अनेक मतभेद पाये जाते हैं। बहुत लोगोंकी तो यह सम्मति है कि वर्णभिन्नताको तोड़कर जबतक सब वर्णोंको एक न कर दिया जायगा तबतक हिन्दुजातिकी उन्नति ही नहीं हो सकती है क्योंकि इस प्रकार भेदभावके फलसे ही जातीय एकता नष्ट होनेसे हिन्दुजातिको दुर्दशा प्राप्त हुई है और इस प्रकारसे सभी वर्णके मनुष्योंको इच्छानुसार उन्नति न करने देनेसे जातीय उन्नतिमें बहुत कुछ बाधा हो रही है। अतः उनकी सम्मतिमें वर्णधर्मको नष्ट कर देना ही स्वराज्यप्राप्ति तथा सकल प्रकारकी उन्नतिका निदान है।

आर्य्यजातिका प्राचीन इतिहास तथा हमारे पूर्वपुरुषोंके विचार पर ध्यान देनेसे इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमयुक्त प्रतीत होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीभगवान् रामचन्द्रके राज्यकालमें आर्य्यप्रजाको जिस प्रकार शान्ति थी वैसी शान्ति न कभी भूतकालमें हुई है और न भविष्यत्‌में होनेकी आशा है।

वर्णोंकी सनातन मर्यादा।

तथापि उनके राज्यकालमें वर्णव्यवस्थाका पूरा ही जोर देखनेमें आता है। उन्होंने परशुरामकी उद्दण्डताको देखते हुए भी उनपर शस्त्रप्रहार न करके केवल इतना ही कहा था—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥
(रामायण बालकाण्ड)

आप ब्राह्मण होनेके कारण मेरे पूज्य हैं और गुरु विश्वामित्रके साथ भी आपका सम्बन्ध है, इसलिये मैं क्षत्रिय आपपर प्राणनाशक बाणको निक्षेप नहीं कर सकता। इसके सिवाय यह भी विषय रामायणमें प्रसिद्ध है। यथा—

निष्कृष्य कोषाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः
(रा० उ० स० ७६)

अर्थात् शम्बूक नामक एक शूद्रवर्णके मनुष्यको सशरीर स्वर्ग जानेके लिये तप करते देखकर उन्होंने उसका सिर काट दिया था और वैसा करनेसे ही ब्राह्मणके मृत पुत्रने पुनर्जीवन लाभ किया था, क्योंकि जिस प्रकार तपस्या वह शूद्र कर रहा था युगधर्मके विचारसे त्रेतायुगमें उस प्रकार तपस्यामें शूद्र वर्णका अधिकार नहीं था और इस प्रकार अनधिकार चर्चाके होनेसे ही रामराज्यमें पापका उदय होकर ब्राह्मणकुमारकी अकाल मृत्यु हुई था। अत यह सिद्धान्त हुआ कि राज्यशान्ति तथा उन्नतिके लिये वर्णधर्मका नाश करना निदान नहीं है, बल्कि यत्नके साथ रक्षा करना ही निदान है। द्वितीयत स्वराज्य लाभके विषयमें भी हमारे पूर्वजोंका दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है। हम जिस राज्यके लोभसे वर्णधर्मका नष्ट करना अवश्य कर्त्तव्य समझने लगे हैं, वर्णधर्मके नाशके द्वारा वर्णसङ्कर उत्पन्न होनेकी आशङ्कासे हमारे पूर्वज महावीर अर्जुनने उसी राज्यको परित्याग करके भिक्षा मागना भी पसन्द किया था। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें गाण्डीव त्याग करते समय उन्होंने भगवान् कृष्णचन्द्रको यही बताया था—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातना ।
धर्मे नष्टे कुल कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसङ्कर ॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया ॥

(गी० १म अध्याय)

सग्राममें पुरुषोंके मारे जानेसे कुलक्षय होगा जिससे सनातन कुलधर्म भी नष्ट हो जायगा। कुलधर्मके नाशसे कुलमें पाप छा जायगा। पापके छा जानेसे कुलस्त्रियां पापिनी होकर वर्णसङ्कर सन्तानोंको उत्पन्न करेंगी और इस प्रकारसे वर्णधर्म भ्रष्ट होकर वर्णसङ्कर सृष्टि हो जानेमें कुल, कुलहन्ता सभीको नरक होगा और पितृपुरुषगण पिण्डलोपके कारण पतित हो जायंगे। इस प्रकारसे वर्णधर्मनाशकी आशङ्कासे ही अर्जुनने युद्ध करनेसे इनकार किया था। अतः प्राचीन आर्य्य इतिहासोंपर मनन करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि वर्णधर्मका नाश ही स्वराज्य प्राप्तिका कारण नहीं है।

केवल इतना ही नही, आप्तकाम श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको संसारमें कोई कर्त्तव्य न रहनेपर भी उन्होंने केवल वर्णधर्मकी रक्षाके लिये ही अपने अवतार कालमें अनन्त कर्मानुष्ठान किया था। उन्होंने गीतामें अर्जुनको स्पष्ट ही कहा था—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गी० ३ अध्याय)

संसारमें मेरा कोई भी कर्त्तव्य नहीं है और न कुछ अप्राप्य या अप्राप्त ही है तथापि मैं कर्ममें लगा रहता हूं। इसका कारण यह है कि यदि मैं निरलस हो कार्यमें लगा न रहूं तो संसारके लोग भी मेरा आदर्शानुसरण करके निश्चेष्ट तथा प्रमादी हो जायंगे और इस तरहसे लोगोंके कर्मयोगहीन तथा प्रमादी हो जानेपर संसारमें अनर्थ उत्पन्न होगा, जिससे लोकनाश, वर्णसङ्करप्रजासृष्टि और प्रजानाश होने लगेगा और मैं इस प्रकार पापमय अनर्थोंका निमित्त समझा जाऊँगा। इन सब महान् उपदेशोंसे यही सिद्धान्त निकलता है कि जिस वर्णधर्मकी विशेष स्थितिके लिये भगवान् कृष्णचन्द्र भगवान् रामचन्द्र, महावीर पार्थ आदि पूज्यपुरुषगण सदा सन्नद्ध रहते थे और जिस वर्णधर्मके लिये उन सभोंने अनन्त असुविधाएं भोगी थी, वह वर्णधर्म जातीय उन्नतिका बाधक और उसका विध्वंसन जातीय उन्नतिका साधक कदापि नहीं हो सकता है। अतः वर्त्तमान दूरदर्शिताहीन तरल युक्तियोंसे अधीर न होकर प्राचीन वर्णमर्यादाकी वैज्ञानिकताकी ओर धीर होकर विचार करना ही भावी शुभका सूचक होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। प्राचीन कालमें महर्षिगण तथा महापुरुषगण वर्णधर्मकी मर्यादाको किस प्रकारसे सुरक्षित रखते थे सो प्राचीन इतिहासके पाठ करनेपर सम्यक्‌रूपसे विदित हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण परमात्माके पूर्णावतार थे तथापि उनका स्थूल शरीर क्षत्रियवर्णका होनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय

यज्ञमें उन्होंने निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी सेवा करनेका काम लिया था । महाभारतके प्रजागर पर्वमें वर्णन है कि, जिस समय अन्धराजा धृतराष्ट्रने धार्मिकप्रवर विदुरजीसे समस्त रात्रि नाना शास्त्रके उपदेश लेनेके बाद अन्तमें ब्रह्मज्ञान विषयक प्रश्न करना चाहा तो विदुरजीने यह उत्तर दिया कि,—

"शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे"

मैं शूद्र योनिमें उत्पन्न हुआ हूं इसलिये इससे अधिक कहनेका साहस नहीं करता हूं । ऐसा कहकर महात्मा विदुरजीने धृतराष्ट्रके कल्याणके लिये महर्षि सनत्कुमारको ध्यानयोगसे उनके पास बुला दिया और स्वयं चले गये । इन सब वृत्तान्तोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन महापुरुषोंके हृदयमें वर्णधर्मकी मर्यादा विशेष दृढ़मूल थी और स्थूल शरीरके साथ वर्णधर्मके सम्बन्धको हमारे पूज्यचरण पिता पितामह अवश्य मानते थे और उसीके अनुसार सामाजिक समस्त व्यवस्थाको बांधते थे । अब नीचे वर्णधर्मका वैज्ञानिक रहस्य बताकर विशेषधर्मके इस उत्तम अङ्गका समाधान किया जाता है ।

वर्ण विज्ञान ।

वर्णधर्म किसी मनुष्यका बनाया हुआ धर्म नहीं है; परन्तु प्रकृतिके त्रिगुणानुसार स्वभावसे उत्पन्न स्वाभाविक वस्तु है । प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं । जीव तमोगुणके राज्यमें उत्पन्न होकर रजोगुणके भीतरसे क्रमशः सत्त्वगुणकी ओर चलता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठापर पहुँचकर गुणातीत ब्रह्ममें लीन हो जाता है । यह जो तीन गुणोंके भीतरसे जीवकी उन्नतिका क्रम है इसीको वर्णधर्म कहा गया है। जबतक जीव तमोगुणमें रहता है तबतक शूद्र कहलाता है, जब और कुछ अग्रसर होकर रजोमिश्रित तमोगुणके अधिकारको पाता है तब वैश्य कहलाता है, जब और भी उन्नत होकर रजोमिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको लाभ करता है तब क्षत्रियवर्ण होता है और तदनन्तर रजस्तमोहीन शुद्ध सत्त्वगुणकी जो अवस्था है वही ब्राह्मण वर्ण है । इस प्रकारसे संसारके सर्वत्र तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण स्पष्ट तथा अस्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं । जहां प्रकृतिकी पूर्णता है वहां प्राकृतिक तीन गुणकी भी पूर्णता है, इसलिये वहांपर चार वर्ण स्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं और समाजकी प्रचलित व्यवस्थामें भी उसकी गणना होती है । जहांपर प्रकृतिकी पूर्णता नहीं है, वहां जिस गुणकी या

जिन गुणोंकी प्रधानता है उसी या उ हीके अनुसार वर्णधर्मका अल्प प्रकाश देखनेमें आता है। दृष्टा तरूपसे समझ सकते हैं कि भारतवर्षकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रकृति ही पूर्ण है। स्थूल प्रकृतिकी* पूर्णता होनेसे यहांपर षड्ऋतुओंका पूर्ण विकाश आदि अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं, सूक्ष्म अर्थात् दैवी प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर दैव पीठ तथा अनेक भगवदवतारोंके आविर्भाव होते हैं और कारण अर्थात् आध्यात्मिक प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर महर्षियोंकी शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञानभण्डार वेद तथा ब्रह्मज्ञानका विकाश हुआ है। इसलिये जब भारतवर्षमें प्रकृतिकी ही पूर्णता है तो तीनों गुणोंकी भी पूर्णता है और इसी कारण भारतीय हिन्दु समाजमें चारवर्णकी स्वाभाविक व्यवस्था है। /इस स्वभावके नष्ट करनेकी चेष्टा करनेपर हिन्दुजाति उन्नति नहीं कर सकेगी, परन्तु स्वभावके नाशसे नष्ट ही हो जायगी। पृथिवीके अन्यान्य देशोंमें प्राकृतिक पूर्णता न होनेके कारण तीन गुणोंकी पूर्णता नहीं है। इसलिये उन देशोंकी जातियोंमें भी वर्णधर्मकी स्वाभाविक समाजगत व्यवस्था नहीं है। तथापि तीन गुणोंका आंशिक विकाश होनेके कारण वहांपर भी वर्णधर्मका अस्पष्ट विकाश है, जो सामाजिक व्यवस्थामें परिगणित न होनेपर भी विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषके नेत्रमें परिदृष्ट होता है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु समस्त संसार त्रिगुणमयी प्रकृतिका विकाशरूप होनेके कारण अस्पष्टरूपसे मनुष्यके नीचेकी योनिमें भी वर्णधर्मकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यथा तैत्तिरीय संहितामें—"ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनां" "राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां" "वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां" "शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनां" अर्थात् मनुष्यकी तरह पशुयोनिमें छाग आदि ब्राह्मण पशु, भेड सिंह आदि क्षत्रिय पशु, गौ आदि वैश्य पशु और अश्व आदि शूद्र पशु हैं। पक्षियोंमें भी शुक कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज तीतर आदि क्षत्रिय, मोर आदि वैश्य और काक गीध आदि शूद्र पक्षी हैं। वृक्षोंमें भी वट अश्वत्थ आदि ब्राह्मण, शाल सगवान आदि क्षत्रिय, आम कटहर आदि वैश्य और बांस आदि शूद्र वृक्ष हैं। इतना तक कि काष्ठके भीतर भी चार वर्णोंकी व्यवस्था आदि शास्त्रमें बताई गई है, यथा—वृक्षायुर्वेदमें—

* भारतकी प्राकृतिक पूर्णताका वर्णन 'नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत" नामक ग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत् ।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते ।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ॥

जो काष्ठ लघु, कोमल और दूसरे काष्ठसे सहज ही मिल सकता है वह ब्राह्मणजातीय है। जो काष्ठ लघु और दृढ है तथा अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता वह क्षत्रियजातीय है। कोमल और भारी काष्ठ वैश्यजातीय तथा दृढ़ और भारी काष्ठ शूद्रजातीय है। काष्ठकी तरह मिट्टीमें भी चार वर्ण देखे जाते हैं, यथा— श्वेतवर्णकी मिट्टी ब्राह्मण, लालवर्णकी मिट्टी क्षत्रिय, पीतवर्णकी मिट्टी वैश्य और कृष्णवर्णकी मिट्टी शूद्र है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंकी तरह ऊपरकी देव योनियोंमें भी चार वर्ण हैं, यथा–तैत्तिरीय संहितामें–"अग्निर्देवता अन्वसृज्यत" "इन्द्रो देवता अन्वसृज्यत" "विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त" 'भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त" इत्यादि। देवताओंमें अग्नि आदि देवता ब्राह्मण हैं, इन्द्रादि लोकपालगण क्षत्रिय हैं, विश्वेदेवा वैश्य देवता हैं और अनेक श्रेणीके देवता शूद्र हैं। देवताओंके चार वर्णके लिये पहिले प्रबन्धमें भी बृहदारण्यकका प्रमाण दिया जा चुका है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्टरूपसे और कहीं अस्पष्टरूपसे विद्यमान हैं। इसलिये इस प्रकार स्वभावसिद्ध वर्णधर्मके नाशसे जाति उन्नत न होकर नाश को ही प्राप्त हो जायगी। इसको नष्ट न करके इसका सुधार तथा देशकाल पात्रानुसार सामञ्जस्य करना ही दूरदर्शिताका कार्य्य होगा।

वर्णधर्मका विस्तार बताकर अब गम्भीरता बताते हैं। वर्ण जब प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है तो प्रकृतिके सकल अङ्ग तथा भावोंके साथ इसका अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये अर्थात् जहां तक प्रकृतिका प्रवेश है वहां तक वर्णधर्मका भी सम्बन्ध मानना चाहिये। मनुष्यके स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर त्रिगुणमयी प्रकृतिके उपादानसे ही उत्पन्न हुये हैं। अतः त्रिगुणानुसार वर्णधर्मका भी सम्बन्ध तीनों शरीरोंके अथवा अध्यात्म अधिदैव अधिभूत तीनों भावोंके साथ अवश्य होगा। बल्कि तीनोंकी पूर्णतासे ही वर्णधर्मकी पूर्णता समझी जायगी। जन्मका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ, कर्मका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ और ज्ञानका सम्बन्ध कारण शरीरके साथ है, अर्थात् जन्मका

सम्बन्ध आधिभौतिक, कर्मका सम्बन्ध आधिदैविक और ज्ञानका सम्बन्ध आध्यात्मिक है। अतः कोई भी वर्ण जबतक जन्म, कर्म तथा ज्ञानमें पूर्ण न हो तबतक पूर्ण वर्ण नहीं कहला सकता। पूर्ण ब्राह्मण वही होगा जो जन्मसे भी ब्राह्मण हो, कर्मसे भी ब्राह्मण हो और ज्ञान भी ब्राह्मणोचित हो। पूर्ण क्षत्रिय वही होगा जिसमें जन्म, कर्म तथा ज्ञान तीनों ही क्षत्रियवर्णोचित होगा। इसी प्रकार और दो वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें कहा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद्ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः।

तपस्यादि कर्म, ज्ञान और जन्म तीनोंसे युक्त होनेपर तब ब्राह्मण पूर्ण ब्राह्मण होंगे। और भी —

तपः श्रुतंच योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥महाभाष्य २।२।६
त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥ ४।१।४८।

कर्म, ज्ञान और जन्म इन तीनोंकी पवित्रतासे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहलाते हैं। कर्मज्ञानहीन ब्राह्मण जाति ब्राह्मणमात्र है। यह महर्षि पतञ्जलिका मत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णोंकी पूर्णताके लिये तीनों गुणोंकी अपेक्षा है। यदि इन तीनोंमेंसे किसीकी कमी रहे तो पूर्ण वर्ण नहीं कहला सकते, यथा यदि केवल जन्मसे ही ब्राह्मण हो किन्तु ब्राह्मणोचित कर्म न करे अथवा ज्ञानी न हो तो पूर्ण ब्राह्मण नहीं कहला सकता। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें भी समझना उचित है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने कर्महीन और ज्ञानहीन ब्राह्मणोंके विषयमें कहा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

(२ अध्याय)

जिस प्रकार काठका हाथी और चर्मका मृग नकली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है। जिस प्रकार स्त्रीके लिये नपुंसक, गौके लिये गौ और अज्ञको दान देना निष्फल है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीरसे ही ब्राह्मण हैं, कर्म और ज्ञानसे अब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

यहांपर यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि जन्म, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध रहनेपर भी जन्मके साथ वर्णधर्मका साक्षात् और अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि पूर्वजन्ममें मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है उसीके अनुसार ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें उसका जन्म होता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।

प्रारब्ध कर्मके मूलमें रहनेसे उसके फलरूपसे जीवको जाति, आयु और भोग, ये तीन वस्तुएं मिलती हैं। जिसका पूर्वकर्म सत्त्वगुणप्रधान है उसका जन्म ब्राह्मण पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजःसत्त्वप्रधान है उसका जन्म क्षत्रिय पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजस्तमःप्रधान है उसका जन्म वैश्य पिता मातासे होता है और जिसका पूर्वकर्म तमःप्रधान है उसका जन्म शूद्र पिता मातासे होता है। इस प्रकारसे सत्त्व आदि त्रिगुण तथा पूर्वकर्मानुसार जीवका ब्राह्मणादि वर्ण तथा आर्य अनार्य आदि जातिमें जन्म होता है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीताजीमें भी कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

सत्त्व रजः तम ये तीन गुण तथा तदनुरूप कर्मोंके विभागके अनुसार चार वर्णकी सृष्टि की गई है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य यदि पुरुषार्थ करे तो अन्य वर्णके मनुष्यका कर्म थोड़ा बहुत कर सकता है, किन्तु पूर्वगुणोंके अनुसार जो स्थूल शरीर बन चुका है उसका परिवर्तन एकाएक नहीं हो सकता है। इसलिये एक वर्णका मनुष्य अपना कर्म उन्नत या अवनत करता हुआ दूसरे जन्ममें अन्य वर्ण बन सकता है, किन्तु उसी जन्ममें नहीं बन सकता है। हां, यदि विश्वामित्र, नन्दिकेश्वर आदिकी तरह असाधारण तप आदि कर्म करे और उसके फलसे स्थूल शरीरका उपादान तक बदलकर उच्च वर्णका बन जाय तो एक ही जन्ममें वर्ण बदल सकता है।

परन्तु ऐसा असाधारण कर्मका अधिकार बहुत ही विरल है और इस तमःप्रधान कलियुगमें तो एक तरहसे असम्भव ही है। इसलिये साधारण वर्णधर्मके विचारमें इस प्रकार कल्पना करना ही निरर्थक तथा अधर्म है।

जन्मके साथ वर्णधर्मका इतना सम्बन्ध होनेके कारण ही सन्तानकी उत्पत्तिके समय देवता तथा पितृगण जीवको इतनी सहायता करते हैं। सन्तानोत्पत्तिके निमित्त गर्भाधानके समय जीवोंके प्रति देवता तथा पितरोंकी सहायता बहुत ही रहस्यमयी है। जिस प्रकार प्राणशक्तिके आवर्त्तरूपी पीठमें देवता या अपदेवता तथा मूर्त्ति, यन्त्र आदि मन्त्रसिद्ध पीठोंमें देवता आकृष्ट होते हैं, ठीक उसी प्रकार गर्भाधानके समय स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके संघर्ष द्वारा उनके शरीरमें स्वभावतः ही पीठ उत्पन्न हो जाता है, जिसमें उत्पन्न होने वाले अनेक जीव तथा उनकी सहायता देनेवाले देवता और पितृगण आकृष्ट होते हैं। जितने जीव उस पीठमें आकृष्ट होते हैं उनमेंसे जिसका कर्म उस प्रकार पिता माताके द्वारा उत्पन्न होने योग्य होता है वह तो वहां रह जाता है और पिताके वीर्यके द्वारा माताके गर्भमें प्रविष्ट हो जाता है, बाकी जीव अन्यत्र चले जाते हैं। पितृगण उस जीवके योग्य स्थूलशरीरप्राप्तिमें सहायता करते हैं और देवतागण उसके प्राचीन कर्मको देखकर अनुरूप गर्भमें उसे स्थापन करते हैं इस प्रकारसे स्थूलसूक्ष्मशरीरयुक्त वह जीव कर्मानुसार जन्मको लाभ करता है, यथा भागवतमें—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

(भागवत ३।३१)

देवताओंके द्वारा सञ्चालित कर्मके अनुसार शरीर अर्थात् जन्म लाभके लिये जीव पिताके शुक्रको आश्रय करके माताके गर्भमें प्रवेश करता है। उसका पूर्वकर्म जिस वर्णमें जन्म देने योग्य होता है, उसी वर्णके माता पिताके द्वारा उसको स्थूल शरीरकी प्राप्ति होती है और स्थूल शरीरका प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्वकर्मानुसार ही होता है। अतः सिद्ध हुआ कि, जन्मके साथ वर्णका सम्बन्ध अति घनिष्ठ है और पूर्व कर्मानुसार स्थूल शरीरके किसी वर्णमें बन चुकनेके कारण एकाएक वर्णका परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता है और इसी कारण मन्वादि स्मृतिकारोंने जन्मानुसार ही नामकरण, उपनयन आदि परवर्त्ती संस्कारोंका विधान किया है। यथा—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽथ कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

(मनु० २ य अध्याय)

जात बालकका नामकरण जन्मसे दसवें दिन या बारहवें दिनमें करना चाहिये अथवा पुण्यतिथि, मुहूर्त्त या शुभ नक्षत्रमें करना चाहिये। ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक, क्षत्रियका बलवाचक, वैश्यका धनवाचक और शूद्रका दीनतावाचक होना चाहिये। गर्भके आरम्भकालसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। इन सब श्लोकोंके द्वारा जन्मके साथ चार वर्णका स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अतः वर्णव्यवस्थामें जन्म ही मुख्य है यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

जीवके जन्म तथा कर्मका रहस्य न जानकर आज कल कोई कोई मनुष्य केवल इस जन्मके कर्मसे ही वर्णकी व्यवस्थाको मानने लगते हैं और कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसा कर्म करेगा वैसी ही उसकी जाति कहलावेगी। इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमयुक्त है। प्रथमतः पूर्व कर्मानुसार देवता तथा पितरोंकी सहायता द्वारा किस प्रकारसे जीवको आगेका शरीर मिलता है इस रहस्यको जाननेपर कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पूर्व कर्मके साथ जातिका कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वितीयतः मनुस्मृतिका उपनयन आदिके विषयमें जो प्रमाण दिया गया है उससे भी जन्मसे जाति स्पष्ट सिद्ध होती है। अतः एकाएक इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं है। इस जन्मके कर्मानुसार जातिका विचार करना कितना भ्रमात्मक है सो साधारण विचारके द्वारा ही मालूम हो सकता है। शुभाशुभ संस्कारानुसार इस जन्ममें जीव किस किस तरहसे कार्य करता है इस विषयमें महाभारतके शान्ति पर्वमें लिखा है—

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥

पूर्व जन्ममें बाल्य, यौवन या वार्धक्य जिस जिस अवस्थामें जीव जो जो शुभाशुभ कर्म संस्कार संग्रह करता है, आगेके जन्ममें ठीक उस उस अवस्थामें उन उन संस्कारोंका भोग होता है। इस शास्त्रोक्त सिद्धान्तके अनुसार कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि किसके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा; क्योंकि जीवोंके प्राक्तन संस्कार प्रायः तीनों गुणोंके मिले जुले होते हैं; अर्थात् बाल्य यौवन वार्द्धक्यके बीचमें संग संस्कार आदि के वश होकर जीव नाना प्रकारके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, तीन गुणके कर्म करते हैं और उन उन अवस्थाओंमें उनके संस्कार फलोन्मुख भी होते हैं। पूर्वजन्मके बालकपनमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग आगे जन्ममें बाल्यावस्थामें ही होता है, यौवनकालमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग यौवनावस्थामें ही होता है इत्यादि। अतः इस बातको कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्यके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा। संसारमें भी देखा जाता है कि घोर पाप कर्म करनेवाले भी अचानक परम महात्मा बन जाते हैं और सदाचारी महाशय व्यक्तिका भी पतन हो जाता है। अतः यदि इसी जन्मके कर्मानुसार वर्णव्यवस्था करनी हो तो एक ही मनुष्यके एक ही जीवनमें कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं, यथा—कोई ब्राह्मण देशकालके प्रभावसे ब्राह्मणवृत्तिके न चलनेके कारण यदि वाणिज्यादि कार्यमें लग जाय तो वह वैश्य हो जायगा, फौजमें भरती होनेपर क्षत्रिय हो जायगा, पुनः किसीकी नौकरी कर लेनेपर शूद्र हो जायगा इत्यादि इत्यादि। इस प्रकारसे एक ही घरमें कितने प्रकारके वर्ण बन जायेंगे इसका क्या ठिकाना है? इसमें पिताके वर्णके साथ पुत्रके वर्णकी एकता अनेक समयपर नहीं हो सकेगी। क्योंकि दुकानदार अर्थात् वैश्य वर्णके पिताका पुत्र पढ़ लिखकर ब्राह्मण बन सकता है। एक पितासे उत्पन्न सहोदर भाईयोंमें भी कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं। स्त्री पुरुषके तथा माता पुत्रके वर्णमें भी प्रभेद हो सकता है। अतः इस दशामें घरकी कैसी व्यवस्था होगी और वैश्य पिताका ब्राह्मण पुत्र पितृ-मातृ-भक्ति किस प्रकारसे करेगा इन सब बातोंपर चिन्ता तथा विचार करनेसे इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्मनिर्णयकी कल्पना संपूर्ण भ्रमयुक्त प्रमाणित हो जायगी। अतः केवल इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्म मानना अशास्त्रीय, अदूरदर्शितापूर्ण तथा भ्रमात्मक है।

वर्णधर्मकी आवश्यकता ।

वर्णधर्म आर्यजातिका प्राणस्वरूप है । इसके बिना आर्यजातिका संसारमें कदापि अस्तित्व नहीं रह सकता है। आर्यजातिके ऊपर हजारों वर्षोंसे विजातीय अत्याचार तथा आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति जीवित है इसका भी मूलकारण वर्णधर्म ही है। अतः ऊपरी दृष्टिसे देखकर इसके प्रति उपेक्षा न करके, धीर होकर सूक्ष्मदृष्टि द्वारा वर्णधर्मकी महिमा तथा उपकारिताका तत्त्वान्वेषण करना चाहिये । तभी आर्यजातिका कल्याण होगा। नीचे संक्षेपसे वर्णधर्मकी उपकारिता तथा आवश्यकताके विषयमें कुछ विचार किया जाता है ।

मनुष्यके शरीरमें जितने अङ्ग हैं, प्रत्येक अङ्गोंके साथ विचार करनेपर उन सभीको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—मुखमण्डल या मस्तक, हस्त, ऊरूदेश या उदर और चरण। मनुष्यशरीरकी रक्षाके लिये जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है वे सब इन चारोंके द्वारा ही संगृहीत हुआ करती हैं। दिमाग सोचकर शरीररक्षाका उपाय निर्णय करता है। हस्त उसका संग्रह तथा उसकी बाधाओंको दूर करता है, उदर संगृहीत वस्तुओंको पकाकर मस्तक, हस्त, पद सर्वत्र शक्ति पहुंचाता है और चरण सेवकरूपसे सारे शरीरको वस्तु संग्रहमें सहायता करता है। अतः सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये इन चारों अङ्गोंकी विशेष आवश्यकता है। इनमेंसे एक अङ्ग दूसरे अङ्गका कार्य कदापि नहीं कर सकता है, यथा—मस्तकका जो चिन्ता करना-रूप कार्य है वह हस्त, उदर या चरण किसीके द्वारा भी नहीं हो सकता है, और मस्तक भी हस्त, चरण आदिका कार्य नहीं कर सकता है। उदरका कार्य उदर ही कर सकता है, अन्य किसी अङ्गके द्वारा वह कार्य नहीं हो सकता है। इसलिये अपने अपने कार्यके विचारसे चारों ही अङ्ग आदर करने योग्य हैं और चारोंकी परस्पर प्रीति तथा समवेत सहायताके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरकी सुरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरकी रक्षाके लिये ऊपर लिखित चार अङ्ग हैं, ठीक उसी प्रकार समष्टि शरीररूपी समाजकी रक्षाके लिये चार वर्ण चार अङ्गरूप हैं। ब्राह्मण हिन्दुसमाजके विराट् शरीरका मुखरूप या मस्तकरूप है, क्षत्रिय उसकी भुजा है, वैश्य उदर है और शूद्र चरण है। सभी विराट् पुरुषके अङ्ग हैं और समाजकी रक्षाके लिये सभीकी परम आवश्यकता है। इसीलिये श्रुतिमें चार वर्णोंकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके चार अङ्गोंसे बताई गई है, यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

(यजु० अ० ३१ म० ११)

ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य उरु है और शूद्र चरण है। इन चारोंकी शक्तियाँ परस्परकी सहायिका बनकर कार्य करें और अपने अपने कार्य्यमें अधिकारानुसार तत्पर रहें तभी समाजमें शान्ति रह सकती है। इसीलिये महर्षियोंने इन चारों वर्णोंकी स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीरकी प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारको देखकर चारोंके लिये पृथक् पृथक् कर्त्तव्य निर्देश कर दिये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्ज्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(१८ अध्याय)

पूर्वकर्मानुसार स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंके कर्म निर्देश किये गये हैं। ब्राह्मणोंका स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यमूलक है। क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमेंसे न भागना, दान और ईश्वरभाव मूलक है। वैश्योंका स्वाभाविक कर्म कृषिकार्य, गोरक्षा और वाणिज्यमूलक है। शूद्रोंका स्वाभाविक कार्य सेवामूलक है। आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि चतुर्वर्णमेंसे शूद्रकी प्रकृति कामप्रधान, वैश्यकी अर्थप्रधान, क्षत्रियकी धर्मप्रधान और ब्राह्मणकी मोक्षप्रधान होती है। आज कल नाना कारणोंसे स्वभावका विपर्यय हो जानेके कारण चार वर्णोंमें प्रकृतिके अनुकूल कर्त्तव्यपालन अनेक स्थानमें नहीं देखा जाता है। उसमें वर्णधर्मका

कोई दोष नहीं है, परन्तु धर्मीके कर्मविपर्यय तथा जन्म विपर्ययका ही दोष है। वर्णधर्मकी व्यवस्था सम्पूर्णरूपसे प्राकृतिक है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्रत्येक समाजकी शान्तिमयी स्थितिके लिये सदा ही चार वस्तुओंकी अपेक्षा रहती है। (१) जातिको आत्माकी ओर उन्नत करनेके लिये ज्ञान तथा उच्चचिन्ता। (२) विदेशीय अत्याचारसे बचानेके लिये तथा भीतरी शान्तिरक्षाके लिये स्थूल बल तथा शासन शक्ति। (३) स्थूल कलेवरकी रक्षाके लिये अन्न तथा अर्थसंग्रह। (४) स्थूल आरामके लिये नाना प्रकारकी सेवा। इस प्रकार श्रमविभाग (Division of labour) के साथ जो समाज या जाति अग्रसर होती है तथा प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार चार प्रकारके मनुष्य इन चारों कर्मोंमें नियुक्त किये जाते हैं, उस समाज तथा जातिमें कदापि कोई अवनति या विप्लवकी सम्भावना नहीं होती है और धीरे धीरे ऐसा समाज अवश्य ही उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है। महर्षियोंने इन चार वस्तुओंकी आवश्यकताको देखकर प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार आर्यजातिमें चार वर्णका कर्त्तव्यनिर्देश किया था। शूद्रमें तमोगुण अधिक है। तमोगुणयुक्त बुद्धिका लक्षण यह है कि अधर्ममें धर्म समझे तथा धर्ममें अधर्म समझे। जहां ऐसी विपरीत बुद्धि हो वहां स्वाधीनरूपसे कार्य करनेपर प्रमाद अनर्थ आदि अवश्य ही उत्पन्न होंगे। इस कारण शूद्र वर्णके लिये महर्षियोंने यह आज्ञा की है कि वह स्वतन्त्र कार्य न करके त्रिवर्णके आज्ञानुसार उनकी सेवारूपसे कर्त्तव्य पालन करें। इस प्रकारसे कर्त्तव्य पालन करनेपर शूद्र शीघ्र ही जन्मान्तरमें वैश्ययोनि प्राप्त होंगे। वैश्ययोनिमें रजोगुण तथा तमोगुण दोनोंका आधिक्य है। रजोगुणका आधिक्य होनेसे धनलालसा वैश्यमें होना स्वाभाविक है। इसलिये उस धन लालसाके द्वारा जिससे अधोगति न हो इस कारण वैश्य जातिको गोरक्षा, चार वर्णका पालन आदि सत्कर्ममें उस धनको उपयोग करनेकी आज्ञा की गई जिससे धनके द्वारा कामका पोषण न होकर धर्मसेवा द्वारा वैश्यजाति उन्नत योनियोंको लाभ कर सके। वैश्यजाति इस प्रकारसे स्ववर्णोचित कर्त्तव्य पालन द्वारा अवश्य ही शीघ्र क्षत्रिय वर्ण प्राप्त करेगी। क्षत्रियवर्णमें रजोगुण सत्त्वगुणका प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे राजशक्तिका उदय होना क्षत्रियमें स्वाभाविक है। किन्तु वह राजशक्ति धर्मानुकूल न चलनेपर प्रजा पीड़न, अन्यजाति तथा राज्यपर अत्याचार आदि

अनर्थ उत्पन्न कर सकती है। इसलिये सत्त्वगुणके साथ मिलकर तदनुसार क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल राज्य पालनकी, ब्राह्मण वर्णकी रक्षाकी तथा विजातीय अधार्मिक अत्याचारसे राज्यरक्षाकी आज्ञा की गई है। क्षत्रियवर्ण यदि इस प्रकारसे स्वधर्मानुष्ठान करे तो शीघ्र ही ब्राह्मण योनिमें उसका जन्म होगा। ब्राह्मण योनि सत्त्वगुणप्रधान है। इसलिये तपस्या, साधना, जितेन्द्रियता, संयम, आत्मानुसंधान, आत्मज्ञान लाभ ये ही सब ब्राह्मण वर्णके स्वाभाविक कर्त्तव्य हैं। ब्राह्मण जाति अन्य तीन वर्णोंको ज्ञानधनसे धनी करेगी, अन्य वर्ण इसकी सेवा, ग्रासाच्छादन तथा रक्षा द्वारा इसको पुष्ट करेंगे यही ब्राह्मणोंके साथ त्रिवर्णका कर्त्तव्यविनिमय है। इस प्रकारसे चार वर्ण परस्पर सहायता द्वारा समाज रक्षाके लिये श्रमविभाग कर लेनेपर तथा अपनी अपनी प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार स्वधर्मानुष्ठान करनेपर समाजमें अवश्य ही विद्रोहका अभाव, अनधिकार चर्चाका अभाव और चिरशान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्ति हो सकती है।

पूज्यपाद महर्षियोंने इस प्रकारसे चार वर्णोंमें श्रम विभागकी विधि बनाकर खानदान या रोटीबेटीके साथ भी वर्णधर्मका सम्बन्ध बताया है, क्योंकि अच्छी हो या बुरी हो खानदानी वस्तु बहु काल स्थायी होती है। खानदानी रोग उपदंश, उन्माद, यक्ष्मा आदि प्रपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्रादि क्रमसे कितने ही वंश तक लगे रहते हैं। खानदानी क्षत्रिय वीर क्षत्रिय होते हैं, खानदानी वैश्य व्यापारमें बड़े निपुण होते हैं। खानदानी गाने बजानेवाले गीत वाद्यकलामें बड़े कुशल होते हैं। इतना तक कि खानदानी सोनार लोहार आदि भी अपने अपने काममें पूरे योग्य होते हैं। इसलिये खानदान उपेक्षाके योग्य वस्तु नहीं है। खानदानके साथ जातिगत विशेष भावका सम्बन्ध होता है जिसकी खास विद्युत्शक्ति खूनके द्वारा वंशपरम्परा क्रमसे बहुत दूर तक अपनी जातिमें चली जाती है। खूनका सम्बन्ध रोटी बेटीसे है। इस कारण खानदान ठीक रखनेके लिये वर्णधर्मके साथ रोटीबेटीका सम्बन्ध ठीक रखना अत्यावश्यकीय है। नहीं तो किसी वर्णमें भी पूर्ण योग्यताके मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकते। दृष्टान्तपर ध्यान देनेसे यह रहस्य अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा। एक खानदानी वैश्य है जिसके खूनमें रगरेशेमें बुद्धिमें धन कमाना और अर्थोपार्जनकी विद्युत् शक्ति भरी हुई है। एक ब्राह्मण है, जिसका धर्म यह है कि धनको कुछ न समझकर

उसे त्यागे और तपस्याको तथा अध्यात्मज्ञानको ही धन समझकर उसे कमावे। अब इन दोनोंमें यदि रोटी बेटीका सम्बन्ध होगा तो इस सम्बन्धसे उत्पन्न सन्तानकी कैसी प्रकृति होगी? क्योंकि धन कमानेवाली वैश्यप्रकृति और धन छोड़नेवाली ब्राह्मणप्रकृति दोनोंके मेलसे जो खिचड़ीसी प्रकृति उत्पन्न होगी उसमें न धन छोड़ना ही पूरा आवेगा और न धन कमाना ही पूरा आवेगा। अर्थात् इस प्रकार वर्णसङ्कर सन्तान न पूरी ब्राह्मण ही बनेगी और न पूरी वैश्य ही बनेगी। इस प्रकार सहनशीलता, तितिक्षा आदि ब्राह्मणका धर्म है, किन्तु अपमानका बदला लेना क्षत्रियका धर्म है। अब इन दोनों वर्णोंके विवाह सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानमें कौन प्रकृति उत्पन्न होगी? ऐसी सन्तान क्षत्रियवीरकी तरह न तो लड़नेवाली ही बनेगी और न ब्राह्मणकी तरह सहनशील तपस्वी ही बनेगी। फलतः इस प्रकार चार वर्णोंमें रोटी बेटीके सम्बन्ध द्वारा कोई भी वर्ण ठीक नहीं रह सकेगा और ऐसा चलते चलते सौ दो सो वर्षोंमें चारों वर्णोंका नाश होकर जाति ही नष्ट हो जायगी। यही कारण है कि पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजातिको वर्णसङ्करता दोषसे बचाया है और चार वर्णको आपसमें भोजन तथा विवाह सम्बन्ध करनेको मना किया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि' इत्यादि तृतीयाध्यायके वचनोंके द्वारा अपने वर्णमें विवाहादिको ही उत्तम तथा वर्णसंकरकारी असवर्ण विवाहको अधम कहा है। अथर्ववेदमें भी 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः (५-२७-६) इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा ब्राह्मण-स्त्रीका ब्राह्मण ही पति होना चाहिये, इस प्रकार कहकर सवर्ण विवाहकी ही पुष्टि की गई है।

इस प्रकारसे गंभीर विज्ञानयुक्त वर्णधर्मकी यदि रक्षा न हो तो संसारमें क्या अनर्थ उत्पन्न होता है इसके विषयमें भी आर्यशास्त्रमें अनेक विचार किये गये हैं। महावीर अर्जुन, कौरवोंका असह्य अत्याचार सहन करते हुए भी क्यों युद्धसे डरते थे इसके विषयमें पहले ही कहा गया है। उनको प्रधान भय यही था कि युद्धमें पुरुषोंके मर जानेपर स्त्रियोंमें अधर्म फैल जायगा और इससे वर्णधर्मका नाश होकर वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति हो जायगी। वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्तिसे कुलनाश, जातिनाश, नरक प्राप्ति तथा पितृपुरुषोंका पिण्डलोप हो जायगा। महावीर अर्जुनकी यह आशंका अशास्त्रीय नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान् मनु महाराजने स्पष्ट कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ (१०-६१)

वर्णधर्मके नाशसे वर्णसङ्कर प्रजा जिस राज्यमें उत्पन्न होती है, वहां कुछ दिनोंमें ही प्रजा तथा राज्य दोनोंका ही नाश हो जाता है। केवल मनुष्य राज्यमें ही नहीं अधिकन्तु पशुराज्यमें भी देखा जाता है कि वर्णसङ्कर पशुका वंश नहीं चलता है। गधा तमोगुणी और घोड़ा सत्त्वगुणी है। इन दोनोंका वंश कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु इन दोनोंके सम्बन्धसे जो खच्चर (अश्वतर) की जाति बनाई जाती है उसका वंश कदापि नहीं चलता है। इस प्रकार अन्यान्य पशुपक्षी तथा वृक्ष तकमें भी देखा जाता है कि वर्णसंकर सृष्टिको प्रकृति स्वयं ही आगे चलनेसे रोक देती है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिके स्वाभाविक तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण हो सकते हैं और प्रकृतिकी समस्त शक्ति प्राकृतिकरूपसे इन तीनों गुणोंके द्वारा चार वर्णकी चार धाराओंमे ही बटी हुई है। अतः इन चार धाराओंमेसे किसी भी धारामें जीव बह चले तो प्रकृतिमाता निजशक्ति द्वारा उसे उन्नत करती हुई ब्रह्मतक पहुंचा सकती है। परन्तु इन चारोंके बीचमें यदि कोई अप्राकृतिक पांचवी धारा जबरदस्ती बनाई जाय तो उसे आगे बढ़ानेके लिये चारों धारोंमें बटी हुई प्रकृतिकी चार शक्तियोंके सिवाय और कोई पांचवी शक्ति है ही नहीं। यही कारण है कि वह अप्राकृतिक वर्णसङ्करी पांचवी धारा आगे नहीं चलती और चारोंके ही बीचमें लय हो जाती है। अतः विचारके द्वारा देखा गया कि मनुजीके कथनानुसार वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होनेपर राज्यनाश तथा प्रजानाश हो जाता है। प्रत्यक्षरूपसे देखा भी जाता है कि उच्चकुलोंमें वर्णसङ्कर वंशका नाश हो जाता है। पितृगण ऐसे पापमय अप्राकृतिक वंशोंको चलने नहीं देते। एक आध पुरुषके बाद ही वैसे वंश नष्ट हो जाते हैं। इसलिये किसी जातिके चिरजीवनके लिये वर्णधर्मका पालन होना एकान्त आवश्यक है। संसारमें शत शत जातियोंके नाश होनेपर भी आर्यजाति केवल वर्णधर्मके कारण ही इस दीन हीन दशामें भी जीवित है और जबतक इसका वर्णधर्म अटूट रहेगा तबतक सहस्र चेष्टा करनेपर भी कोई इसको नष्ट नहीं कर सकेगा। वर्णसङ्कर प्रजोत्पत्तिके द्वारा पितरोंका श्राद्ध नहीं होता है यह भी विषय पूर्णरूपसे विज्ञानमूलक है। क्योंकि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्धमें श्राद्धकर्त्ता पुत्रके आत्मा तथा मनका सम्बन्ध होता है और इसीसे

पितृगण श्राद्धस्थानमें आकर श्राद्ध ग्रहण करते हैं। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब सन्तानका अन्तःकरण पिता माताके अन्तःकरणसे ठीक मिला हुआ हो किन्तु वर्णसङ्कर प्रजामें ऐसा हो नहीं सकता है। क्योंकि उसमें पिता एक वर्णका तथा माता अन्य वर्णकी होनेसे उन दोनोंके विलोम सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानका मन न पितासे ही ठीक मिल सकता और न मातासे ही ठीक मिल सकता है। अतः उसके किये हुए श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति, प्रेत-योनिसे उनकी मुक्ति न होकर उनका पतन होता है। यही वैज्ञानिक सत्यता-युक्त भय अर्जुनको था और यही सकल शास्त्रोंमें वर्णित किया गया है। पितरोंकी असम्वर्द्धनासे देशमें स्वास्थ्यभंग, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नाना प्रकारके दुर्दैव उत्पन्न होकर देश रसातलको जाता है। अतः सकल विचार तथा प्रमाणों द्वारा यही सिद्ध हुआ कि इहलोकमें सुख-शान्ति, चिरजीवन, सकल प्रकारकी उन्नति, परलोकमें देवताओंसे सम्बन्ध, पितरोंकी सम्वर्द्धना तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ब्रह्मराज्यमें अग्रसर होनेके लिये वर्णधर्मका अस्तित्व और परिपालन आर्यजातिके लिये सदा सर्वथा कर्त्तव्य है।

स्पृश्यास्पृश्य रहस्य।

ऊपर लिखित विज्ञानके आधारपर ही आर्यशास्त्रमें स्पृश्यास्पृश्य या छूआ छूतका विचार किया गया है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न वर्णमें विद्युत्शक्ति भिन्न भिन्न रूप होनेके कारण पंक्ति भोजन या विवाह सम्बन्ध निषिद्ध है, ठीक उसी प्रकार व्यभिचार तथा अधम सांकर्यके द्वारा उत्पन्न अनेक जातियोंको अछूत मानकर उनके साथ खानपान, यौनसम्बन्ध या एक साथ बैठना आदि शास्त्रमें निषिद्ध बताया गया है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि ब्राह्मणी और शूद्रके परस्पर कामसम्बन्धके द्वारा प्रतिलोम अधमसंकर चाण्डालकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि यह सम्बन्ध बहुत ही खराब है इसलिये चाण्डालजाति अस्पृश्य मानी गई है। यथा पराशर स्मृतिमें—

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत् ।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत् ॥

चाण्डालका दर्शन हो जानेपर सूर्य दर्शन द्वारा पवित्र होना चाहिये, चाण्डालसे स्पर्श हो जाय तो सवस्त्र स्नान करके पवित्र होना चाहिये।

चाण्डालके विषयमें मनुसंहितामें भी ऐसा ही वर्णन है। इस प्रकार भङ्गी, चमार आदि जातियां भी अधम सङ्कर जातियां हैं। इसी कारण इनको अस्पृश्य कहते हैं, क्योंकि इन जातियोंकी उत्पत्ति तथा संस्कार अत्यन्त अधम होनेसे इनमेंकी विद्युत् शक्ति भी अति अधम कोटिकी है जिसके सम्पर्कसे उत्तम संस्कारयुक्त उच्च वर्णके मनुष्योंकी स्थूल तथा आध्यात्मिक विशेष हानि हो सकती है। महर्षि देवलने लिखा है—

संलापस्पर्शनिःश्वासात् सहशय्यासनाशनात् ।
याजनाध्यापनाद्‌ यौनात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥

एक साथ आलाप करनेसे, शरीरका संस्पर्श होनेसे, एकका निःश्वास दूसरेपर पड़नेसे, एक साथ सोनेसे, भोजन करनेसे, याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्ध करनेसे एकका दोष दूसरेमें चला जाता है। महर्षि पराशरने भी कहा है—

आसनाच्छयनाद्‌ यानाद्‌ भाषणात् सहभोजनात् ।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥

एक साथ बैठने, सोने, जाने, बातचीत करने या भोजन करनेसे जलमें तैल बिन्दुकी तरह एकका पाप दूसरेमें संक्रमित हो जाता है।

इन प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि अधम जातियोंके साथ संस्पर्श, सहभोजन आदिके द्वारा उच्च वर्णकी हानि होती है। अतः स्पृश्यास्पृश्यवाद शास्त्र तथा विचार सङ्गत है यह सिद्ध हुआ।

अब यह शंका हो सकती है कि देशकी वर्त्तमान दुर्गतिके समय इस प्रकार छूतछातके रखनेसे देशभाइयोंमें एकता तथा देशकी और हिन्दू जातिकी उन्नति कैसे हो सकेगी? ✓ इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान महर्षियोंने स्मृति शास्त्रमें अच्छे प्रकारसे कर दिया है। प्रथम तो व्यक्तिगत कर्मके साथ जातीय उन्नति अवनतिका सम्बन्ध मिलाना ही युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि पूर्वलिखित योगदर्शनके सूत्रके अनुसार जाति जब पूर्व जन्मके कर्मानुसार ही मिलती है तो जिसका जैसा कर्म था उसकी जाति भी ऐसी ही बनी है और उसीके अनुसार खान पान आदिकी व्यवस्था भी रहनी चाहिये। इसलिये जबतक सब वर्ण तथा अछूत जाति एक साथ खानपान या विवाह सम्बन्ध न करेंगे तबतक देशका उद्धार न होगा ऐसी कल्पना करनेसे देशका उद्धार

तो कभी भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंमें ही जब वैषम्य है और उसीके परिणामसे जब जातियां बनती हैं तो सब वर्ण या जाति एक तो कभी नहीं हो सकती है। एक पिताके अनेक प्रकार प्रारब्धवाले कई एक पुत्र होते हैं। कोई मैजिष्ट्रेट होता है, कोई सामान्य क्लर्क ही रहता है। इसमें यदि यह कहा जाय कि मैजिष्ट्रेट और क्लर्क दोनोंकी तनखा तथा इज्जत जबतक बराबर न होगी तबतक पिताकी सेवा दोनों मिलकर नहीं कर सकेंगे तो पिताकी सेवा कभी नहीं हो सकेगी। अतः प्राकृत व्यक्तिगत कर्मके साथ जातिगत समष्टि कर्मका मेल कभी नहीं करना चाहिये। अच्छे बुरे उच्च नीच सभी एक भारत माताकी सन्तानें हैं, इस कारण व्यक्तिगत भावसे पृथकता रहनेपर भी जाति भाई रूपसे सब मिलकर मातृ भूमिकी सेवा कर सकते हैं और करना चाहिये। वर्णधर्मकी मर्यादा रखते हुए इसी प्रकारसे एकता तथा देश सेवा हो सकती है और होनी चाहिये। इसके सिवाय आपत्कालके विचारसे तथा विशेष विशेष काल विचारसे शास्त्रमें उदारता भी बहुत कुछ की गई है। श्रीभगवान् मनुने कहा है—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥
(१०—१०४)

क्षुधासे प्राणनाशकी आशंका हो ऐसे समयपर जहां तहां खा लेनेपर भी, जिस प्रकार आकाश पङ्कसे लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार खानेवाला भी पापलिप्त नहीं होता है। महर्षि पराशरने कहा है—

आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
मनस्तापेन शुध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत्॥

आपत्कालमें यदि ब्राह्मण शूद्रके घरका अन्न खा ले, तो पश्चात्तापसे या सौ गायत्री जप करनेसे शुद्ध होता है। महर्षि बृहस्पतिने लिखा है:—

तीर्थ विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥

तीर्थमें, विवाहोत्सवमें, रेल, जहाज आदि द्वारा यात्राके समय, देशमें लड़ाई या विद्रोह होनेपर, नगर या ग्राममें आग लग जानेपर स्पर्शास्पर्शका

विचार नहीं रहता है। इस प्रकार और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः शास्त्रमर्यादा तथा वर्णमर्यादाको रखते हुए ऊपर लिखित प्रमाणोंके अनुसार देशकाल पात्रके विचारसे चार वर्ण तथा नीच जातिके साथ देशोन्नति लक्ष्यसे एकता भी हो सकती है।

वर्णव्यवस्थाका आदर्श दिखाया गया है। स्थूल सूक्ष्म और कारण प्रकृतिके साथ वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध बताया गया है और सिद्धान्त किया गया है कि जीव प्राक्तन सात्त्विक, राजसिक सात्त्विक, तामसिक राजसिक और तामसिक कर्म्मानुसार ही चतुर्व्वर्णको प्राप्त करते हैं। प्राक्तन कर्मोंसे ही धीरे धीरे स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरोंकी पूर्णता साधन करते हुए मुक्तिपद प्राप्त होते हैं इसलिये वर्णा-व्यवस्थाका सम्बन्ध तीनों शरीरोंसे है। तीनोंकी पूर्णतासे प्रत्येक वर्णकी पूर्णता होती है। जो वर्ण प्रकृतिके जिस अधिकारमें है उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंको उन्नति उसी अधिकारके अनुकूल होना प्राकृतिक है और उसीमें उस वर्णकी पूर्णता हो सकती है, अन्यथा, प्रकृतिके किसी अङ्गको छोड़नेसे नहीं होगी। जन्मसे, कर्म्मसे और ज्ञानसे पूर्ण होनेपर तभी पूर्ण ब्राह्मण, पूर्ण क्षत्रिय, पूर्ण वैश्य तथा पूर्ण शूद्र कहला सकते हैं। अब इस आदर्शको वर्त्तमान देशकालके साथ मिलाकर वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यव-स्थाका आदर्श किस प्रकारसे निभ सकता है जिससे देशकालके भी विरुद्ध न हो और आदर्श भी भ्रष्ट न हो जाय इसका विचार किया जाता है क्योंकि जो विधि देशकालके विरुद्ध है वह सत्य धर्म नहीं है। जब प्राक्तन कर्म्मानुसार ही मनुष्यकी स्थूल सूक्ष्म और कारण प्रकृति बनती है तो इस जन्मका कर्म्म भी चारों वर्णका ऐसाही होना चाहिये जैसी कि उनकी प्रकृति है। यदि शूद्रकी तीनों शरीरोंकी प्रकृति तमःप्रधान है तो साधारण रीतिसे शूद्रमें और वर्णोंके सदृश कर्म्मशक्ति नहीं होनी चाहिये और यदि ब्राह्मणके तीनों शरीरोंकी प्रकृति सत्त्वप्रधान है तो उसमें और वर्णोंके सदृश प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु क्या कारण है कि शूद्रमें भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदिकोंके सदृश असाधारण कर्म्मशक्ति तथा योग्यता देखनेमें आती है और ब्राह्मणमें भी इतर वर्णोंके सदृश नीच कर्म्मोंमें प्रवृत्ति देखनेमें आती है? आजकल जो वर्णव्यवस्थाके विषयमें इतना सन्देह बढ़गया है कि वर्ण जन्मानुसार है या कर्म्मानुसार है या है कि नहीं ऐसे प्रश्न होते हैं; इन सबोंका कारण केवल प्रत्येक वर्णमें शास्त्रानुसार कर्मा-

वर्णमें कर्मविप्लवका कारण क्या है ?

नुष्ठान न होना ही है। यदि ब्राह्मण अपने कर्म्मोंपर प्रतिष्ठित रहते, अब्राह्मण, नीच या शूद्रकी तरह आचरण न करते तो कदापि इस प्रकार सन्देह नहीं होता और न जन्मको उड़ानेकी इच्छा ही किसीमें होती। मनुष्य कर्म्मोंसे भ्रष्ट हो गये हैं, कोई वर्ण अपने कर्म्मानुसार आचरण नहीं करते तभी "जन्मसे जातिका सम्बन्ध है" इस विषयमें इतना सन्देह उत्पन्न होगया है। प्राचीन कालमें जब चारों ही वर्ण अपने अपने कर्म्मोंपर प्रतिष्ठित थे तब इस प्रकारका सन्देह कभी नहीं उत्पन्न होता था। अब विचार करना चाहिये कि इस प्रकार चारों वर्णोंमें कर्म्मभ्रष्टता या विपरीतकर्म्मका कारण क्या है और विपरीत लक्षणोंके होनेसे वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थाका आदर्श किस प्रकारसे स्थिर रह सकता है।

आजकल जो इतर वर्णोंमें भी उच्च वर्णोंके गुण कर्म्म स्वभाव पाये जाते हैं और ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण भी बहुधा अपने अपने आचरणसे गिर गये हैं जिससे इतना गड़बड़ मच गया है, विचार करनेपर पता लग जायगा कि इसमें तीन कारण हैं। यथा—वर्णसङ्करता, आरूढ़पतन और मिश्रसंस्कार। नीचे तीनोंका विस्तृत वर्णन किया जाता है।

कलियुग तमःप्रधान है, पापका स्रोत प्रबल वेगसे बह रहा है, स्त्रियोंमें शिक्षाके अभावसे या दोषोंसे तथा अन्य अनेक कारणोंसे पातिव्रत्य धर्म्मका ह्रास हो गया है, पुरुषोंमें भी विषयबुद्धि बढ़नेसे परदारगमनप्रवृत्ति बहुधा देखनेमें आती है, इन सब कारणोंसे वर्णसङ्कर प्रजा बहुत उत्पन्न हो गई है और इसीसे कर्म्मसङ्करता भी फैल गई है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि कोई कुलस्त्री ब्राह्मणी छुपकर किसी शूद्र उपपतिसे सम्बन्ध कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह पुत्र पूरे ब्राह्मणके गुण कर्म्म कैसे प्राप्त करेगा? विषय गुप्त होनेसे किसीको पता नहीं लगा, वह सन्तान ब्राह्मण ही कहलाने लगी, परन्तु उसके बहुत कर्म्म ब्राह्मणकी तरहके होंगे और अनेक कर्म्म शूद्रकी तरहके होंगे। उसी प्रकार शूद्रामें भी ब्राह्मणके व्यभिचार द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण शूद्रसे और प्रकारका कर्म्म करेगी। उसमें कुछ ब्राह्मणका भी कर्म्म दिखाई देगा। कलिके प्रभावसे आजकल ऐसा बहुत हो गया है जिससे नीच ब्राह्मण भी मिलते हैं और अच्छे शूद्र भी मिलते हैं।

द्वितीय कारणका नाम आरूढ़पतन है। कर्म्मोंका भोग संस्कारोंकी प्रबलताके अनुसार होता है। मनुष्य अपने जीवनमें कई प्रकारके कर्म्म करते हैं। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें सात्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे बहुत

प्रकारके कर्म हो जाते हैं, उनमेंसे जो कर्म सबसे बलवान् होता है वही प्रारब्ध बनकर पहले फल देता है। श्रीभगवान्ने गीतामें लिखा है कि, -

उद्ध्र्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्मोंसे स्वर्गादिलोक-प्राप्ति, राजसिक कर्मोंसे पृथ्वीलोकमें ही मनुष्यादिरूपसे जन्म और नीच तामसिक कर्मोंसे अधोलोकोंमें जन्म या पश्वादि नीच योनि प्राप्ति होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको स्वर्ग मिलना चाहिये, ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको पृथ्वीमें ही मनुष्यजन्म मिलना चाहिये और ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको नीच पशुयोनि प्राप्त होना चाहिये तो इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे जो कर्म सबसे बलवान् होंगे वे ही उसकी मृत्युके समय प्रारब्ध कर्म बनकर चित्ताकाशको आश्रय करेंगे और उन्हींके अनुसार उसका जन्म होगा। गीतामें लिखा है कि:--

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥

मृत्युके समय साधारणतः सूक्ष्म शरीर दुर्ब्बल होजाता है, इसलिये दुर्ब्बल सूक्ष्म शरीरको वे ही कर्म आश्रय करते हैं जो कि सबसे बलवान् होते हैं और जीव उसी भावमें भावित होकर वैसी ही योनिको प्राप्त करता है। इससे यह सिद्धान्त निकलेगा कि यदि कोई मनुष्य अन्य कर्म अच्छे करनेपर भी कुछ कर्म मन्द करे और वे कर्म प्रबलतम हों तो उन मन्द कर्मोंका भोग पहले होगा। यथा-किसी ब्राह्मणने ब्राह्मणोंके सदृश अच्छे कर्म अनेक किये, किन्तु मोहवशात् कुछ कर्म शूद्रोंके सदृश भी कर दिये और वे कर्म और अच्छे कर्मोंसे प्रबल हुए तो मरते समय वे शूद्रोंके सदृश किये हुए कर्म ही उसका प्रारब्ध बनकर शूद्र शरीर उत्पन्न करेंगे। वह शूद्रके घरमें उत्पन्न होगा। इन शूद्र सदृश कर्मोंके भोगके बाद यदि ब्राह्मणसदृश कर्म जो पहले किये थे वे ही प्रबल हों तो पुनर्जन्म ब्राह्मणका होगा; परन्तु इस प्रकार शूद्र माता पिताके द्वारा शूद्र शरीर मिलनेपर भी पूर्वजन्ममें ब्राह्मणसदृश कर्म भी अनेक किये थे इससे उन सब अच्छे कर्मोंका संस्कार उसके कर्माशयमें रहनेके कारण वह साधारण शूद्रसे अनेक प्रकारसे उन्नत होगा क्योंकि उसके कर्माशयमें

स्थित ब्राह्मण्य कर्मका प्रभाव अवश्य ही उसके चित्तपर पड़ेगा। वह शरीरसे शूद्र है परन्तु भाव तथा आचारसे ब्राह्मणके सदृश होगा। श्रीमद्भागवतमें जड़भरतका जो पूर्व जन्मका वृत्तान्त लिखा है वह जन्म इसी प्रकारके आरूढ़-पतनके कारणसे हुआ था। महाराजा भरत बहुत तपस्या करनेपर भी मरनेके कुछ दिन पहले एक मृगमें इतने आसक्त हो गये थे कि उसीको स्मरण करते करते मरे और मृगयोनिको प्राप्त हुए, परन्तु वे अन्य साधारण मृगोंसे बहुत ऊंचे थे क्योंकि तपस्याका संस्कार चित्तमें था। इसी प्रकार अन्यान्य जीवोंमें समय समयपर असाधारण बातें जो देखनेमें आती हैं और मनुष्योंमें भी जो इतर वर्णोंमें कभी कभी उच्चवर्णकी तरह शक्ति और गुण कर्म स्वभाव देखनेमें आते हैं उन सबोंका यही उपर्युक्त रहस्य है; अर्थात् ये ही सब आरूढ़पतनके दृष्टान्त हैं। वे सब पहले जन्ममें उच्चवर्णके थे, परन्तु कुछ प्रबल कर्म नीच वर्णकी तरह कर दिया था जिसका प्रभाव स्थूल शरीरपर पड़नेसे स्थूल शरीर नीच मिला है; परन्तु चित्तमें उच्चसंस्कार और प्रकारके रहनेसे आचार तथा कर्म उच्च वर्णकी तरह बहुतसा दिखाई देता है। जिस प्रकार भरत राजा मृगयोनिके बाद ही पुनः पूर्व्व तपस्याके फलसे भरत ऋषि बन गये थे; उसी प्रकार वे लोग भी मन्द कर्मका भोग नीच योनिमें समाप्त होनेपर आगामी जन्ममें कर्माशयस्थित अन्य उच्च कर्मके कारण अच्छी योनि प्राप्त करेंगे। कलियुग तमःप्रधान है, देश काल और सङ्ग इसमें बहुत विरुद्ध हैं, इसलिये कलियुगमें अच्छे मनुष्योंसे भी बहुत बुरे कर्म्म होजाते हैं, अतः कलियुगमें इस प्रकार आरूढ़पतन होनेकी बहुत ही सम्भावना है। यही कर्म्मसङ्करताका दूसरा कारण है।

कर्म्मसङ्करताका तीसरा कारण मिश्रसंस्कार है। प्रकृतिके त्रिगुणमयी होनेसे मनुष्योंके सब कर्म सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन भागोंमें विभक्त होते हैं। अन्य युगोंमें जब भावकी गंभीरता थी तब मनुष्योंमें प्रायः एक ही गुणके कर्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे रहते थे इसलिये कर्मोंकी प्राकृतिक गति प्रायः एकसी होती थी और मनुष्य भी प्रायः एक ही ढंगकी प्रकृतिके होते थे; परन्तु कलियुगमें भावकी गम्भीरता कम होनेसे और देश-कालका प्रभाव मनुष्यप्रकृतिपर पड़नेसे कर्मसंस्कार कलियुगमें प्रायः तीनों गुणोंके मिलेजुले होते हैं। सात्त्विक संस्कारके साथ भी राजसिक तामसिक कर्मोंके संस्कार होते हैं। इसी प्रकार तामसिक मनुष्यमें भी और दो गुणोंके कर्म देखनेमें आते हैं; अर्थात् मिश्रसंस्कारयुक्त मनुष्य प्रायः इस युगमें उत्पन्न

होते हैं। मनुष्य इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे प्रबलतम कर्मानुसार आगामी जन्मको पाते हैं, किन्तु अन्य गुणके कर्म भी साथ ही साथ रहनेसे प्रकृति मिली जुली होती है जिससे अच्छे बुरे सभी संस्कार उनमें पाये जाते हैं। आजकल कलियुगके प्रभावसे मिश्रकर्म्मवाले लोग बहुत होते हैं इसलिये इतर वर्णोंमें भी नीच आचरण करनेवाले लोग मिलते हैं।

आजकल चारों वर्णोंमें कर्म्मसङ्करताके ये ही उपर्य्युक्त कारण हैं जिनके कारण इतना सन्देह तथा गड़बड़ मचगया है। अब इस प्रकार वर्णसङ्कर और कर्म्मसङ्करमय कलियुगमें एक ही उपाय है जिससे वर्णव्यवस्थाके आदर्शको पूर्ण रखते हुए भी देश कालानुसार व्यवस्था हो सकती है। आदर्श वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा अवश्य ही करनी होगी क्योंकि बीजरक्षा न होनेसे अनुकूल देशकालमें पुनः वर्णधर्म्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी और ऐसा न होनेसे अर्थात् वर्णव्यवस्था नष्ट हो जानेसे आर्य्यजातिकी किस प्रकार सत्ता नाश होगी सो पहले कहा गया है और साथ ही साथ देश कालपर भी ध्यान रखना कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक तथा धर्म्मानुकूल है। इसलिये यही उपाय अब होना चाहिये कि एक वर्णके साथ अन्य वर्णका जो द्वेष या घृणाभाव विद्यमान है उसको दूर करके जिस वर्णके मनुष्यमें जिस शरीरकी श्रेष्ठता देखी जाय उसीका योग्य सम्मान करना चाहिये और उसको ऐसा ही अधिकार देना चाहिये। जिसका स्थूलशरीर शुद्ध अर्थात् उच्च वर्णका है उससे स्थूलशरीरसम्बन्धीय कार्य्य उच्च वर्णसे लेने योग्य जो हो सो लेना चाहिये। ऐसा ही जिस किसीका सूक्ष्मशरीर उन्नत है उससे सूक्ष्मशरीर विषयक उन्नत कार्य्य कराना चाहिये। उसका स्थूलशरीर निकृष्ट होनेपर भी सूक्ष्मशरीरके विचारसे ऐसा ही करना चाहिये। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि पूर्वकथित कारणोंके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण स्थूलशरीर सम्बन्धसे ब्राह्मण हो परन्तु उसका मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरका भाव नीच हो अर्थात् वह निर्बुद्धि या विषयासक्त हो तो उसके साथ बैठकर ब्राह्मण भोजन कर सकता है या उससे भोजन बनवाकर खा सकता है क्योंकि भोजन करना या बनवाना स्थूलशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। अवश्य यह भी विचार रक्खा जाय कि वह मनुष्य छिपा हुआ वर्णसङ्कर न हो क्योंकि वर्णसङ्कर होनेसे उसके हाथका अन्न भी नहीं खा सकते हैं और न एक पंक्तिमें भोजन हो सकता है। परन्तु उसका सूक्ष्मशरीर जब हीन है अर्थात् ब्राह्मणके सदृश चरित्र या बुद्धि नहीं है तो उसके

साथ बैठकर शास्त्रविचार नहीं कर सकते हैं या शास्त्र और उपासना तथा ज्ञानसम्बन्धीय कार्य्य उससे नहीं करा सकते हैं क्योंकि ये सब कार्य्य सूक्ष्म-शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं। उसको श्राद्धमें भोजन नहीं करा सकते हैं क्योंकि शास्त्रमें शक्तिमान् या विद्वान् ब्राह्मणको खिलानेकी आज्ञा है जिससे वह ब्राह्मण भोजनसे तृप्त होकर अपनी शक्तिके द्वारा मृत आत्माका कल्याण कर सके। परन्तु उस नाममात्र ब्राह्मणमें जब यह शक्ति नहीं है तो श्राद्धमें उसको खिलानेसे कोई फल नहीं है और मनुजीने भी ऐसा ही लिखा है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई शूद्र भी सूक्ष्मशरीरसे अच्छा हो तो उससे शास्त्र तथा विद्यासम्बन्धीय कार्य्य ले सकते हैं क्योंकि ऐसा विचार केवल सूक्ष्मशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु उसके साथ एक पंक्तिमें बैठकर द्विज लोग भोजन नहीं कर सकते हैं और न उसके हाथका अन्न ही खा सकते हैं क्योंकि उसका स्थूलशरीर पूर्व कहे हुए कारणोंमेंसे किसीके द्वारा शूद्रका हो गया है। इसलिये स्थूलशरीरसे अपूर्ण है, अतः स्थूल स्पर्श-दोषका सम्बन्ध अवश्य है इस कारण स्थूल शरीरका कार्य उससे ब्राह्मण नहीं ले सकते। और वह स्थूलशरीरसे शूद्र परन्तु सूक्ष्मशरीरसे ज्ञानी पुरुष यदि यथार्थज्ञानी तथा विचारवान् होगा तो ऐसा करना भी नहीं चाहेगा क्योंकि जब कर्म्मके वैचित्र्यसे उसको यह इतर योनि प्राप्त हुई है जिससे प्रमाण होता है कि पूर्व जन्ममें और कर्म उन्नत होनेपर भी कुछ स्थूलशरीरसम्बन्धीय कर्म उसके खराब थे जिससे स्थूलशरीर शूद्र मातापितासे उत्पन्न हुआ है तो उसका कर्त्तव्य है कि पूर्वकर्म्मका भोग स्थूल अंशमें ऐसा ही निभाया करे और सूक्ष्मशरीरसे उन्नत आचरण करे जिससे आगामी जन्ममें उसको स्थूल शरीर भी उन्नत वर्णका प्राप्त हो जाय। उसको वर्णव्यवस्थाके प्राकृतिक सिद्धान्तपर धक्का नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अज्ञानका कार्य होगा; परञ्च यथावत् स्थूल सूक्ष्म शरीरके विचारसे जिस शरीरमें जितनी योग्यता है उस शरीरसे उसी प्रकारका कार्य्य करना चाहिये। प्राचीन महर्षियोंने इसी प्रकारके धर्म्मका ही पालन किया है। यथा—समस्त ऋषि शूद्र सूतके मुखसे पुराणोंको सुनते थे क्योंकि सूत शूद्र होनेपर भी ज्ञानी थे; परन्तु उनके साथ ऋषियोंने स्थूलशरीरका कोई व्यवहार नहीं किया। मनुजीने भी नीच वर्णसे विद्या सीखनेको कहा है परन्तु उससे स्थूल व्यवहार करनेको नहीं कहा है। यही सत्य सिद्धान्त है। कोई शूद्र-शरीरधारी यदि ज्ञानी तथा सच्चरित्र हो तो ज्ञानका विषय सिखा सकता है

परन्तु वेदके मन्त्रभाग पढ़ने पढ़ानेका उसको कोई अधिकार नहीं होगा क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है सो उसका स्थूलशरीर शूद्र होनेसे अपूर्ण तथा वेदोच्चारणके योग्य नहीं है और वह यथार्थज्ञानी होगा तो ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि ऐसा करना अज्ञान है। यही सब वर्त्तमान देशकालमें वर्णव्यवस्थाके आदर्शको रखकर उन्नति करनेकी युक्ति है। किसी वर्णके प्रति घृणा न की जाय, किसीकी उन्नतिमें बाधा न दी जाय, जिसका जो शरीर जिस अधिकारका है उसके उस शरीरकी उन्नति उसी अधिकारके अनुसार की जाय, स्थूल शरीरकी उन्नति उसीके अधिकार तथा योग्यतानुसार और सूक्ष्मशरीरकी उन्नति उसीकी शक्तिके अनुसार की जाय एवं सबका सम्मान अधिकारानुसार किया जाय, तभी यथार्थमें भारतवर्षकी उन्नति होगी और इस घोर कलियुगमें वर्णव्यवस्थाकी बीज रक्षा होगी।

शंका समाधान—अर्वाचीन पुरुषोंने वर्णव्यवस्था-प्रकरणमें अनेक श्रुतिमन्त्र तथा स्मृतिके श्लोकोंका गलत अर्थ करके जिज्ञासुओंके चित्तमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है। इसलिये प्रसङ्गोपात्त शंका-समाधान रूपसे कुछ विषय कहे जाते हैं। प्रथमतः वर्णके साथ जन्मका सम्बन्ध नहीं है केवल इस जन्मके कर्मका ही सम्बन्ध है यह उनका कहना और दृष्टान्तमें जाबालि ऋषि, विश्वामित्र तथा मतंगका नाम लेना सर्वथा असत्य है। जाबालिका प्रकरण छान्दोग्य उपनिषद्के प्र० ४ खण्ड ४ में आता है। उसमें केवल इतना ही लिखा है कि सत्यकामकी माता जबालाने गृहकार्य्यमें अधिक व्यग्रताके कारण अपने पतिसे गोत्र कभी पूछा नहीं था, पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, जिससे गोत्रका पता नहीं लगा। आचार्य गौतमऋषिने सत्यकामके मुखसे इस सरल उत्तरको सुनतेही समझ लिया कि सत्यकाम ब्राह्मणका बालक है। अतः सत्यकाम अज्ञातकुल थे विद्या पढ़कर ब्राह्मण हो गये, यह कहना मिथ्या है। विश्वामित्रकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व अध्याय ३ में स्पष्ट ही है, कि चरुपरिवर्तनसे पिताका अंश ब्राह्मणका उन्हें पहिले ही मिला था और माताके क्षत्रियांशको बदलनेके लिये उन्होंने कितनेही वर्षों तक असाधारण तपस्या की थी, तब ब्रह्माजीने उन्हें ब्राह्मण स्वीकार किया था, यह असाधारण धर्म है, साधारण विधिमें प्रयुक्त नहीं हो सकता है। मतंगका उपाख्यान महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय २७ से २९ तकमें है, उसमें यही लिखा है कि उसने

ब्राह्मण होनेके निमित्त तपस्या तो की थी किन्तु इन्द्रदेवने उसे ब्राह्मण होनेका वर नहीं दिया। अतः अर्वाचीन पुरुषोंके ये तीनों दृष्टान्त अप्रासङ्गिक तथा मिथ्या हैं। द्वितीयतः यजुर्वेदके 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा भी इस जन्मके गुण-कर्म द्वारा वर्ण विचार करना सर्वथा असत्य है। थोड़ी बुद्धिवाले भी सोच सकते हैं कि उस मन्त्रमें जब 'अजायत' पद है तो जिन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मणादि विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गोंसे प्रकट हुए थे वे कर्म प्राक्तन अर्थात् पूर्व कृत अवश्य हैं नहीं तो वे उत्पन्नही कैसे हो सकते थे। अतः इस मन्त्रके द्वारा भी जन्मसे ही वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है, इस जन्मके गुण कर्मसे ही नहीं। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्के वा० उप० प्र० ५ खण्ड १० में मन्त्र आता है। यथा—

यथा हि रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

अर्थात् जिनके पूर्वकर्म अच्छे होते हैं उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यकी अच्छी योनि मिलती है और मन्द प्राक्तनवाले श्वान, शूकर, चाण्डालादि नीच योनियोंको पाते हैं। ये सभी वर्णन पूर्वकर्मानुसार आगामी जन्म पानेके विषयके हैं। इसके सिवाय मनु, आश्वलायन आदि स्मृतियोंमें जो त्रिवर्णका नामकरण, उपनयन आदि संस्कार भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न उमरमें करनेकी आज्ञा मिलती है और यहां तक कि इनके जनेऊ, मेखला, दण्ड आदिमें भी वर्णानुसार भेद बताये गये हैं सो जन्मके साथ सम्बन्ध बिना तो बन ही नहीं सकते हैं। यदि विद्या पढ़नेके बाद कर्मानुसार वर्ण निर्णय करना होगा तो कितने मूर्ख ब्राह्मणको जनेऊ उतार देना होगा, उनके लिये पहिले किया हुआ संस्कार सब व्यर्थ हो जायगा, कितनेका कपासका जनेऊ तोड़ सनका या सनका तोड़ मेषलोमका बनाना होगा और सारा संस्कार बदल देना होगा इसका क्या ठिकाना लग सकता है। अतः विचारकी दृष्टिसे देखनेपर अर्वाचीन पुरुषोंके ये सभी सिद्धान्त भ्रममात्र दिखाई देते हैं। यदि केवल विद्या पढ़नेसे ही ब्राह्मण हो जाता तो विश्वामित्रके पढ़े लिखे होनेपर भी इतने तप करनेका प्रयोजन क्या होता और विद्या तथा तपस्याहीन ब्राह्मणको मनुसंहिता और

महाभाष्यमें शूद्र न कहकर जातिब्राह्मण क्यों कहा जाता ? अतः ये सभी मिथ्या कपोलकल्पित युक्तियां हैं। यदि इस जन्मके गुणकर्ममात्रसे जाति बनती तो इतनी लड़ाई करनेपर भी परशुराम तथा द्रोणाचार्य क्षत्रिय क्यों नहीं कहलाये और गीताके उपदेष्टा होनेपर भी श्रीकृष्ण ब्राह्मण क्यों नहीं कहलाये, इतने बड़े तपस्वी और ज्ञानी विदुर शूद्र ही क्यों बने रहे और इतने पण्डित होनेपर भी कर्णको "मैं ब्राह्मण हूं" ऐसा झूठ बोलकर परशुरामके पास अस्त्र सीखनेको क्यों जाना पड़ा ? ये सभी विचारनेकी बातें हैं।

इसके अतिरिक्त अर्वाचीन पुरुषोंने जो विद्यासभा और राजनियमके बलसे मूर्ख ब्राह्मणपुत्रको शूद्रके घरमें और पढ़े लिखे शूद्रपुत्रको ब्राह्मणके घरमें डाल देनेको कहा है, यह बड़ी विचित्र बात है। अदूरदर्शी होनेके कारण उन्हें यह नहीं सूझा कि ऐसा करनेसे गृहस्थाश्रममें कितना अनर्थ तथा विप्लव उत्पन्न होगा और स्नेह, वात्सल्य आदि भावोंका कैसा सत्तानाश होगा।

प्रथमतो—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मासि पुत्र मा-मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥' सामवेदके ब्राह्मण भाग २ के इस मन्त्र द्वारा पिताके अङ्ग अङ्गसे निकला हुआ आत्मारूप पुत्र अन्यवर्णका हो ही नहीं सकता है और न अन्य वर्णका पुत्र अपनाही हो सकता है। आमके बीजसे आमही होता है, चाहे उसका वृक्ष बहुत बढ़े या न बढे। द्वितीयतः श्राद्ध तर्पण पिण्डदान-का अधिकार और पिताकी सम्पत्तिपर अधिकार अपने वर्णके औरस पुत्रका ही होता है, दूसरे वर्णके पुत्रका नहीं होता है, यही प्राचीन-शास्त्र-निर्दिष्ट दायभागकी व्यवस्था है, यथा—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ (अ० ९)

अर्थात् पिताके सब धनको औरस ज्येष्ठ पुत्रही ग्रहण करे, बाकी और सब सन्तान उसमेंसे पिताके सामने जैसे खाते पीते रहे। ज्येष्ठ पुत्रके उत्पन्न होनेसे ही पिता पुत्रवान् कहलाता है क्योंकि श्राद्ध पिण्डदानका अधिकारी होनेसे उसीके द्वारा पिता पितृऋणसे मुक्त होता है, अतः पिताकी सम्पत्ति-पर उसीका अधिकार है। यही दायभागकी व्यवस्था है। अर्वाचीन पुरुषों-

का सिद्धान्त मानने पर इन सब शास्त्रीय व्यवस्थाओंमें बड़ाही गड़बड़ पड़ जायगा और गृहस्थाश्रमकी शान्ति तथा सुख एक बारगी नष्ट हो जायगा। अतः ऐसी कल्पना भ्रममात्र है।

कहीं कहीं प्रायश्चित विवेकके श्लोकका पाठान्तर करके भी लोग गड़बड़ करते हैं। यथार्थ श्लोक यह है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाच्च विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

जन्मसे ब्राह्मण, उपनयनादि संस्कारोंसे, द्विज, वेदाभ्याससे विप्र और इन तीनोंकी पूर्णतामें 'श्रोत्रिय' ब्राह्मण कहलाता है। इसमें जो—

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते' इत्यादि पाठान्तर किया जाता है सो भूल है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मनुसंहिताके अनेक श्लोकोंसे केवल कर्म्मके द्वाराही जातिनिर्णय करनेकी चेष्टा की है परन्तु उनकी यह चेष्टा सर्वथा भ्रमयुक्त है। क्योंकि मनुजीने ऐसा कहीं नहीं लिखा है किंतु उन्हीं सब श्लोकोंके द्वारा मनुजीने वीर्य्यका या जन्मका प्राधान्य बताया है। यथाः—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (अ० १०)

शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्याको यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे और उस विवाहसे उत्पन्न कन्याको दूसरा ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकारसे ब्राह्मण सम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष (जन्म) पर्य्यन्त होवे तो सातवें जन्ममें वीर्यके प्राधान्यके हेतु वह वर्ण ब्राह्मण हो जाता है। इस प्रकारसे जैसा कि शूद्र ब्राह्मण होता है ऐसाही ब्राह्मणभी शूद्र हो सकता है और क्षत्रिय और वैश्यके विषयमें भी यही नियम जानना चाहिये। इन श्लोकोंमें स्पष्ट-रूपसे जन्मसे जाति और वीर्यका प्राधान्य वर्णव्यवस्थाके साथ दिखाया गया है। इसमें और किसी प्रकारकी व्याख्याका अवसर नहीं है। मनुजीने ऐसा ही और भी कहा है किः—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (२ य अध्याय)

इससे पहले और भी दो श्लोक इसी विषयके हैं, यथाः—

वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

इन तीनों श्लोकोंका क्रमशः अर्थ यह होता है कि वैदिक पुण्य कार्य्य द्वारा द्विजगणका गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये। ये सब वैदिक संस्कार इहलोक व परलोकमें पवित्र करते हैं। गर्भाधान, जातकर्म्म, चूड़ाकरण व उपनयनादि संस्कारोंके द्वारा द्विजोंके बीज व गर्भजन्य दोष नष्ट होते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, ब्रह्मचर्य्यदशामें देवर्षिपितृ तर्पण, गृहस्थमें सन्तानोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ द्वारा मनुष्योंका शरीर ब्रह्मपदप्राप्तिके योग्य होता है। इसमें पहले दो श्लोकोंसे रजोवीर्य्यसे उत्पन्न स्थूल शरीर-शुद्धि और तीसरे श्लोकसे सूक्ष्म व कारण शरीरकी शुद्धि बतायी गई है। क्योंकि जीवको ब्रह्मपद प्राप्ति तीनों शरीरोंकी शुद्धिसे ही हुआ करती है। द्विजातिगण इस प्रकार त्रिविध शुद्धिद्वारा ही मुक्तिपद प्राप्त कर सक्ते हैं। अर्व्वाचीन पुरुषोंने पहले दो श्लोकोंका अर्थ छोड़कर और तीसरेका अर्थ बिगाड़कर जन्मके उड़ानेकी चेष्टा की है सो सर्वथा मिथ्या है। इसी प्रकार आपस्तम्बके सूत्रके विषयमें भी अर्व्वाचीन लोगोंने भ्रान्तिसे कहा है कि "उसमें केवल कर्म्मसे ही जन्मकी व्याख्याकी गई है"। उसका अर्थ ऐसा नहीं है। वह सूत्र यह है किः—

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्व्वं पूर्व्वं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्म्मचर्य्यया पूर्व्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

धर्म्माचरणसे नीच वर्ण पूर्व पूर्व उच्च वर्णको प्राप्त होता है और ऐसा ही अधर्म्माचरणसे उच्च वर्ण भी नीच वर्णको प्राप्त होता है। यहां धर्म्म व

अत्रमें संस्कारका प्रभाव बताया गया है; परन्तु इसमें एकही जन्ममें वर्ण बदलता है ऐसा नहीं कहा गया है। क्योंकि, 'जातिपरिवृत्तौ' शब्दके द्वारा जन्म बदलनेसे आगेके जन्मोंमें क्रमशः उच्च नीच वर्णका होना बताया है। इस कारण—चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् (१।१।१) आपस्तम्बके ये भी दो सूत्र हैं जिनमें 'जन्मतः' श्रेष्ठता बता कर अपने ही मतकी पुष्टि की गई है। अतः इसमें अन्यथा अर्थ करना भ्रम-मूलक है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकारसे जातिके साथ जन्म व कर्म दोनोंका ही सम्बन्ध रक्खा गया है और जब आर्य्योंमें हीं नीच वर्ण, सात वंशपर्य्यन्त उच्चवर्णका वीर्य्यसम्बन्ध पाने पर, तब उच्चवर्ण बन सक्ता है तो अनार्य्यको शुद्ध करके आर्य्य बनाना कैसा उन्माद व अज्ञानका कार्य्य है, इसको विचारवान् पुरुष सोच सक्ते हैं। भगवान् मनुजीने कहा है किः—

जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः॥

अनार्य्य स्त्रीमें आर्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र गुणसे आर्य्य होते हैं और आर्य्य स्त्रीमें अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र अनार्य्य होते हैं। इसमें पहले प्रकारके पुत्र आर्य्य-वीर्य्यके कारण आर्य्यका गुण प्राप्त करेंगे, परन्तु आर्य्यकी जाति उनकी नहीं होगी और दूसरे प्रकारके पुत्र जो अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न होंगे उनमें वीर्य्यका भी प्राधान्य न रहनेसे वे जाति और गुण दोनोंहीसे अनार्य्य होंगे, यही शास्त्रका सिद्धान्त है। इसलिये अनार्य्योंको शुद्ध करके आर्य्य बनाना सर्व्वथा शास्त्रविरुद्ध और अन्याय है। हाँ, यदि कोई अनार्य्य आर्य्यधर्म्मके महत्त्वको जानकर इसके अन्तर्भुक्त होना चाहे तो होसक्ता है, किन्तु चतुर्वर्ण-में उसकी गिनती नहीं होगी। ऐसे ही यदि कोई आर्य्यधर्म्मावलम्बी जो भूलसे अन्य धर्म्ममें चले गये थे, पुनः आर्य्यधर्म्ममें आना चाहें, यदि उनका ऐसा कोई उत्कट दोष नहीं हुआ हो जिसका कि प्रभाव स्थूल शरीरपर भी पड़ गया हो और स्थूल शरीरको अनार्य्यभावोंसे ग्रस्त कर दिया हो, तो उनको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रीय विधानोंसे शुद्ध करके पुनः चतुर्व्वर्णमें ले सक्ते है। अथवा कोई चतुर्व्वर्णसे ही कर्म्म द्वारा पतित होकर अवान्तर वर्ण बन गया हो और उसका कर्म्म अब शुद्ध व उन्नत वर्ण जिससे कि वह गिर गया था उसके सदृश होगया हो तो उसको भी, यदि ठीक ठीक प्रमाण मिल जाय तो उसको अपने वर्णमें,

शुद्धकरके ले सकते हैं, परन्तु ये सब कार्य्य बहुत ही विचार और शास्त्रीय आज्ञा व अनुसन्धानके साथ होने चाहियें जिससे एक वर्णके साथ दूसरा वर्ण मिलनेसे कहीं वर्णसंकरता न फैल जाय। आजकल स्वदेश-हितैषिता और हिंदुओंकी संख्यावृद्धिके बहानेसे कोई कोई लोग अनार्य्योंको शुद्धकर आर्य्य बनाने लग पड़े हैं और वे लोग नीच वर्णको और धर्म्ममें चले जानेके डरसे उच्च वर्ण बना देते हैं। आर्य्योंकी संख्यावृद्धि और देशका हित हो यह सबका प्रार्थनीय विषय है, परन्तु ये सब कार्य्य आर्य्यत्व स्थायी रखकर करना चाहिये। आर्य्योंकी भलाई व उन्नति आर्य्य रहकर ही हो सकती है, आर्य्यत्वको नष्ट करके अनार्य्य बनकर नहीं हो सकती है। यही यथार्थ स्वदेशहितचिन्ता है। धर्म्म व आर्य्यत्वको छोड़कर स्वदेश-हितचिन्ता वास्तविक हितचिन्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानकृत अहितचिन्ता है। आर्य्य यदि आर्य्य ही न रहे तो उनकी उन्नति किस कामकी होगी, किन्तु इस प्रकार अनार्य्योंको आर्य्य बनाकर संख्यावृद्धि करनेसे आर्य्यत्व भ्रष्ट हो जायगा, हिन्दुजाति अहिन्दु हो जायगी। इसलिये उस प्रकारकी शुद्धि व संख्यावृद्धिका ख्याल सर्व्वथा भ्रमयुक्त है और अन्य धर्म्ममें चले जानेके डरसे नीच वर्णको उच्च वर्ण बना देना भी इसी प्रकार शास्त्र व जातीयतासे विरुद्ध है। इससे वर्णसंकरता-वृद्धि होकर आर्य्यजाति नष्ट हो जायगी। संख्यावृद्धि अच्छी वस्तु है, परन्तु धर्म्मको छोड़कर संख्यावृद्धि ठीक नहीं है। आर्य्यजातिकी जातीयता व उन्नति धर्म्ममूलक होनी चाहिये, अन्यथा उन्नति कभी नहीं हो सकती है। पूर्व विज्ञानसे सिद्ध किया गया है कि, एक जाति थोड़ीसी शुद्धिसे ही अन्य जाति नहीं बन सकती है, कर्मके अच्छे होनेसे अगले जन्ममें जाकर बन सकती है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर इन नीच जातियोंको शिक्षा देनी चाहिये, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, उनको विद्या पढ़ाना चाहिये, वे दरिद्रता व लोभसे दूसरे धर्म्ममें जाते हैं इसलिये उनकी गरीबी हटाना चाहिये व उनके अधिकारके अनुसार उनको सत्‌शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे उन्नत व शिक्षित भी होंगे और भिन्न धर्म्मोंमें नहीं जायँगे। इस प्रकारसे धर्म्मकी भी रक्षा होगी और हिन्दुजाति-की संख्या नहीं घटेगी, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। शुद्धिके विषयमें स्थानान्तरमें और भी विचार किया जायगा।

वर्णव्यवस्थाके विषयमें कहीं कहीं यह भी शंका की जाती है कि इससे

स्त्री तथा शूद्र वर्णको बहुत नीचा दिखाया है और उनको उन्नतिके पथमें जाने-से रोक दिया है। क्योंकि स्मृतिकारोंने उनके लिये वेदपाठ, वैदिक संस्कार आदि सब कुछ निषेध कर दिया है। यह कटाक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्री शूद्रके लिये वेदपाठका निषेध महर्षियोंने पक्षपात या निष्ठुरतासे नहीं किया है, किन्तु कृपानिमित्त दूरदर्शिताके साथ किया है। महाभाष्यमें लिखा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

वेदमन्त्रके उच्चारणमें जो उदात्त अनुदात्त, लाघव गौरव, स्वर तथा वर्ण आदिका विचार रखना होता है, उसके बिना यदि गलत उच्चारण कोई वेदमन्त्रका करे तो उससे उसकी तथा उसके कुलकी हानि होती है। सभी लोग जानते हैं कि, स्त्रियोंके कण्ठसे सब स्वर ठीक ठीक उच्चारित नहीं हो सकते और तमोभावके आधिक्यके कारण असम्पूर्ण शरीर तथा अपूर्ण कण्ठ शूद्रके द्वारा भी मन्त्रोंका यथार्थ उच्चारण नहीं हो सकता है। अतः इनके द्वारा अशुद्ध वेदोच्चारणसे इन्हींकी तथा इनके वंशकी हानि हो सकती है, ऐसा जान कर दूरदर्शी दयालु महर्षियोंने मन्त्रभागको छोड़कर इन्हें और सब शास्त्र पढ़ने कहा है और महाभारतादि ग्रन्थ जो कि पञ्चम वेद कहाता है, इन्हीको लक्ष्य करके बना दिया है, यथा भागवत पुराणमें—

स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढ़ानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

स्त्री, शूद्र और अधम ब्राह्मणोंको वेद पढ़ना या सुनना नहीं चाहिये, इसी लिये महामुनि व्यासदेवने इनके कल्याणके अर्थ पञ्चमवेदरूपी महाभारतकी रचना करदी। इसमें शूद्रोंकी तरह नीच ब्राह्मणोंको भी वेद पढ़नेका निषेध किया गया है। इसीसे महर्षियोंका पक्षपातरहित उदार समदर्शी भाव विदित हो सकता है। अर्वाचीन पुरुषोंने इस रहस्यको न जानकर कहीं तो सुश्रुतके प्रमाणसे शूद्रोंके लिये जनेऊ और वेदपाठका निषेध कर दिया है और कहीं पर वेदमन्त्रका उलटा अर्थ करके वेदका पढ़ना भी कह दिया है। यथा "शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नमन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेत्" सुश्रुतके सूत्रस्थानके दूसरे अध्यायका यह वचन है। इसमें कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्रको वेदके

मन्त्रभागको छोड़कर शास्त्रपाठकी आज्ञा दी गई है, सो ठीक ही है। किन्तु 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' इत्यादि यजुः अ० २६।२ के मन्त्रका गलत अर्थ करके पुनः स्त्री शूद्र सभीको जो वेद पढ़नेके लिये कहा गया है, यह भूल है। मन्त्र निम्नलिखितरूप है, जिसको उन लोगोंने पूरा कहा ही नहीं है।—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥

हे जनाः! जनेभ्यः अहं राजा ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय अर्याय स्वाय अरणाय च यथा इमां कल्याणीं वाचं आवदानि, देवानां दक्षिणायै दातुः यथा च प्रियो भूयासं यथा च अयं मे कामः समृद्ध्यतां यथा च उप, मा, अदः, नमतु, तथा मद्राज्यस्थिता भवन्तः कुर्वन्तु। जनेषु इभ्यः पूज्यः राजा इति भावः।

इस मन्त्रमें राजा अपनी समस्त प्रजाओंको एकत्रित कर कहता है, हे मनुष्यो! जिस प्रकार मैं राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य अरण इन सबोंके प्रति इनके कल्याण करनेवाली वाणीका उपदेश कर सकूं, जिस प्रकार देवताओंपर दक्षिणा चढ़ानेवालोंके लिये मैं प्यारा बनूं, जिस प्रकार यह मेरी कामना पूर्ण हो और जिस प्रकार परोक्ष सुख मुझको प्राप्त हो उस प्रकार तुम काम करो। इसमें केवल राजा प्रजाका संवादमात्र है, इसमें ईश्वर या वेद पढ़ने पढ़ानेका नाम भी नहीं है। क्योंकि ईश्वरके लिये 'कामना पूर्ण हो,' 'सुख प्राप्त हो' आदि शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकता है। इसमें अर्वाचीन लोगोंने नीरे गलत अर्थ करके अपना पक्षपात पूरा करना चाहा है, शूद्रवर्णके लिये वेदनिषेधका मन्त्र अथर्ववेद १६।७१।१ में भी मिलता है, यथा—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

मैंने वर देनेवाली वेदमाता गायत्रीकी स्तुति की है, वह मुझे शुभकार्यमें प्रेरित करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यरूपी द्विजोंका पवित्रकरनेवाली वह

मुझे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति, धन, ब्रह्मतेज देकर ब्रह्मलोकको चली जावे। इसमें वेदका अधिकार द्विजको ही बताया गया है, शूद्रको नहीं। अतः उपनयन तथा वेदका अधिकार शूद्रको नहीं हो सकता। इसी कारण मनुजीने भी कहा हैः—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्यधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम् ॥
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः ।
मंत्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ (१०म अध्याय)

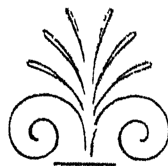
हीन जाति होनेके कारण पाप शूद्रोंको नहीं लगता है, उनके लिये उपनयनादि संस्कार नहीं है, उनका उच्च धर्ममें अधिकार भी नहीं है और सामान्य धर्ममें निषेध भी नहीं है। धर्मज्ञ, सद्वृत्तिसम्पन्न शूद्र धर्मकी इच्छा करके यदि पञ्चमहायज्ञादिक अनुष्ठान वैदिक मंत्र छोड़कर करें तो प्रशंसाके ही पात्र होते हैं और इस तरहसे उत्तम आचरणमें रहनेपर इहलोक एवं परलोकमें उन्हें कल्याण प्राप्त होता है। इन वचनोंसे यही प्रमाणित होता है कि, उपनयन तथा वेदादिका अधिकार न होनेपर भी अच्छे आचरणमें रहकर शूद्रजाति विशेष उन्नतिको प्राप्त कर सकती है। श्रीभगवान् वेदव्यासने भी वेदान्तसूत्रमें शूद्रोंको वेदाध्यपनादिका निषेध किया है, यथा—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च । अ. १. पा ३. सूत्र ३६
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च । ,, ,, ,, ३८

उपनयन संस्कार विना वेदाधिकार नहीं होता है, शूद्रका उपनयन नहीं है, अतः वेदाधिकार भी नहीं है। शूद्रको वेदका श्रवण तथा अध्ययन इन दोनोंका निषेध है। और स्मृति भी इसी बातको समर्थन करती है। कात्यायन श्रौतसूत्र १।१।१ में भी—'अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्डशूद्रवर्जम्' अर्थात् अङ्गहीन, अश्रोत्रिय, नपुंसक और शूद्रका यज्ञमें अनधिकार बताया गया है। इसके सिवाय 'वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्' इत्यादि कितने ही स्मृतिवचनोंके द्वारा ऊपर लिखित विज्ञानके अनुसार पूज्यचरण महर्षियोंने शूद्रवर्णको वेद

न पढ़ाकर अन्यान्य शास्त्रोंके पठनपाठन द्वारा उन्नति करनेकी जो आज्ञा दी है, सो उनके कल्याण-विचारसे ही है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। यही अर्वाचीन पुरुषोंके द्वारा उपन्यस्त शंकाओंका यथाशास्त्र समाधान है। स्त्री-जातिके वेदपाठ तथा वैदिक संस्कारादिके विषयमें 'नारीधर्म' प्रकरणमें विशेषरूपसे चर्चा की जायगी।

इस प्रकार धर्मसुधाकरका द्वितीय किरण समाप्त हुआ।



तृतीय किरण ।

आश्रमधर्म्म ।

संक्षेपसे आश्रमधर्म्मका वर्णन किया जाता है। जीवनसंग्राम व वैषयिक भावके बढ़ जानेसे तथा देशकालके भिन्नरूप हो जानेसे महर्षियोंके द्वारा विहित चतुराश्रमधर्म्म ठीक ठीक पालन करना आजकल बहुतही कठिन हो गया है। तथापि महर्षियोंकी दूरदर्शिता मायामुग्ध जीवोंके लिये सदाही कल्याणकर होनेसे मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि, उनके द्वारा विहित आश्रमधर्म्मको ध्रुवताराकी नाईं लक्षीभूत रखकर जीवन तरणिको संसार समुद्रमें डाल देवें, जिससे शान्तिमय गन्तव्यस्थल उनके लिये सुलभ व निश्चित हो जाय। मनुजीने कहा है कि:—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।

मनुष्योंकी प्रवृत्ति ही विषयोंकी ओर है परन्तु निवृत्ति महाफलप्रदायिनी है। पहलेही कहा गया है कि, मनुष्ययोनिमें आकर स्वतन्त्रता व अहङ्कार बढ़ जानेसे इन्द्रियलालसा व भोगप्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रवृत्तिको धीरे धीरे घटाकर मोक्षफलप्रद निवृत्तिमार्गकी ओर ले जाना ही मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। आश्रमधर्म इसी कर्त्तव्यके उपायोंको बताता है। ब्रह्मचर्य्याश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिके लिये शिक्षालाभ होता है, गार्हस्थ्यमें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है, वानप्रस्थ आश्रममें निवृत्तिमार्गके लिये शिक्षालाभ होता है और संन्यासआश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। पूर्वकर्म्म बलवान् होनेसे ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा साधारण रीति तो यह है कि, प्रवृत्तिमार्गसे ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्गमें जाया जाय। सब आश्रमोंमें संन्यास श्रेष्ठ होनेसे संन्यासी वर्णगुरु ब्राह्मणोंके भी प्रणाम करने योग्य हैं, इसलिये संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, ऐसी सम्मति कहीं कहीं मिलती है तथापि मनुजीने द्विजगणके लिये ही चारों आश्रमोंकी व्यवस्था दी है और वेदादिमें अनधिकार और शारीरिक असम्पूर्णताके कारण शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था दी है। ऐसा

ही आश्रमका आदर्श है। अब कालके प्रभावसे वर्णधर्ममें किस प्रकार व कैसा व्यतिक्रम हो गया है और इस दशामें वर्णधर्मके आदर्शको अटल रखकर देश कालके अनुसार कैसी व्यवस्था हो सकती है, सो वर्णधर्मके अध्यायमें पहले कहा गया है। इसलिये जब वर्णधर्मका सम्बन्ध आश्रमधर्मके साथ भी है तो, आश्रमधर्मके भी आदर्शको महर्षियोंके आज्ञानुसार अटल रखकर देश काल पात्रके साथ मिलाकर काम करना होगा। अब शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंका कर्त्तव्य बताया जाता है।

ब्रह्मचर्य्याश्रम।

प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम है। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें इसके विषयमें विशेष वर्णित है। द्विज पिताका कर्त्तव्य है कि यथासमय पुत्रका उपनयन करके उससे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करावे। उपनयन कालके विषयमें मनुजीने कहा है कि:—

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलाऽर्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे॥
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्त्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥
अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः॥

गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मणमें ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रियको बल प्राप्त हो और वैश्यको धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पांच छः व आठ वर्षमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन होना चाहिये। सोलह वर्ष पर्य्यन्त ब्राह्मणका, बाईस वर्ष पर्य्यन्त क्षत्रियका और चौबीस वर्ष पर्यन्त वैश्यका उपनयनकाल अतीत नहीं होता है। इतने वर्षतकमें भी यदि उपनयन नहीं हो तो द्विज उपनयन भ्रष्ट होकर व्रात्य कहलाते हैं और आर्यजनोंमें उनकी निन्दा होती है, अतः यथासमय उपनयन संस्कार करना उचित है। तदनन्तर ब्रह्मचारीका वेष

दण्ड वसन मेखला आदि धारण कराकर गुरुके आश्रममें बालकको भेजना चाहिये या और तरहसे ब्रह्मचर्य व्रत पालन कराना चाहिये।

ब्रह्मचर्य व्रत पालनके लिये जितने कर्त्तव्य शास्त्रोंमें बताये गये हैं उन सबको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—वीर्य्यधारण, गुरुसेवा व विद्याभ्यास।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संयम, गृहस्थाश्रमकी धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या व संन्यासाश्रमका ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्याश्रमकी वीर्य्यरक्षा पर निर्भर करते हैं। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

सेवेतेमाँस्तु नियमाः ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥
वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्कचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं जपेत् ॥

ब्रह्मचारी गुरु-आश्रममें वास करनेके समय इन्द्रियसंयम करके तपोबल बढ़ानेके लिये नीचे लिखे हुए नियमोंको पालन करें। उनको मधु, मांस, गन्धद्रव्य, माल्य व रस आदिका सेवन और स्त्रीसम्बन्ध त्याग करना चाहिये। जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारणसे अम्ल हो गया है, इस प्रकारकी वस्तु ब्रह्मचारी कदापि सेवन न करे और किसी जीवकी हिंसा न करे। तैलमर्द्दन, आँखोंमें अञ्जन, पादुका व छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीड़ा, मनुष्योंके साथ वृथा वाक्कलह या दोषदर्शन,

मिथ्यावचन, स्त्रियोंके प्रति कटाक्ष या आलिङ्गन, दूसरोंका अपकार, ये सभी ब्रह्मचारीके लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचारी एकाकी शयन करें, कभी रेतःपात न करें, इच्छासे रेतःपात करनेपर ब्रह्मचारीका व्रत भङ्ग हो जाता है, यदि इच्छा न होनेपर भी कभी स्वप्नमें शुक्रनाश हो जाय तो स्नानकरके व सूर्य्यदेवकी पूजा करके तीन वार "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" अर्थात् मेरा वीर्य्य मेरेमें पुनः लौट आवे, इस प्रकारका वेदमन्त्र पढ़ना चाहिये। यही सब ब्रह्मचर्य्यरक्षाकी विधि है।

संसारमें देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रधानतः आधिभौतिक या आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करनेकी शक्ति विद्यमान है; परन्तु यदि किसी वस्तुमें एकाधारमें ही तीनों प्रकारकी उन्नति करनेकी शक्ति है ? तो यही कहना पड़ेगा कि वह परमवस्तु ब्रह्मचर्य्य ही है। अब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति कैसे होती है सो बताया जाता है।

मुण्डकोपनिषद्में लिखा है किः—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्॥

सत्य, तपस्या, ज्ञान व ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य्य ज्ञानरूप प्रदीपके लिये स्नेहरूप है, संसारसमुद्रमें दिग्भ्रान्तजीवोंके लिये ध्रुवतारारूप है व जगद्यन्त्रकी जीवनीशक्ति है। इसीको ही आश्रय करके आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति-साधन करता हुआ जीव परमात्माका साक्षात्कार लाभ कर सकता है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है किः—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।

ब्रह्मचर्य्य ही यज्ञ और इष्टरूप है जिससे मनुष्य आत्माको प्राप्त हो सकता है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है किः—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

वेदवित् ज्ञानीगण जिसको अक्षर पुरुष कहते हैं, वासनारहित यतिगण जिस परमपदको प्राप्त करते हैं, जिस परमपदकी इच्छासे साधक लोग ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं, उसके विषयमें मैं संक्षेपसे कहता हूँ। श्रीभगवान्ने इस श्लोकमें ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति तथा आत्माकी उपलब्धि होती है ऐसा बताया है। जिस शक्तिद्वारा महर्षि लोग प्राचीनकालमें ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करके दिग्दिगन्तमें उसकी छटाको फहराते थे; और जिस शक्तिके द्वारा उनके समाधिशुद्ध अन्तःकरणमें वेदकी ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊर्द्ध्वरेता महर्षियोंमें ब्रह्मचर्य्य शाक्त ही है। आज हीनवीर्य्य भारतवासियोंमें ब्रह्मचर्य्यकी शक्ति नष्ट होनेसे वेद देखना तो दूर रहा उसका अर्थ करना तथा उच्चारण करना भी असम्भव हो गया है और हजारों प्रकारके सन्देह वेदके अर्थ हो रहे हैं। छान्दोग्योपनिषद्में इन्द्रविरोचनसम्वादमें इस सिद्धान्तको स्पष्टतया दिखाया गया है कि केवल ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। वहां ब्रह्माजीने दोनोंको ही बत्तीस बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य-पालनकी आज्ञा की है। समाधिके समय शरीरके भीतर जो वैद्युतिकशक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही योगी कर सकते हैं। अन्यथा—अल्पवीर्य्यसाधक योगानुष्ठान करे, तो कठिन रोगसे आक्रान्त हो सकता है। मानवशरीर भगवान्का पवित्र मन्दिर है परन्तु इस मन्दिरकी भित्ति ब्रह्मचर्य्य ही है जिसके विना भगवान् कभी हृदयमन्दिरमें सुशोभित नहीं हो सकते हैं। उपनिषदोंमें लिखा है कि:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धनका और निर्विषय मन मोक्षका कारण है। योगशास्त्रका सिद्धान्त यह है कि मन वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्बन्धसे युक्त हैं। इनमेंसे एक भी वशीभूत हो तो और दो वशीभूत हो जाते हैं। जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य्यके द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मनके वशीभूत होनेसे निर्विषय अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका स्फुरण होता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होनेके प्रमाण हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक उन्नति भी होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठा होनेसे परमशक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शनके विभूतिपादमें जितने प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, यथा—सूर्य्यमें संयमसे भुवनज्ञान और संस्कारोंमें संयमसे परचित्तज्ञान आदि, ये सभी ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्ति प्राप्त करनेका फल है। महर्षि लोग जो अष्ट सिद्धि प्राप्त करके संसारमें सभी दैवी बातोंको कर दिखाते थे जिनकी शक्तियोंको स्मरण करनेसे दीन हीन भारतवासियोंके मृतकङ्कालमें आज भी प्राणका सञ्चार होने लगता है और संसारमें जो बड़े बड़े कर्म्मवीर और धर्म्मवीर महापुरुष अपनी शक्तिके प्रतापसे अलौकिक कार्यौंको कर गये एवं धर्म्मका और देशका उद्धार किया यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक शक्ति प्राप्त करनेका ही फल है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है किः—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

ब्रह्मचर्य्य द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोकमें सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्तिलाभका ही फल है। इसी शक्तिको प्राप्त होनेसे ही भीष्मपितामहको इच्छा-मृत्यु-लाभ हुआ था और शरशय्या पर शयन करके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्मज्ञान और धर्मोपदेश किया था। मनुसंहितामें उत्तरायणगतिकी बात इस प्रकार लिखी है किः—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥

परिव्राजक योगी और सन्मुखयुद्धमें वीरकी तरह प्राण समर्पण करनेवाले महापुरुष, ये दोनों ही सूर्य्यमण्डलभेद करके उत्तरायण गतिको प्राप्त करते हैं। उनको दुःखमय संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता है। इस प्रकार ऊर्द्ध्वगतिलाभ ब्रह्मचर्य्यकी ही महिमा प्रकट करता है।

तीसरी ब्रह्मचर्य्यसे आधिभौतिक उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है किः—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्।

स्थूलशरीरकी रक्षा किये विना मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता है। मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्यके ऊपर निर्भर करती है। शरीरमें सबसे उत्तम धातु वीर्य है जिसकी रक्षासे

स्वास्थ्यकी रक्षा हुआ करती है। चिकित्साशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि भुक्त अन्न पाकस्थलीमें जाकर पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य्य बनता है। इस प्रकार अन्नके रससे एक महीनेमें वीर्य्य बनता है और ४० चालीस बिन्दु रक्तसे एक बिन्दु वीर्य्य होता है। इसीसे समझ सकते हैं कि शरीरकी रक्षाके लिये वीर्य्यका कितना प्राधान्य है। वीर्य्य ही समस्त शरीरका प्राणरूप है। वीर्य्यके स्तम्भनसे प्राणकी पुष्टि, समस्त शरीरमें कान्ति और मानसिक शान्ति रहती है। वीर्य्यके नाशसे प्राणनाश और सकल प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरकी नीरोगताके विषयमें महर्षियोंने कहा है किः—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेः स्युस्त्रयो गुणाः ।
तेषां गुणानां यत्साम्यं तदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम् ॥

प्रकृतिके तीन गुण हैं, उनकी समतासे शरीर और मनकी स्वास्थ्यरक्षा हुआ करती है। इन तीनों गुणोंके अनुसार शरीरमें पित्त वायु और कफ तीनोंकी स्थिति रहती है। पित्त सात्त्विक, वायु राजसिक और कफ तामसिक है। वायु पित्त और कफकी समतासे शरीर नीरोग रहता है और अन्तःकरणमें भी आनन्द तथा शान्ति रहती है। वीर्य्यके साथ वायुका सम्बन्ध होनेसे वीर्य्यके स्थिर रहनेपर वायु भी शान्त रहता है जिससे मन भी शान्त रहता है। अन्तःकरणके शान्त रहनेसे मनुष्य परम सुखी और आध्यात्मिक उन्नतिशील होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि ब्रह्मचर्य्यरक्षा ही सकल आनन्दकी निदान है। यह बात पहले ही कही गई है कि शरीरके भीतर मनोवहा नामकी एक नाड़ी है जो कि मनुष्यके चित्तमें कामभाव होते ही दूधको मथन करके माखन निकालनेकी तरह शरीर और रक्तको मथन करके वीर्य्यको निकालती है। मनोवहा नाड़ीके साथ शरीरकी सब नाड़ियोंका सम्बन्ध है इसलिये शुक्रनाशके समय शरीरकी सब नाड़ियां कांप उठती हैं, शरीरके भीतर वज्राघात होनेसे जैसा कम्पन और आघात होता है वैसा होता है, शरीरके सब यन्त्र हिल जाते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शरीर और मन पर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रियाके अन्तमें शरीर व मन अतिदीन, खिन्न, दुर्बल और मृतप्राय होकर दुःखके अनन्त समुद्रमें डूब जाता है। इसी लिये गीतामें लिखा है किः—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जिस प्रकार किसी मृत पुरुषके सामने काम या क्रोधका कोई विषय रखने पर भी उसके शरीर और मनमें कोई चाञ्चल्य नहीं होता है; उसी प्रकार जीते ही जिसने शरीर और मनको ऐसा शान्त कर लिया है कि किसी प्रकार काम व क्रोधसे इन्द्रियां चञ्चल न हों वही योगी और सुखी है। चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्यके खूनमें दो प्रकारके कीट होते हैं, एक सफेद (White corpuscle) व दूसरे लाल (Red corpuscle), इन दोनोंमेंसे सफेद कीट रोगके कीटोंसे लड़ाई कर शरीरको रोगसे रक्षा करते है क्योंकि हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सब रोगोंके कीट होते हैं जो कि शरीर पर आक्रमण करके उसे नष्ट करते हैं। अब यह बात निश्चय है कि रक्तको मथन करके वीर्य्य निकल जानेसे रक्त निःसार हो जायगा जिससे वे सब रक्तके कीट भी दुर्बल हो जायंगे। अतः उनमें रोगके कीटोंके साथ लड़ाई करके शरीरकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं रहेगी। इसका फल यह होगा कि शरीर बहुत प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त हो जायगा, शारीरिक आरोग्यता नष्ट हो जायगी और मनुष्य जीता ही मुर्देकी तरह बना रहेगा। यही सब शुक्रनाश का फल है। जिस प्राणके साथ शरीरका इतना सम्बन्ध है कि उसके अभावसे शरीर मृत हो जाता है, वीर्य्यके नाशसे उस प्राणशक्तिका भी नाश होने लगता है जिससे मनुष्य अल्पायु और चिररोगी हो जाते हैं। योगशास्त्रमें श्वास प्रश्वास पर संयम करके लिखा गया है कि मनुष्योंकी नियमित आयुके लिये नियमित श्वासकी भी आवश्यकता होती है। साधारण अवस्थामें सारे दिन और रातके बीचमें प्रत्येक मनुष्यके श्वास २१६०० इक्कीस हजार छः सौ बार निकलते हैं। योगकी शक्तिसे इस श्वाससंख्याको घटानेसे आयु बढ़ती है। योगी लोग इसी प्रकारसे दीर्घायु होते हैं। और भी योगशास्त्रमें लिखा है किः—

देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशांगुलिः।
भोजने षोडशाङ्गुल्यो गायने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्॥

स्वभावेऽस्य गते न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते ।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चाऽन्तराद्गते ॥
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ।

जो दिवारात्रमें २१६०० इक्कीस हजार छः सौ वार श्वास निकलता है उसी हिसाबसे निकला करे तो प्रत्येक श्वासका वायु १२ बारह अंगुलि तक नासिकासे बाहर जायगा। यही स्वाभाविकरूपसे निकलते हुए श्वासकी पहुंच है। यही श्वास भोजन करते समय १६ सोलह अंगुलि, गान करते समय २० बीस अंगुलि, रास्ते चलते समय २४ चौबीस अंगुलि, निद्रा लेते समय ३० तीस अंगुलि, मैथुनके समय ३६ छत्तीस अंगुलि और व्यायाममें उससे भी अधिक दूर तक पहुँचता है। श्वासकी इस स्वाभाविक गतिको रोककर घटानेसे आयु बढ़ती है और भीतरसे अधिक दूर तक श्वास जानेसे आयुःक्षय होता है। व्यायाममें श्वास अधिक निकलनेपर भी व्यायामकी खास प्रतिक्रियासे शरीर सबल तथा नीरोग रहता है, परन्तु इससे आयुकी वृद्धि नहीं होती है। प्राणायाम करनेपर शरीर सबल तथा नीरोग रहता है और आयु भी बढ़ती है। इसीलिये शास्त्रमें कहा है किः—

प्राणायामः परं बलम् ।

प्राणायाम परम बल है। इस तरहसे प्राणायामकी स्तुति व उसके करनेकी आज्ञा की गई है। परन्तु मैथुनमें व्यायामका कोई फल नहीं होता है, उलटा श्वास ३६ छत्तीस अंगुलि तथा अधिक निकलनेसे विशेषरूपसे आयुःक्षय होता है। स्वाभाविक श्वास जो कि १२ बारह अंगुलि है उससे तीन गुण अधिक जोरसे श्वास निकलने पर मनुष्य बहुत ही अल्पायु हो जाता है और प्राणरूप वीर्य्यके निकलनेसे अत्यन्त दुर्बल तथा रुग्णदेह हो जाता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यनाशका विषम फल है। इसीलिये योगशास्त्रमें कहा है किः—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

वीर्य्यनाशसे मनुष्यका मृत्यु और वीर्य्यधारणसे मनुष्यका जीवन है।

शरीरके समस्त यन्त्रोंमेंसे स्नायु, पाकस्थली, हृदय तथा मस्तिष्क ये चार यन्त्र मुख्य हैं। वीर्य्यनाशसे इन चारों यन्त्रोंपर कठिन आघात पहुँचता है। कामका तुच्छ सुख केवल इन्द्रियके स्नायुओंके चाञ्चल्यसे ही होता है,

परन्तु पुनः पुनः चञ्चल करनेसे वे सब नसें दुर्बल हो जाती हैं और साथ ही साथ समस्त शरीरके स्नायुओंमें आघात होनेसे वे सब भी दुर्बल हो जाते हैं। फल यह होता है कि स्नायुओंके दुर्बल होनेसे उनमें वीर्य्यधारण करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे सामान्य काम सङ्कल्प तथा चाञ्चल्यसे ही वीर्य्य नष्ट होने लगता है और धातुदौर्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन कठिन रोग हो जाते हैं। और शरीरके स्नायुओंपर धक्का अधिक लगनेसे पक्षाघात, ग्रन्थिवात, अपस्मार (मृगी) आदि भीषण रोगोंकी उत्पत्ति होती है। केवल इतना ही नहीं, जिस विषयसुखके लिये विषयी लोग ब्रह्मानन्दको भी तुच्छ समझते हैं वह विषयसुख भी ब्रह्मचर्य्यके नहीं पालनेसे, उसे वे पूरा भोग नहीं सकते हैं क्योंकि धातुदौर्बल्य, वीर्य्यतारल्य या स्नायविक दौर्बल्य होनेसे वीर्य्यधारणकी शक्ति नष्ट हो जाती है और सामान्य काम सङ्कल्प तथा स्त्रीके देखनेमात्रसे ही वीर्य्यनाश होने लगता है इस कारण विषयसुख और गार्हस्थ्य सुख भी उन्हें पूरा नहीं मिलता है। उनकी स्त्रियां अतृप्ता रहनेसे उनमें व्यभिचारिणी होनेकी सम्भावना रहती है जिससे कुल नष्ट, वर्णसङ्कर सृष्टि तथा पितरोंका पिण्डनाश होता है और संसारमें दारिद्र्य, दुर्भिक्ष और हजारों प्रकारकी अशान्ति फैलती है। द्वितीयतः अपानवायुके साथ प्राणवायुका और प्राणवायुके साथ वीर्य्यका सम्बन्ध रहनेसे अपानवायुके साथ भी वीर्य्यका सम्बन्ध है और अपानवायुके साथ पाकयन्त्र, वायु तथा उपस्थयन्त्रका सम्बन्ध है। अपानके ठीक रहनेसे अन्नका परिपाक भी ठीक ठीक होता है जिससे अजीर्णका रोग नहीं होता है। परन्तु वीर्य्यके नाश या चाञ्चल्यसे जब अपानकी क्रियामें भी खराबी हो जाती है तब पेटमें अन्न नहीं पचता है, अजीर्ण रोगसे शरीर आक्रान्त हो जाता है, आज अम्लरोग हुआ, कल पेट फूल गया, परसों डकार आता है, अम्लशूल, हैजा, ग्रहणी, उदरामय, मन्दाग्नि आदि कितनी ही बीमारियां शरीरको ग्रास कर लेती हैं और संसारमें ऐसा कोई रोग नहीं है जो कि अजीर्णरोगके परिणामसे नहीं हो सकता है। बहुमूत्र, शिरोरोग, धातुरोग, दृष्टिहीनता, रक्तविकार, अर्श आदि सभी रोग अजीर्ण-रोगके परिणामसे होते हैं और मनुष्यके जीवनको भारभूत तथा अशान्तिमय कर देते हैं। अपानवायुके खराब होनेसे पायुयन्त्रके भी सब रोग हो जाते हैं। यथा—समय पर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द हो जाना, पेटमें आम होना आदि बहुत रोग हो जाते हैं। जिस उष्णताके रहनेसे

पेटमें अन्न पचता है, वीर्य्यनाशसे वह उष्णता नष्ट हो जाती है जिससे पित्त-प्रकृति नष्ट होकर कफप्रकृति होती है और पित्त दुर्ब्बल होनेसे अजीर्ण होता है। तृतीयतः वीर्य्यके निकलते समय कलेजेमें धक्का बहुत लगता है क्योंकि जब हृदय ही रक्तका मूलस्थान है तो जितनी वार दुग्धके सारभूत मक्खनकी तरह रक्तका सारभूत वीर्य्य नष्ट होगा उतनी ही वार दुर्ब्बल रक्तको पुष्ट करनेके लिये हृद्यन्त्रसे रक्तका प्रवाह होगा जिसका फल यह होगा कि हृद्यन्त्र पर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास, यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर अकाल मृत्युके ग्रासमें मनुष्यको डाल देंगे। और चतुर्थतः वीर्य्यनाशसे मस्तिष्क पर बहुत ही धक्का लगता है। शरीरका सर्व्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है उसमें शरीरके सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं और समस्त स्नायुओंका केन्द्रस्थान भी मस्तिष्क ही है, इसलिये वीर्य्यके नाशसे मस्तिष्क निस्सार व दुर्ब्बल हो जाता है जिससे स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती है, मनुष्य समान्य दिमागी परिश्रमसे ही थकजाता है, सिर घूमने लगता है, आध्यात्मिक विषयोंपर विचार नहीं कर सक्ता है, बहुत देरतक किसी बातको चित्त लगाकर सोच नहीं सकता है, दिनभर या सन्ध्याके समय सिरमें दर्द होने लगती है, कोई बात बहुत देरतक स्मरण नहीं रहती है, थोड़ी थोड़ी बातमें घबराहट होने लगती है, धैर्य्य सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है, प्रकृति रूखी क्रोधी व भीरु हो जाती है और अन्तमें उन्मादरोग तक होजाता है। पागलखानोंमें जितने उन्मादी देखे जाते हैं, अनुसन्धान करने पर कई बार पता लगा है कि, उनमेंसे फी सैकड़ा नब्बे व्यभिचार द्वारा वीर्य्यहीन होकर पागल बन गये हैं। मस्तिष्क सब स्नायुओंका केन्द्रस्थान होनेसे मस्तिष्कके दुर्ब्बल होनेपर स्नायु भी दुर्ब्बल होजाते हैं जिससे सब इन्द्रियोंमें दुर्ब्बलता होती है क्योंकि प्रत्येक स्थूल इन्द्रियका जो मस्तिष्कसे स्नायुओंके द्वारा सम्बन्ध है उसीसे इन्द्रियोंका कार्य्य ठीक ठीक चलता है इसलिये मस्तिष्क जब दुर्ब्बल होता है तब इन्द्रियोंका कार्य्य भी बिगड़ जाता है। आंखमें, कानमें, सबमें कमजोरी आने लगती है। यही सब वीर्य्यनाशका फल है। ✓आज जो भारतवर्षमें आर्य्यशास्त्रोंके विषयोंपर इतना सन्देह फैल गया है और अनन्त मतभेद हो गये हैं इसका प्रधान कारण भारतवासियोंकी ब्रह्मचर्य्यहीनता ही है जिससे मस्तिष्कमें दुर्ब्बलता होनेसे शास्त्रोंका सिद्धान्त भारतवासियोंको ठीक ठीक नहीं ज्ञात हो रहा है और इसीलिये हजारों मतभेद, सम्प्रदाय व लड़ाइयां हो गई हैं।

वीर्य्यमें तैजसपदार्थ अधिक है जिससे प्राणशक्ति, शारीरिक उत्ताप और आँखके तेजका सम्बन्ध है इसलिये वीर्य्यके नष्ट होनेसे तीनोंकी शक्ति घट जाती है। प्राणशक्ति घट जानेसे शरीर व मुखच्छवि तेज, कान्ति व श्री हीन हो जाती है, समस्त शरीर फीका व मुर्देके शरीरकी तरह दीखने लगता है, आँखें बैठ जाती हैं, मुँह बैठ जाता है, शरीर कृश होजाता है, भीतरसे कमजोरी बहुत मालूम होती है, शब्द व मन्त्रोच्चारणकी शक्ति घटजाती है और गला बैठ जानेसे स्वरभङ्ग होजाता है। शारीरिक उत्ताप घटजानेसे पेटमें परिपाकशक्ति घटजाती है और आबहवाका परिवर्त्तन थोड़ा भी सहन नहीं होता है, हर समय सर्दी लगने लगती है, थोड़ी ही ठण्डमें जुकाम होजाता है, ऋतुओंके परिवर्त्तनके समय प्रायः रोग होजाता है और देशमें बीमारी फैलनेके समय सबसे पहले ऐसा मनुष्य बीमार पड़ता है। आँखका तेज कम होनेसे यौवनके पहले ही चश्मा लेनेकी आवश्यकता होती है जो कि आजकलके युवकोंमें प्रायः देखनेमें आता है। वीर्य्यके कमजोर होनेसे उसमें सन्तानोत्पादन करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे स्त्री वन्ध्या और पुरुष सन्तानहीन रहते हैं, अथवा रजसे वीर्य्यके दुर्ब्बल होनेके कारण कन्या उत्पन्न होती हैं, पुत्र नहीं उत्पन्न होते या कम होते हैं और कभी होते हैं तो दुर्ब्बल व रोगी पुत्र उत्पन्न होते हैं और अल्पायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। बहुतोंमें बालकपनमें वीर्य्यनाशसे नपुंसकता हो जाती है। इन सब पापोंसे कुलनाश व पितृपुरुषोंका अधःपतन होता है। सर्व्वोपरि वीर्य्यके साथ मनका अतिघनिष्ट सम्बन्ध रहनेसे वीर्य्यनाशके साथ ही साथ मन भी बहुत दुर्ब्बल होजाता है जिससे मनुष्यका मनुष्यत्व, पुरुषार्थशक्ति, स्वाधीनचित्तता, दृढ़प्रतिज्ञा, अध्यवसाय, जातीयता, आध्यात्मिक उन्नति, जितेन्द्रियता सभी नष्ट होजाते हैं। दुर्ब्बलचित्त मनुष्य इच्छा करने पर भी संयम नहीं करसक्ता है, इन्द्रियोंका दास होकर स्त्रीका भी दास होजाता है। विषयभोगमें जो जो दुःख हैं उन सबको जानकर छोड़नेकी इच्छा करने पर भी चित्तकी दुर्ब्बलताके कारण छोड़ नहीं सक्ता है और विषयोंके सामने न रहने पर उनको छोड़नेकी हजारों प्रतिज्ञा करने पर भी विषयोंके सामने आनेसे ही सम्पूर्णरूपसे उनके वशीभूत हो पड़ता है, सभी प्रतिज्ञाएँ धरी रहजाती हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्यनाशसे मनुष्यका मनुष्यत्वलोप व जीवन भारभूत होजाता है। आज जो भारतवर्षमें सच्चे ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि विरल ही मिलते हैं, ब्राह्मणोंकी वह शक्ति और क्षत्रियोंका वह तेज कुछ भी नहीं

है, जो ऋषि पहले अमोघवीर्य्य होते थे उनके पुत्र आज निर्व्वीर्य्य होरहे हैं, आर्य्यसन्तान आज तेजोहीन होकर भारतमाताके मुख पर कलङ्क आरोपण कर रहे हैं, ऋषियोंके दिव्यनेत्र और ज्ञाननेत्र सब नष्ट होकर आज उपनेत्रके विना देखा नहीं जाता है, हमारा शरीर और मन श्मशानके दृश्यको स्मरण करा रहा है, वेदके मन्त्रोंको देखना और शुद्ध उच्चारण करना दूर रहा वेदके अर्थ पर भी हजारों लड़ाइयाँ चलपड़ी हैं. तपस्याके फलरूपसे ज्ञान-अर्जन करके ब्रह्मका साक्षात्कार दूर रहा आज अज्ञानकी घनघोरघटा भारत-आकाशको आच्छन्न कर रही है, ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएँ आर्य्यजातिमें ब्रह्मचर्य्यहीनताका ही फलरूप हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठाकरके द्विजबालकोंको उपनयन संस्कारके बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कराना चाहिये जिससे उनका समस्त जीवन शान्ति सुखमय और देश व धर्म्मके लिये कल्याणकर होजाय। ब्रह्मचर्य पालनके विषयमें दक्षसंहितामें लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक् ।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तबात, सङ्कल्प, चेष्टा और क्रियासमाप्ति ये ही मैथुनके आठ अङ्ग हैं, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य्य है जो कि सदा पालन करने योग्य है। इसके पूरे पालनके लिये शरीर मन व बुद्धि तीनोंको ही संयत रखना ब्रह्मचारीका कर्त्तव्य है। इस विषयमें मनुजीकी आज्ञा पहले ही बताई गई है। प्रथम शरीरको संयत रखनेके लिये अन्यान्य उपायोंके अतिरिक्त खानपानका भी विचार अवश्य रखना चाहिये। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें त्रिविध आहारके विषयमें कहा है कि:—

आयुःसत्त्वबलाऽऽरोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणाऽत्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकाऽऽमयप्रदाः ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितश्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

आयु, प्राणशक्ति, बल, आरोग्य, सुख व प्रीतिका बढ़ानेवाला, सरस, स्निग्ध, सारयुक्त व चित्तको संतोष देनेवाला आहार सात्त्विक मनुष्यका प्रिय है। जिससे दुःख, शोक व रोग हो इस प्रकारका कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष व शरीरमें ज्वलन उत्पन्न करनेवाला आहार राजसिक लोगोंका प्रिय है। और कच्चा, रसहीन, दुर्गन्धियुक्त, बासी, उच्छिष्ट व अभक्ष्य आहार तामसिक लोगोंका प्रिय है। ब्रह्मचारीको सात्त्विक आहार करना चाहिये। प्याज, लशुन, लालमिरच, खटाई आदि राजसिक तामसिक पदार्थ हैं। गरिष्ठ मसालेदार अन्न और उत्तेजक अन्न ब्रह्मचारीको कभी नहीं खाना चाहिये। तमाखू भाँग आदि मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं होना चाहिये। कोमल शय्या, जैसा पलंग आदि पर नहीं सोना चाहिये। भूमिशय्या पर सोना चाहिये। खराब पुस्तकें पढ़ना, कुसंग, कुचिन्ता, खराब चित्र देखना व आपसमें कामविषयक बातचीत कभी नहीं करनी चाहिये। एकाहार करना चाहिये अथवा रातको बहुत कम लघु पाक अन्न खाना चाहिये। सोते समय ठंडा जल पीना, प्रातःकाल निद्रा टूटने पर फिर सोना, पान खाना, अधोअंगमें वृथा हाथ लगाना, दिनमें सोना, मछली या मांस खाना, प्रातःकाल तक सोते रहना आदि ब्रह्मचारीके लिये निषिद्ध हैं। दूसरा-ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो प्रातःसन्ध्या और देवता ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करना चाहिये। सन्ध्याके साथ साथ गुरुकी आज्ञानुसार कुछ कुछ पूजा, प्राणायाम व मुद्रा आदि भी करना चाहिये। प्राणायाम व मुद्राओंके करनेसे चित्त शान्त व एकाग्र होगा और स्नायु भी सतेज रहेंगे जिससे ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा व शारीरिक नीरोगता रहेगी। पूजा करनेसे मानसिक उन्नति व भक्ति बढ़ेगी। मनको संयत करनेके लिये सदा ही ब्रह्मचारीको यत्न करना चाहिये। गीतामें लिखा है किः—

ध्यायतो विषयान् पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः ।

विषयकी चिन्ता करनेसे उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्तिसे

काम उत्पन्न होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको सर्व्वदा कामसङ्कल्पसे बचना चाहिये। कामजय करनेके लिये सीधा उपाय संकल्प न करना है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि:-

असङ्कल्पाज्जयेत्कामम् ।

असङ्कल्पसे काम जय करना चाहिये। कभी कामका संकल्प चित्तमें उदय हो उसी वक्त चित्तको उससे हटाकर और चिन्ता या शास्त्र-पाठमें लगाना चाहिये। इसी प्रकार चित्तको काम-संकल्प करनेका मौका न देनेका अभ्यास कुछ दिनों तक करते रहनेसे अभ्यास बढ़ने पर काम-सङ्कल्प करनेकी इच्छा घट जायगी जिससे चित्तकी उन्नति होगी। स्मरण रहे, केवल अभ्यास-से ही काम बढ़ता है और विषयेच्छा बढ़ती है। यह एक प्रकारके नशेकी तरह है। इस अभ्यासके घटानेसे और संयमका अभ्यास बढ़ानेसे कुछ दिनोंके बाद संयम करना ही अच्छा लगेगा, ब्रह्मचर्य्य धारण करनेमें आनन्दबोध होने लगेगा और नष्ट करनेमें दुःख बोध होगा और त्याग ही शान्तिकर होने लगेगा, इसलिये शरीर व चित्तके साथ ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन करना चाहिये। तीसरा-ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाके लिये बुद्धिकी भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धिके द्वारा विचार करके सत्यासत्य निर्णय करना चाहिये। संसारमें त्यागका सात्त्विक सुख भोगके राजसिक सुखसे कितना उत्तम है, विषयसुखके अन्तमें किस प्रकार परिणामदुःख मनुष्यके चित्तको दुःखी करता है, इन्द्रियोंके साथ विषयका सम्बन्ध पहले मधुर होने पर भी परिणाममें किस प्रकार अत्यन्त दुःख उत्पन्न करके सब सुखको मिट्टीमें मिला देता है और निवृत्ति-का आनन्द किस प्रकार मनुष्यके लिये प्रवृत्तिसे उत्तम व नित्यानन्दमय है, इन बातोंका विचार सदा ही ब्रह्मचारीको हृदयमें धारण करके अपने व्रतके पालनमें पूर्ण होना चाहिये। महाभारतमें लिखा है कि:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसारमें जो कामसुख या स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख है, ये कोई सुख वासनानाशसुखके षोडशांशमेंसे एक अंश भी सुख देनेवाले नहीं हैं। भगवान्ने गीतामें भी आज्ञा की है कि:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखका ही उत्पन्न करनेवाला है। विषयसुख आदि अन्तसे युक्त है अतः विचारवान् पुरुषको कभी विषयसुखमें फँसना नहीं चाहिये। जो मनुष्य यावज्जीवन काम और क्रोधके वेगको धारण करसकता है वही योगी और वह सच्चा सुखी है। श्रीभगवान्‌की इस आज्ञाको हृदयमें धारण करके ब्रह्मचारीको सदा ही संयत होना चाहिये।

वीर्य्यधारणकी उपकारिताके विषयमें जो कुछ बातें ऊपर लिखी गई हैं इससे गृहस्थ लोग यह न समझें कि वीर्य्यरक्षा केवल ब्रह्मचर्य्य आश्रमके लिये ही है, गृहस्थाश्रमके लिये नहीं है। इस प्रकारकी धारणा मिथ्या है क्योंकि वीर्य्यनाशसे जितनी हानि बताई गई है वह मनुष्यकी सकल अवस्थामें ही घटती है। आजकल बहुत लोगोंकी यह धारणा हो गई है कि गृहस्थ होते ही अनर्गल विषय-भोग करना चाहिये, इसमें कोई नियम या संयम नहीं है। यह सिद्धान्त मिथ्या है। संयम व नियमपूर्वक गृहस्थाश्रम न करनेसे वही दुर्दशा होगी जैसा कि पहले बताया गया है। गृहस्थाश्रमके लिये ऋतुकाल गमन आदि जो कुछ नियम है सो आगे बताया जायगा, उसीसे गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य्यरक्षा होगी, अन्यथा नहीं होगी।

ब्रह्मचर्य्याश्रमका दूसरा कर्त्तव्य गुरुसेवा है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें ज्ञानप्राप्तिका उपाय बताया है कि:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रणिपात, जिज्ञासा व सेवाके द्वारा तत्त्वज्ञानी गुरुसे ज्ञान प्राप्त करना होता है। श्रुतिमें भी लिखा है कि:—

"मातृदेवो भव" "पितृदेवो भव"
"आचार्य्यदेवो भव" इत्यादि।

माता, पिता और गुरुकी सेवा करना चाहिये। इस प्रकार माता, पिता व गुरुसेवाके लिये आज्ञा की गई है। मनुजीने भी कहा है कि:—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्य्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥

जिस प्रकार खनित्र (खोदनेका यन्त्र) खोदते रहनेपर जल मिलता है उसी प्रकार सेवाके द्वारा गुरुसे विद्या मिलती है । इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रममें गुरुसेवा द्वारा विद्यालाभ होता है ।

प्रत्येक धर्म्मकी विधिके देश कालानुकूल होनेसे ही उससे सुफलकी प्राप्ति होती है । इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रममें प्राचीन आर्य्यजातीय वैदिक शिक्षाके साथ साथ देशकालज्ञान और देशकालके अनुकूल शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिये जिससे गृहस्थाश्रममें वृत्ति भी सुलभ हो और धर्म भी बना रहे । आजकल ब्रह्मचर्य्य आश्रमका पालन कम हो गया है और जहां कुछ है भी वहांपर भी ठीक ठीक अध्यापनाकी कमी है इसलिये शास्त्रानुकूल शिक्षा व ब्रह्मचर्य्यरक्षा नहीं होती है । इसका सुधार होना चाहिये । ब्रह्मचर्य्याश्रमकी शिक्षा साधारण पाठशालाकी तरह नहीं होनी चाहिये, उसकी विशेषता व गौरव-पर ध्यान रहना चाहिये । कलियुगमें गर्भाधानादि संस्कार ठीक ठीक न होनेसे सन्तानका शरीर प्रायः कामज होता है इसलिये अनेक चेष्टा करनेपर भी पूरी ब्रह्मचर्य्यरक्षा कठिन हो गई है; तथापि जहांतक हो सके इसमें सबको तत्पर होना चाहिये । और यदि किसी कारणसे ब्रह्मचर्य आश्रममें शिक्षाकी सुविधा न मिले और व्यावहारिक शिक्षालयमें ही प्रविष्ट होना पड़े; तथापि उस दशामें भी जहांतक हो सके ब्रह्मचर्य्यरक्षा, गुरुसेवा व व्यावहारिक अर्थकरी विद्याके साथ शास्त्रीय शिक्षा भी प्राप्त करना चाहिये जिससे भविष्यत् जीवन धर्म्ममय, सुखमय व शान्तिमय हो । पिता माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानको बालकपनमें पहले ही धार्मिक शिक्षा देकर पीछे व्यावहारिक शिक्षा देवें क्योंकि बाल्यावस्थामें धर्मका संस्कार चित्तपर जम जानेसे सन्तान भविष्यत् जीवनमें कभी नहीं बिगड़ सकेगी । ये सब बातें ध्यान देने योग्य हैं ।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकारके हैं । यथा—नैष्ठिक और उपकुर्व्वाण । नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रमकी आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा है । यदि शिष्यका अधिकार इस प्रकार उन्नत होवे तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावे । श्रुतिमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा लिखी है । यथा—जाबालश्रुतिमें—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृहीभूत्वा वनी भवेत् ।
वनीभूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्
गृहाद्वा वनाद्वा । यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ।

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थाश्रमके बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमसे संन्यास लेवें। वैराग्य उदय होनेसे ही संन्यास लेवें। इस प्रकारसे श्रुतिने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा दी है। इस प्रकारकी आज्ञा प्रारब्धवान् उत्तम अधिकारीके लिये है। जिसका इस प्रकारके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यमें अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजीने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्यकी आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रममें कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्व्वक विद्याभ्यास करनेके बाद गुरुको यथाशक्ति दक्षिणा देवें और उनकी आज्ञा लेकर व्रतसमाप्तिका स्नान करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करें। यथा - मनुसंहितामें:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणाऽन्तिकमेव वा ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत् ॥ (३ य अध्याय)

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करनेके लिये गुरुके आश्रममें ब्रह्मचर्य्य धारण-पूर्व्वक ३६ छत्तीस वर्ष, १८ अट्ठारह वर्ष या ९ नौ वर्ष तक निवास करेंगे अथवा निज शाखा-अध्ययनके अनन्तर वेदकी तीन शाखा, दो शाखा, या एक शाखा मन्त्रब्राह्मणक्रमानुसार अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचर्य्यके साथ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें।

गृहस्थाश्रम।

पहले ही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य्य-आश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा और गृहस्थाश्रममें धर्म्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमें मुग्ध होकर बन्धन व अधोगति प्राप्त करनेके लिये नहीं है; परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही जिनका एकाएक संन्यासाश्रममें अधिकार नहीं है उनको धर्म्ममूलक प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे धीरे धीरे उन्नत

करते हुए अन्तमें निवृत्तिमूलक संन्यास आश्रमके अधिकारी बनानेके लिये ही गृहस्थाश्रमका विधान किया गया है। इसलिये गृहस्थाश्रममें प्रत्येक कार्य्यकी विधि इस प्रकारकी होनी चाहिये कि जिससे धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थतासे निवृत्तिमें रुचि हो, वासनाकी वृद्धि न होकर भावशुद्धिमूलक भोग द्वारा वासनाका क्षय हो और आध्यात्मिक मार्गमें उन्नतिलाभ हो। यही गृहस्थाश्रमका मूल मन्त्र है। इसपर ध्यान रखकर प्रत्येक गृहस्थको अपनी जीवनचर्याका प्रतिपालन करना चाहिये। अब इसी भावको लक्ष्यमें रखते हुए गृहस्थाश्रमधर्म्मका निर्द्देश किया जाता है। मनुजीने आज्ञा की है कि:—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

गुरुकी आज्ञासे यथाविधि व्रतस्नान व समावर्त्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्याका पाणिग्रहण करे। विवाहसंस्कार गृहस्थाश्रमका सर्व्वप्रधान संस्कार है। इसके तीन उद्देश्य हैं। अनर्गल प्रवृत्तिका निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा प्रजातन्तुकी रक्षा और भगवत्प्रेमका अभ्यास।

मनुष्य योनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके चित्तमें सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीको सङ्कोच करके एक पुरुष व एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बाँधकर धर्म्मके आश्रयसे व भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमें ही मनुष्यको लेजाना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

विवाहका दूसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि:—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्म्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

ऋषि ऋण, देव-ऋण व पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमें चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋणसे गृहस्थ मुक्त होते हैं। आकुमार ब्रह्मचारी-के सब ऋण ज्ञानयज्ञमें लय होते हैं। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नहीं होना पड़ता है; परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म हैं। यही विवाहसंस्कारका दूसरा उद्देश्य है।

विवाहका तीसरा उद्देश्य भगवत्प्रेमके अभ्याससे आध्यात्मिक उन्नति करना है। जीवभाव स्वार्थमूलक है और ईश्वरभाव परार्थमूलक है। मनुष्य जितना ही स्वार्थका सङ्कोच करता हुआ परार्थताको बढ़ाता है उतना ही वह ईश्वरभाव और आध्यात्मिक उन्नतिको लाभ करता है। जिस कार्य्य-के द्वारा इस प्रकार स्वार्थभावका सङ्कोच और परार्थभावकी पुष्टि हो वह धर्म्मकार्य्य और भगवत्कार्य्य है। विवाहसंस्कारके द्वारा मनुष्य इस परार्थ-भावकी शिक्षा प्राप्त करने लगता है क्योंकि पुरुषका जो स्वार्थ अपनेमें ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहले स्त्रीमें और पीछे पुत्र कन्या व समस्त परिवारमें बँट जाता है, इससे परार्थभाव बढ़कर आध्यात्मिक मार्ग-में उन्नति होती है। यही परार्थभाव अपने घरसे प्रारम्भ होकर क्रमशः समाज, देश व समस्त संसारके साथ मिलजाता है, तभी जीव "वसुधैव कुटुम्बकम्" होकर मुक्त हो जाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावका प्रारम्भ होता है इसलिये यह प्रधान संस्कार है इससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। द्वितीयतः इसके द्वारा भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। सकल रसोंके मूलमें सच्चिदानन्दका आनन्दरस ही भरा हुआ है। वही एक रस मायाके आवरणसे कहीं प्रेम, कहीं स्नेह, कहीं श्रद्धा, कहीं काम, कहीं मोह आदि नाना रसोंमें विभक्त होगया है। इन्हीं रसोंके प्रवाहकी गतिको मोड़कर भगवान्की ओर लगानेसे ये ही सब भगवत्प्रेमरूप हो जाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इसी भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। पतिपत्नी परस्परमें प्रीतिभावको बाँध करके परोक्षरूपसे भगवत्प्रेमकी ही शिक्षालाभ करते हैं और उसी परस्परमें अभ्यस्त प्रेमको धीरे धीरे भगवान्की ओर लगाकर आध्यात्मिक उन्नति और शुद्ध आनन्दको लाभ करते हैं। यही विवाहका तृतीय उद्देश्य है।

स्त्री व पुरुष दोनों विवाहसंस्कारसे मिलकर किस प्रकार शनैः शनैः एक अद्वितीय पूर्णताको प्राप्त होते हैं सो नारीधर्म्मनामक अध्यायमें कहा जायगा।

विवाहका और एक महान् उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा दम्पतिका जीवन मधुरिमामय व दिव्यभाव पूर्ण हो जाता है। प्रमपाशबद्ध स्त्री-पुरुष सदा ही परस्परको संतुष्ट रखनेके लिये उत्सुक रहा करते हैं और उसी कारणसे जो कुछ कार्य्य करते हैं सभीमें उदारता, भावशुद्धि व परार्थपरता बढ़ती है। अच्छी तरहसे पान भोजनादि करनेकी इच्छा सभीमें होती है परन्तु केवल अपने ही सुखके लिये पान भोजनादि करनेमें मनुष्यको लज्जा आती है और वह पान भोजनादि पापभोजनमात्र है। परन्तु यदि ऐसा हो कि एकके पान भोजनादिसे दूसरोंकी आत्मा संतुष्ट होगी तो वह पान भोजनादि पापभोजन न होकर देवसेवा होगी। विवाहके द्वारा यही दिव्यभाव दम्पतिके हृदयमें उत्पन्न होता है। इस नश्वर क्षणभंगुर शरीरका वेषविन्यास करते हुए किस स्त्रीको लज्जा नहीं आती ? परंतु प्रियतमके आनन्दके लिये शरीरका यत्न हो रहा है, अपने लिये नहीं, इस प्रकारकी भावना रखनेसे वेषविन्यासमें लज्जा नहीं आती। अधिकन्तु उसमें यही भाव उत्पन्न होता है कि जितना सौन्दर्य्य अभी है उससे कोटिगुण अधिक न होनेसे पति देवताके चरणकमलमें अर्पण करने योग्य शरीर नहीं होगा। स्त्रीका शरीर, मन, शोभा, सौन्दर्य्य सभी पतिके सुखके लिये है, अपने लिये नहीं है। प्रकृतिका लीलाविलास उष्ट्रके कुंकुमवहनवत् पुरुषके भोग व मोक्षके लिये है यही सांख्यशास्त्रका सिद्धांत है। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावको पुष्टि होकर उदारता व आत्मोन्नति होती है। धनसञ्चय करनेसे धनदान करनेमें आनन्द अधिक है। धनसञ्चय करनेसे लोग कृपण कहकर निंदा करते हैं व आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु पुत्र कन्यादिके पालनके लिये मितव्ययिता व धनसञ्चय आत्मग्लानि उत्पन्न न करके प्रशंसा व संतोष ही उत्पन्न करता है एकके भोजनसे दूसरेको तृप्ति होगी, एकके सौन्दर्य्यसे दूसरेको आनंद मिलेगा व एकके धनसञ्चयसे दूसरेका भावी कल्याण होगा, इस प्रकार साधुजनोचित परार्थभावको शिक्षा विवाहके द्वारा स्त्री पुरुष सहज ही पाते हैं। स्वार्थको धीरे धीरे परार्थमें मिलाकर लय करदेनेसे ईश्वरभाव उत्पन्न करना विवाहसंस्कारका उद्देश्य है इसीलिये विवाहसंस्कार अति उत्तम है।

ऊपरलिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये पाणिग्रहण बहुत विचारपूर्व्वक होना चाहिये। अन्यथा, संसारमें अशान्ति, दाम्पत्य प्रेमका अभाव और निकृष्ट प्रजोत्पत्तिकी सम्भावना रहती है। अतः विवाहसंस्कारके विषयमें नीचे लिखी हुई बातें ध्यान रखने योग्य हैं।

(१) परस्पर विभिन्नरूप और गुणवाले दम्पतिके मेलसे न दाम्पत्य प्रेम होता है और न अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है।

(२) स्त्री पुरुषमें प्रेमकी पूर्णता न होनेसे अच्छी सन्तान नहीं होती है।

(३) कन्या सुलक्षणा न होनेसे संसारका अकल्याण होता है।

(४) पिता माताका शारीरिक व मानसिक दोष गुण व रोग सन्तानको स्पर्श करता है।

(५) वर कन्यामें एक भी अङ्गका दोष नहीं रहना चाहिये, उससे सन्तान खराब होती है। शारीरिक व मानसिक गुणोंके मेलसे सन्तान अच्छी होती है।

(६) कन्याकी वयः (उमर) पुरुषसे कम होनी चाहिये, नहीं तो पुरुषका पुरुषत्वनाश, कठिन रोग व अकाल मृत्यु होती है और सन्तान भी रोगी व दुर्ब्बल होती है।

महर्षि गौतम, वसिष्ठ व याज्ञवल्क्यजीने अपनी अपनी संहिताओंमें लिखा है किः—

गृहस्थः सदृशीं भार्य्यां विन्देताऽनन्यपूर्व्वां यवीयसीम्।
गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणाऽनुज्ञातः स्नात्वा असमानार्षामस्पृष्टमैथुनां यवीयसीं सदृशीं भार्य्यां विन्देत।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

गृहस्थ होनेके लिये गुरुकी आज्ञा लेकर समावर्त्तन संस्कार करते हुए अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का व पहले किसीके साथ अविवाहिता कन्याका पाणिग्रहण करें। मनुसंहितामें लिखा है किः—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्ज्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च ॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत पिता ॥
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्म्मशङ्कया ॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा व पिताकी सगोत्रा नहीं है, वही विवाह-कार्य्य व संसर्गके लिये प्रशस्ता है। गो, छाग, मेष व धन धान्यसे समृद्धि-सम्पन्न होनेपर भी स्त्रीग्रहणके विषयमें दश कुल त्याज्य हैं। जिस कुलमें नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं, जिसमें वेदाध्ययन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त हैं और जिस कुलमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठरोग हैं उस कुलमें विवाहसम्बन्ध नहीं करना चाहिये। जिस कन्याके केश पिङ्गल वर्ण हैं, छः अंगुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा, रोमहीना या अधिक रोमवाली, अधिक वाचाल व जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्गमें विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गजकी तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम केश व दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्याको विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिताका वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्यासे पुत्रिका प्रसव करनेकी व अधर्म्मकी आशङ्काके कारण विवाह नहीं करना चाहिये। कन्याकी तरह वरके भी लक्षण देखना कन्याके पिता-माताका आवश्यक कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता, नीरोगता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायुः, नम्रता, सत्याचार, आस्तिकता, धर्म्म–भीरुता आदि पुरुषके जितने गुण होने चाहिये उन सबोंको अवश्य ही कन्याके पिता-माता देख लेवें।

वर कन्याके निर्व्वाचनमें वर कन्या या अध्यापककी अपेक्षा पिता माता-पर निर्भर करना उत्तम विवाह और भविष्यत्में गृहस्थाश्रमकी शान्तिके लिये अधिक हितकर होगा। पुरुष अथवा स्त्रीकी प्रकृति या लक्षण, वर्त्तमान और अतीत दशा तथा घरानेकी अवस्थाको देखकर निर्णय तो करना ही चाहिये, अधिकन्तु अच्छे ज्योतिषियोंके द्वारा जन्मपत्रिका आदि दिखाकर वर कन्याके भविष्यत् लक्षणोंके विषयमें निश्चय करलेना चाहिये। मनुष्य कर्म्म करनेके विषयमें स्वतन्त्र होनेपर भी प्रारब्ध बलवान् होनेके कारण बहुतसे कर्म्म प्रारब्धके अधीन हुआ करते हैं उसीके अनुसार वर कन्याके गुण कर्म्म स्वभाव और भाग्यमें भी भविष्यत्में परिवर्त्तन हो सकता है। इसलिये वर्त्तमान अथवा बालकपनके गुण कर्म्म स्वभावके मिलानेसे भविष्यद्भाग्यका या चरित्रका कुछ भी पता नहीं लगसकता। अतः केवल वर्त्तमान और अतीतपर ही इसविषय-का सिद्धान्त निश्चय नहीं करना चाहिये, परन्तु सच्चे बने हुए जन्मपत्रके द्वारा भविष्यत्की अवस्था भी मालूम करलेनी चाहिये। जन्मपत्रोंके द्वारा ग्रहोंकी दशा मालूम होती है जिससे कर्म्म और कर्म्मफलका भी पता लगसकता है। परन्तु वर्त्तमान हो या भविष्यत् हो, गुण कर्म्म स्वभावका विचार और उसीके अनुसार विवाहका भार अध्यापक या वर कन्याके ऊपर कभी नहीं छोड़ना चाहिये। पहले तो अध्यापकसे इतनी आशा ही नहीं की जा सकती है कि वे पिता-माताकी तरह हार्दिकभावसे इतनी जांच करेंगे इसलिये उन पर निर्भर करना ठीक नहीं है। जिनको वर व वधूको लेकर जीवनयात्रा निर्व्वाह करनी है ऐसे माता-पिता ही हृदयके साथ इसमें यत्न कर सके हैं। द्वितीयतः वर कन्याके ऊपर इसका भार छोड़ना तो सम्पूर्ण ही अविचारका काम है। विचार व दूरदर्शिता वृद्धत्वके साथ सम्बन्ध रखती है, युवावस्थाके साथ नहीं। युवावस्थामें मानसिक वृत्ति बलवती होनेसे प्रायः विचार दब जाया करते हैं और खास करके जहां इन्द्रियसुख या कामका सम्बन्ध हो, वहां तो ज्ञान और विचारका सम्बन्ध ही नहीं रहता है। श्रीभग-वान्ने गीताजीमें कहा है किः—

आवृतं ज्ञानमेतेन। ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणाऽनलेन च॥

अग्निकी तरह अतृप्त व ज्ञानीके नित्य शत्रु कामके द्वारा ज्ञान पर

आवरण पड़ता है। विवाहके पहले वर कन्याका निर्व्वाचन करना विचार और दूरदर्शिताका काम है। वर और कन्यासे इस दूरदर्शिताकी आशा कभी नहीं की जा सक्ती है। यदि कन्याकी उमर अधिक हो तो उनका परस्पर साक्षात् होनेसे परस्परके हृदयमें कामभावका उन्मेष होगा जिससे वे यथार्थ गुण कर्म्म स्वभावका विचार नहीं कर सकेंगे और जो कुछ विचार करेंगे सो भोगबुद्धिको मुख्य रखकर करेंगे; अर्थात् इस प्रकारका सम्बन्ध काममूलक होगा, विचार-मूलक नहीं होगा। और इस प्रकारके सम्बन्धसे दम्पतिमें यावज्जीवन कलह और घरमें अशान्ति रहेगी क्योंकि काममूलक सम्बन्ध घरमें कभी शान्ति पैदा नहीं कर सक्ता। और यदि कन्याकी उमर छोटी हो, जैसा कि शास्त्रमें लिखा है उससे गुण कर्म्म स्वभावका विचार ही नहीं हो सक्ता है। अतः पूर्व्व-कथित शास्त्रानुसार पिता-माताका ही कर्त्तव्य है कि पुत्र कन्याकी भविष्यत् शुभ कामनासे लक्षणोंको ठीक ठीक जाँचकर विवाहसंस्कार करें। और जो विवाह इस प्रकार उभय पक्षके पिता-माताके द्वारा सम्पादित होता है वही विवाह सब प्रकारसे श्रेष्ठ है इसमें संदेह ही नहीं। और यह भी बात सत्य है कि हिन्दूशास्त्रमें कन्याका दान होता है, देय वस्तुके देनेमें दाताका ही अधिकार है, अन्य किसीका अधिकार नहीं है।

हमारे शास्त्रोंमें विवाह आठ प्रकारके लिखे हैं। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्व्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमोऽधमः ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच ये आठ तरहके विवाह हैं। इन आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षणके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र अलङ्कार आदिसे सज्जित करके विद्या और शीलवान् वरको बुलाकर जो कन्यादान किया जाता है उसको ब्राह्मविवाह कहते हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके होनेपर उस यज्ञमें कर्म्मकर्त्ता ऋत्विक्को अलङ्कारादि द्वारा सज्जिता कन्याका दान दैवविवाह है। यज्ञादि धर्म्मकार्य्यके लिये एक या दो जोड़ा बैल व गौ लेकर विधिपूर्व्वक कन्यादान करनेको आर्ष-विवाह कहते हैं। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थधर्म्मका आचरण करना" इस प्रकार कहकर विधिके साथ वरकी पूजा करके कन्यादानका नाम प्राजापत्य

विवाह है। स्वेच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको वा कन्याको धन देकर जो कन्या-ग्रहण उसे आसुरविवाह कहते हैं। कन्या और वर दोनोंका परस्परके अनुरागसे जो संयोग है उसको गान्धर्व्वविवाह कहते हैं, यह विवाह काममूलक है, परन्तु इसमें होम आदिके द्वारा पीछे शास्त्रीयसंस्कार हुआ करता है। कन्याके पक्षके लोगोंको मारकर व काटकर और उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्व्वक हरण करके जो विवाह किया जाता है उसको राक्षसविवाह कहते हैं। निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा और तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह होता है वह अधम और पापजनक विवाह पैशाचविवाह कहा जाता है। इनमेंसे प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा शास्त्रोंमें की गई है और बाकी चार विवाहोंकी निन्दा की गई है। यथा मनुसंहितामें लिखा है किः—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्व्वशः।
ब्रह्मवर्च्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्ज्जयेत्॥

ब्राह्म दैव आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती हैं। ऐसा सन्तान सुन्दर स्वरूप, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्य्याप्तभोगवान् और धार्म्मिक होकर शतवर्ष तक जीवित रहती हैं और बाकी चार प्रकारके विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म्म और वेदके विद्वेषी पुत्र उत्पन्न होते हैं। अनिन्दित स्त्रीविवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्रीविवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है इसलिये निन्दित विवाहका त्याग देना चाहिये।

शास्त्रोंमें धन लेकर कन्यादानकी बड़ी निन्दा की गई है। यथा मनुसंहितामें लिखा है किः—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥

विचारशील पिता कन्यादान करनेके लिये सामान्य भी धन वरपक्षसे न लेवे, क्योंकि लोभसे धन लेलेनेपर अपत्यविक्रयीका पाप होता है। पिता आदि आत्मीय लोग मोहके कारण स्त्री-धन उसकी दासी वाहन या वस्त्रादि जो कुछ लेते हैं वा जो कुछ भोग करते हैं उससे उनकी अधोगति होती है। किसी किसीने गोबध और अपत्य-विक्रय, दोनोंका ही समान पाप कहा है। आर्ष-विवाहमें जो गोमिथुन लिया जाता है उसको शुल्क नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह धर्म्मकार्य्यार्थे लिया जाता है, भोगार्थ नहीं लिया जाता है। और ऐसी ही मनुजीकी सम्मति है कि धर्म्मकार्य्यार्थे यज्ञादिके लिये वह लिया जाता है। वरपक्षके लोग स्वेच्छासे प्रीतिके साथ कन्याको कुछ धन देवें, यदि कन्याका पिता उस धनको न लेकर कन्याको देदे तो उसको भी कन्याविक्रय नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह एक प्रकारका उपहारमात्र है। स्त्रीजातिकी पूजाके लिये शास्त्रोंमें आज्ञा भी है। यथा—मनुसंहितामें लिखा है कि:—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥

जिस कुलमें स्त्रियोंका समादर है वहां देवता लोग प्रसन्न रहते हैं और जहां ऐसा नहीं है उस परिवारमें समस्त यागादि क्रिया वृथा होती हैं।

कन्याविक्रयकी तरह पुत्रके विवाहमें भी कन्याके माता-पितासे दबाकर धन लेना एक प्रकारका पुत्रविक्रय है। कन्याके पिताका यह कर्त्तव्य है कि कन्याको कुछ अलङ्कारादि देकर वरके हाथमें समर्पण करे, क्योंकि पुत्रकी तरह कन्याका भी अधिकार पिताके धनपर है और यह अधिकार प्राकृतिक है। अलङ्कारादिके द्वारा उस प्रकृतिकी पूजा करनी चाहिये; अर्थात् उस प्रकृति-सिद्ध अधिकारका पालन करना चाहिये। परन्तु पूजा भी अपनी शक्ति और अपने अधिकारके अनुसार हुआ करती है इसलिये वरके पिताको कन्याके पितासे उसकी शक्तिके अतिरिक्त दबाकर धन कभी नहीं लेना चाहिये।

कन्या सुन्दरी है, उसका स्वभाव नम्र है व उसके पिता धर्म्मशील और उसकी माता धर्म्मपरायणा है इत्यादि बातोंका विचार पहले करना चाहिये। यदि ये सब बातें ठीक ठीक मिलजायँ तो कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण करलेना चाहिये। इतना होनेपर धनके लिये पीड़न करना नीचता और पाप है। इसी पापसे भारतके बहुतसे समाजोंका आजकल अधःपतन होरहा है। पुत्रका भावी सुख और वंशकी उन्नतिपर पिताका लक्ष्य होना चाहिये। अर्थलोभ-से कुटुम्बमें विरोध और अशान्ति उत्पन्न करना अधर्म्म और अविचारका कार्य्य है। सामाजिक नेताओंकी दृष्टि इसपर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

विवाहसंस्कारके बाद इसी प्रकार दाम्पत्यप्रेमके साथ पति-पत्नी संसार-यात्राको निर्व्वाह करते हैं। इसके लिये मन्त्रादि शास्त्रोंमें बहुत कुछ कर्त्त-व्योंका निर्णय किया गया है। विवाहका मुख्य उद्देश्य प्रजाकी उत्पत्ति करना है इसलिये शास्त्रके अनुकूल गर्भाधान संस्कारके अनुसार सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये। इस विषयमें मनुजीने कहा है कि:—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।

एक पत्नी व्रत होकर ऋतुकालमें अपनी स्त्रीमें गर्भाधान करना चाहिये। और भी लिखा है कि:—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्राऽर्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः॥
निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राऽश्रमे वसन्॥

पहली चार दिवा रात्रियां लेकर स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रियां हैं। इनमें पहली चार रात्रियां व एकादश और त्रयोदश

रात्रियां ये ६ निषिद्ध हैं, बाकी १० दस रात्रियां स्त्रीगमनके लिये प्रशस्त हैं। इन दसोंमेंसे भी छठी आठवीं दसवीं आदि युग्म रात्रियोंमें गर्भ होनेपर पुत्र होता है और पांचवीं सातवीं नवीं आदि अयुग्म रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे कन्या होती है इसलिये पुत्रके लिये ऋतुकालकी युग्म रात्रियोंमें ही गमनका विधान किया गया है। अयुग्म रात्रि होनेपर भी पुरुषका वीर्य्य अधिक होने पर पुत्र उत्पन्न होता है और युग्म रात्रि होने पर भी रजके आधिक्य होनेसे कन्या उत्पन्न होती है। और दोनोंके समान होनेसे क्लीब अथवा यमज कन्या-पुत्र उत्पन्न होते हैं। और यदि दोनोंके ही रजवीर्य्य असार हों तो गर्भ ही नहीं होता है। इस प्रकार निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रियोंमेंसे कोई भी आठ रात्रियां अर्थात् कुल १४ चौदह रात्रियोंमें सम्बन्ध त्याग करके बाकी दो रात्रियोंमें जिनमें कोई पर्व्व न हो, जो स्त्री पुरुष गमन करते हैं वे आश्रममें रहने पर भी ब्रह्मचारी बने ही रहते हैं। पूर्णिमा, अमावास्या, चतुर्द्दशी, अष्टमी और संक्रान्तिको पर्व्वदिन कहा जाता है इसलिये इन दिनोंमें भी स्त्रीसम्बन्ध करना मना है। दिवाभागमें संसर्ग अत्यन्त दोषयुक्त है। यथा प्रश्नोपनिषद्में—

प्राणं वा एते प्रस्कन्दति।
ये दिवा रत्या संयुज्जन्ते॥

दिनमें रतिके द्वारा प्राणमें हानि होती है। सन्ध्याकालमें भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। यमसंहितामें लिखा है किः—

चत्वारि खलु कर्म्माणि सन्ध्याकाले विवर्ज्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायश्च चतुर्थकम्॥

सन्ध्याकालमें आहार, मैथुन, नींद और स्वाध्याय, ये नहीं करने चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालके समयमें भी संसर्ग प्राणान्तकर है। ऋतुकालकी तो बात ही क्या कहना है, ऋतुकालमें संसर्ग सर्व्वथा त्याग करना उचित है उससे स्त्री पुरुष दोनोंको ही कठिन पीड़ा, आध्यात्मिक अवनति और प्राणनाश होता है। रजःसंयमका काल साधारणतः चार दिन होने पर भी स्वास्थ्यके व्यतिक्रमसे और अधिक भी हो सक्ता है। इसलिये नियम होना चाहिये कि जबतक रजःसंयम न हो तबतक संसर्ग न हो। उदरमें आहार्य्य द्रव्य अपक्क रहते स्त्री-पुरुषका संयोग नहीं होना चाहिये। स्त्री अथवा पुरुष किसीके

शरीरमें किसी प्रकारकी ग्लानि रहने पर भी स्त्रीसंयोग होना निषिद्ध है। गर्भिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध व रजोदर्शनके पहले सम्बन्ध महा पाप है। गर्भिणी स्त्रीके चित्तमें किसी प्रकारके कामभावके उत्पन्न होनेसे गर्भस्थ सन्तान कामुक व खराब होता है इसलिये हिन्दुशास्त्रमें उस दशामें पुरुषका सम्बन्ध निषेध किया गया है और बहुत प्रकारके संस्कार व धर्मभाव बढ़ानेकी आज्ञा की है। और स्त्रीसम्बन्ध जब सन्तानके लिये है तो उस समय अर्थात् गर्भके समयमें सम्बन्ध वृथा है। गर्भाधान संस्कार शास्त्रीय विधिके अनुसार होना चाहिये जो आगे किसी प्रबन्धमें वर्णन किया जायगा। किसी किसी निरंकुश व्यक्तिकी सम्मति है कि स्त्रीसम्बन्धसे निवृत्त रहने पर पुरुषको रोग हो जाता है यह सम्पूर्ण मिथ्या है। भीष्मदेवने ब्रह्मचर्य्यसे इच्छामृत्यु लाभ किया था, बीमार नहीं होगये थे। अवश्य चित्तमें कामभाव रहनेसे उसको दमन करनेकी इच्छा न करके जो लोग मानसमैथुन किया करते हैं उनको रोग हो सक्ता है परन्तु संयमी ब्रह्मचारी वीर्य्यके बलसे सकल प्रकारकी उन्नति कर सके हैं क्योंकि उनका शरीर नीरोग और दृढ़ होता है, उनमें द्वन्द्वसहिष्णुता और परिश्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है, उनमें आयु और मस्तिष्ककी शक्ति बढ़ती है और उनमें चित्तकी एकाग्रता और मानसिक शक्ति बढ़ती है एवं उनको रोग नहीं होता है।

सकल परिवार ही एक राज्यकी तरह है। जिस प्रकार राजाकी योग्यता और न्यायपरताके बलसे राज्यमें शान्ति रहती है उसी प्रकार परिवारकी भी शान्ति और उन्नति गृहकर्त्ता और गृहकर्त्रीकी न्यायपरतापर निर्भर करती है। परिवारोंके बीचमें वैमनस्य, लड़ाई व वाग्वितण्डा आदि अशान्तिकर विषय जिससे न होसकें इस विषयमें कर्त्ता व कर्त्रीको सदाही सावधान रहना चाहिये और कभी हो भी जाय तो निष्पक्षविचारसे शीघ्र ही शान्त कर देना चाहिये। गृहकार्य्य परिवारके स्त्री व पुरुषोंमें विभक्त करदेना, स्वयं सब कार्य्योंपर दृष्टि रखना, सबको मदद देना और उस कार्य्यविभागमें परिवर्त्तन करना, यह सब गृहिणी व गृहस्वामीका कर्त्तव्य है। स्वस्थ शरीर व्यक्तिमात्रको ही अर्थोपार्ज्जनकी चेष्टा करनी चाहिये। दूसरेके ऊपर अन्न व वस्त्रादिके लिये निर्भर करना ठीक नहीं है। इससे परिवारमें दरिद्रता व अशान्ति फैलती है। प्रत्येक गृहस्थका व्ययके अतिरिक्त सञ्चयकी ओर भी लक्ष्य रहना चाहिये। मितव्ययी लोग ही मितसञ्चयी हो सकते हैं।

सञ्चयका लक्ष्य खर्चके पहले होना चाहिये, पीछे नहीं होना चाहिये। आय व्ययका हिसाब गृहस्थको अवश्य ही रखना चाहिये । आयके अनुसार ही व्ययसङ्कोच होना चाहिये । परिवाररूपी छोटा राज्य समाजरूपी बृहद्राज्यके अन्तर्भुक्त है इसलिये सामाजिक शान्ति व उन्नतिके साथ प्रत्येक परिवारकी शान्ति व उन्नतिका सम्बन्ध है। प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है कि सामाजिक अनुशासनको मानकर चले, उसकी कदापि अवज्ञा न करे अधिकन्तु सामाजिक उन्नतिके लिये अपना स्वार्थ त्याग भी करे। प्रत्येक परिवार जबतक सामाजिक स्वार्थके लिये अपना स्वार्थसङ्कोच करना नहीं सीखता है तबतक समाजकी उन्नति नहीं होती है इसलिये समाजके साथ अङ्गाङ्गिभाव रखकर प्रत्येक गृहस्थको बर्त्तना चाहिये। ज्ञाति और कुटुम्बको अपने गौरवका अंशभागी करके उनके साथ सदा ही प्रेमके साथ मेल रखना चाहिये। प्रत्येक सार्व्वजनिक कार्य्यमें उनके परामर्श लेने चाहिये। उनकी उन्नतिके ईर्ष्यालु न होकर अपनेको सुखी व गौरवान्वित समझना चाहिये। कृत्रिम मैत्री व स्वजनता बढ़ाकर अपने गृहस्थाश्रमका केन्द्र धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये। उनके स्त्रीपुरुषोंको बीच बीचमें अपने घरमें सम्मानके साथ बुलाकर और उनके भी घरमें जाकर प्रीतिसम्बन्ध स्थापन करना चाहिये। समस्त संसारको अपना परिवार व कुटुम्ब समझकर अपने जीवनको संसारकी सेवामें उत्सर्ग करदेना गृहत्यागी चतुर्थाश्रमी संन्यासीका धर्म्म है। गृहस्थाश्रममें उस प्रकारकी कृत्रिम स्वजनताके द्वारा उस चतुर्थाश्रमके धर्म्मका प्रारम्भ होता है अतः प्रत्येक गृहस्थको उदारभावसे इसी प्रकारका बर्त्ताव आत्मीयजनोंसे करना चाहिये। अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानोंकी उन्नति व सत्शिक्षाके लिये पिता माताको सदा ही सचेष्ट रहना चाहिये। स्मरण रहे कि पिता माता जिस संसारमें आदर्श चरित्र हैं उसमें सन्तान भी अच्छी होती है। गर्भाधानसंस्कार ठीक ठीक शास्त्रानुकूल होनेसे धर्म्मपुत्र उत्पन्न होता है और कामज सन्तति नहीं होती है क्योंकि गर्भाधानके समय दम्पतिके चित्तका जैसा भाव होता है उसीके ही अनुरूप पुत्रका भी चित्त होता है। सात्त्विक भावसे उत्पन्न पुत्र सात्त्विक होता है। अत्यन्त पशुभावके द्वारा उन्मत्त होकर सन्तान उत्पन्न करनेसे सन्तान भी तामसिक होती है। दुर्ब्बल शरीर, दुर्ब्बलचेता और कामुक पुत्र जो कि आजकल देखनेमें आते हैं इसका कारण

गर्भाधानसंस्कारका बिगड़ जाना ही है। पिता माताको इन बातोंका ख़याल अवश्य रहना चाहिये, नहीं तो नालायक सन्तान उत्पन्न होकर उन्हींको दुःख देगी और वंशमर्य्यादा नष्ट करेगी। दूसरी बात विचार रखनेकी यह है कि सन्तानकी सकल प्रकारकी उन्नतिके लिये माता पिताको आदर्श चरित्र होना चाहिये। गृहस्थाश्रममें सन्तान होना विशेष सौभाग्यकी बात है क्योंकि पुत्र माता पिताको नरकसे त्राण करता है यह जो शास्त्रमें कहा गया है इसकी चरितार्थता इहलोक परलोक दोनोंमें ही देखनेमें आती है। श्राद्ध तर्पण आदि द्वारा पुत्र परलोकमें शान्ति व उन्नति तो माता पिताकी करते ही हैं; अधिकन्तु मायामय संसारमें बद्ध पिता माताकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इहलोकमें भी पुत्र निमित्तरूप होते हैं। जीवभाव स्वार्थमूलक है। सन्तान होनेसे पिता माताके इस स्वार्थमें बहुत ही सङ्कोच हुआ करता है। सन्तानके सुखके लिये पिता माता अपनी सुखेच्छा व स्वार्थबुद्धिको तिलाञ्जलि देते हैं इससे उनकी उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

सर्व्वत्र विजयं हीच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

सर्व्वत्र विजय चाहने पर भी लोग अपने पुत्रसे पराजय चाहते हैं। अपने पुत्रको अपनेसे भी गुणवान् देखनेकी इच्छा पिता माताकी हुआ करती है। यह भाव अहङ्कारका नाश करके गृहस्थकी आध्यात्मिक उन्नति करता है। अपने चालचलनमें ख़राबी होनेसे पुत्र भी बिगड़ जायगा और अपनेमें मितव्ययिता सदाचार स्वास्थ्यरक्षा-प्रवृत्ति आदि गुण न होनेसे पुत्र भी अमितव्ययी कदाचारी व रोगी होगा, ये सब भाव माता पिताको सच्चरित्र मितव्ययी सदाचारी व नीरोग बननेमें सहायता करते हैं। इस प्रकारसे सन्तान इहलोकमें भी पिता माताके नरकत्राणमें निमित्तरूप होती है। प्रत्येक गृहस्थ पिता माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानके सामने ये ही सब आदर्श रक्खें जिनसे अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानकी भी उन्नति हो और दिन बदिन वंशगौरवकी प्रतिष्ठा हो। सन्तानकी शिक्षाविषयमें पिता माताको ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षाके पूर्व्व संस्कारोंके अनुकूल होनेसे ही ठीक ठीक उन्नति हो सक्ती है। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

पूर्व्वजन्मार्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्मार्ज्जितं धनम्।
पूर्व्वजन्मार्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्व्व जन्ममें अर्जित विद्या, धन व पुण्योंके संस्कारानुकूल ही इस जन्ममें उन वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। इसलिये विद्या वही पढ़ानी चाहिये जिसका संस्कार सन्तानमें पूर्व्वजन्मसे है। आजकल कई माता पिता अपनी ही इच्छा व संस्कारके अनुसार पुत्रको शिक्षा देना चाहते हैं, ऐसा करना ठीक नहीं है। अवश्य, पुत्रका संस्कार पिता माताके संस्कारके अनुकूल ही बहुधा पाया जाता है, परन्तु सब विषयोंमें ऐसा नहीं भी होता है। इस विषय पर लक्ष्य रखकर पुत्रकी शिक्षा, खासकरके उसकी व्यावहारिक शिक्षा होनी चाहिये। उसका संस्कार जिस विद्या या विभागके सीखनेका हो उसे वही पढ़ना चाहिये और साथ ही साथ आदर्शचरित्र व धार्म्मिक होकर पिताको पुत्रके लिये धार्म्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये जिससे बालकपनसे उसके चित्तमें धर्म्मसंस्कार जम जायँ। ऐसा होनेपर भविष्यत्में सन्तान सच्चरित्र, धार्म्मिक, गुणवान् व विद्यावान् अवश्य होगी। यही गृहस्थाश्रमका धर्म्म संक्षेपसे बताया गया, इसके ठीक ठीक अनुष्ठानसे गृहस्थ देव, ऋषि व पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रमके अधिकारी अनायास ही होसकते हैं।

वानप्रस्थाश्रम । अब वानप्रस्थाश्रमधर्म्मका वर्णन किया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है किः—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

इस प्रकारसे स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम-धर्मको पालन करके यथा विधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि, वार्द्धक्यका लक्षण हो रहा है और पुत्रके पुत्र होगया हो उसी समय वानप्रस्थ होजाय। ग्रामके आहार व परिच्छद परित्याग करके व स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीके साथ ही वनमें जावे। ये सब आज्ञाएँ मनुजीने की हैं। पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक धर्म्मविधिके लक्ष्यको दृढ़ रखकर देश काल

पात्रके अनुसार विधिका नियोजन होनेसे ही यथार्थ फल मिलसकता है। आजकल देश काल इस प्रकार होगया है कि प्राचीन रीतिके अनुसार वानप्रस्थाश्रमविधिका पालन करना बहुत ही कठिन है और पात्रके विषयमें भी बहुत कठिनता होगई है क्योंकि वानप्रस्थमें जिस प्रकार तपस्या या व्रत आदि करनेकी आज्ञा शास्त्रमें पाई जाती है, तमःप्रधान कलियुगमें गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्टप्राय होजानेसे कामज सन्तति प्रायः होनेके कारण उन सब तपस्या या व्रतोंका आचरण कामज शरीरोंके द्वारा नहीं होसकता है इसलिये वनमें जाकर कठिन तपस्या, भृगुपतन, अग्निप्रवेश आदि करना असम्भव होगया है। इन्हीं सब बातोंपर विचार करके भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रभुने वानप्रस्थ व संन्यास दोनोंकी सहायताके अर्थ मठस्थ ब्रह्मचर्य्य-आश्रमकी नवीन विधिकी सृष्टि की थी। अतः देशकालपात्रानुसार लक्ष्यको स्थिर रखते हुए वानप्रस्थाश्रमको निभाना ही विचार व शास्त्रसङ्गत होगा।

वानप्रस्थ-आश्रम निवृत्तिमार्गका द्वार है। पूर्व्वजन्मोंके कर्म्मोंके प्रभावसे कोई भाग्यशाली व्यक्ति कदाचित् यथार्थ संन्यासी बन सकते हैं; परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसारमें बहुत कम ही होते हैं इस कारण वानप्रस्थाश्रमकी स्थापना किसी न किसी स्वरूपमें अवश्य होनी चाहिये। प्रस्तावके तौरपर एक आध विचार निश्चय किया जाता है। किसी प्राचीन तीर्थको अथवा किसी प्राचीन तीर्थके किसी भागको सत्सङ्ग व सच्चर्चाके द्वारा आदर्शस्थान बनाकर वहाँ यदि निवृत्तिसेवी व्यक्ति अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति व निवृत्तिमार्गमें जानेके विचारसे प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्रके आश्रयसे उक्त आदर्शतीर्थमें वास करें और क्रमशः साधुसङ्ग, वैराग्यचर्चा, अध्यात्मशास्त्रोंका पठन पाठन और योगसाधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानोंको करते हुए अपने जीवनको कृतकृत्य करें तो वे इस कराल कलियुगमें वानप्रस्थ-आश्रमका बहुतसा फल प्राप्त करसकेंगे। और इस प्रकारसे ऐसे निवृत्तिसेवी भाग्यवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे संन्यासी बन सकेंगे। और यदि वे कठिन संन्यासाश्रममें न भी पहुँचना चाहें तो भी वे अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति करसकेंगे एवं आदर्श दिखाकर जगत्का भी कल्याण करसकेंगे।

उक्तप्रकारसे संयत होकर वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करनेसे क्या गति होती है सो मुण्डकोपनिषद्में लिखा है। यथाः—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

भिक्षावृत्तिको आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्यमें निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पुण्य पापसे मुक्त होकर उत्तरायण पथसे अमृत अव्यय पुरुषके लोकमें अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रमका संक्षेपसे रहस्य वर्णन किया गया। इसका अपने अपने अधिकार और देश कालसे मिलाकर अनुष्ठान करनेपर त्रिविध तप व संयमके द्वारा निवृत्तिभावका अभ्यास होगा जिससे द्विजगण चतुर्थाश्रमके अधिकारी बन सकेंगे।

संन्यासाश्रम। अब संक्षेपसे चतुर्थ अर्थात् संन्यासाश्रमका कुछ वर्णन किया जाता है।

मनुजीने कहा है:—

प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।

मनुष्यकी प्रवृत्ति ही स्वभावतः निम्नगामिनी है। इसलिये प्रथम अर्थात् ब्रह्मचर्य्यआश्रममें प्रवृत्तिके निम्नगामी स्रोतका रोकनेके लिये अपनेको पूर्णतया आचार्य्यके अधीन कर देना और उन्हींकी आज्ञासे सब कुछ करना ब्रह्मचर्याश्रमका धर्म है। इस प्रकार निम्नगामी प्रवृत्तिको रोककर उसकी गति ऊपरकी ओर करनेके लिये अर्थात् धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा पानेके लिये ब्रह्मचर्य्याश्रमकी विधि महर्षियोंने बतायी है। धर्ममूलिका प्रवृत्ति निवृत्तिप्रसविनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये प्रथम आश्रममें प्रवृत्तिशिक्षा द्वारा निवृत्तिका पोषण होता है। द्वितीय अर्थात् गृहस्थाश्रममें आनेसे धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है जिससे स्वयं ही निवृत्तिका पोषण होता है। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्तिको एकपत्नीव्रत द्वारा निरुद्ध करके, आत्मसुखभोग-प्रवृत्तिको पुत्र परिवारादिके सुखसाधनमें विलीन करके, अपने प्राणको पारिवारिक प्राणके साथ मिला करके और दूसरेके सुखमें अपना सुख समझ करके गृहस्थका प्रवृत्तिसङ्कोच और निवृत्तिपोषण होता है। परन्तु गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिकी धर्ममूलक चरितार्थताद्वारा निवृत्तिका पोषण होनेपर

भी गृहस्थाश्रमके कार्यों के साथ अपने शारीरिक और मानसिक सुखका सम्बन्ध रहनेसे आत्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे बद्ध रहता है। अपने स्त्री पुत्र और परिवारके सुखके लिये सुख त्याग करनेपर भी उसी सुखत्यागमें ही गृहस्थको सुख होता है, उनको आराममें रखकर गृहस्थको सुख मिलता है अर्थात् उनके सुख दुःखके साथ गृहस्थ अपने सुख दुःखका सम्बन्ध बांध लेता है। इसलिये केवल अपनी सुखान्वेषणप्रवृत्तिकी दशासे यद्यपि यह दशा बहुत उत्तम है तथापि इसमें भी आत्माका शरीरसे बन्धन ही रहता है। और जब तक यह दशा रहेगी अर्थात् आत्माका स्थूल सूक्ष्म शरीरसे बन्धन रहेगा और उसीके सुख दुःखसे आत्मा अपनेको सुखी या दुःखी समझेगा तबतक मुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिये तृतीय व चतुर्थ आश्रममें आत्माको शरीर व मनसे पृथक् करके स्वरूपस्थित करनेके लिये उपाय बताये गये हैं। वानप्रस्थाश्रमकी समस्त तपस्या व आचरण सभी इन्द्रिय सुखभोगसे अन्तःकरणको पृथक् करके आत्मामें लवलीन करनेके लिये है इसलिये वह आश्रम साक्षात्रूपसे निवृत्तिका पोषक है। शरीर व मनको सुख दुःख, शीतोष्ण व राग द्वेष समस्त द्वन्द्वोंमें एकरस व सहिष्णु बनाना इस आश्रमका प्रधान धर्म है। इसके द्वारा आत्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरसे पृथक् होकर स्वरूपकी ओर अग्रसर होने लगता है। बहुत दिनोंतक गृहस्थाश्रममें प्रवृत्तिका सङ्ग होनेसे शारीरिक और मानसिक अभ्यास और प्रकारका हो गया था इसलिये कठिन तपस्या द्वारा उन अभ्यासोंको त्याग करके वानप्रस्थ निःश्रेयसप्रद संन्यासाश्रमका अधिकार प्राप्त कराता है। मनुसंहितामें लिखा है किः—

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥

इस प्रकारसे आयुका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें बिता करके चतुर्थभागमें निःसंग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण करते हुए अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जितेन्द्रियताके साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मोंसे श्रान्त हो तब संन्यास ग्रहण करनेसे परलोकमें उन्नति होती है। यह संन्यासका साधारण क्रम है। असाधारण दशामें ब्रह्मचर्य-

आश्रमसे ही प्रारब्धबलसे एकबारगी संन्यासाश्रम ग्रहण होता है जैसा कि पहिले कहा गया है। श्रुतिमें लिखा है किः-

न कर्म्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, सन्तत्ति या धन किसीसे भी अमृत्वलाभ नहीं होता है, केवल त्यागसे ही अमृतलाभ होता है। जिस द्विजमें यह त्यागबुद्धि ब्रह्मचर्य्याश्रममें ही हो गई है उसके लिये श्रुतिने आज्ञा की है किः--

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।
यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। इत्यादि।

ब्रह्मचर्य्यसे ही संन्यास लेवे, जिस दिन वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यास ले लेवे इत्यादि। परन्तु जिनका अधिकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यका नहीं है उनके लिये क्रमशः आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण द्वारा उच्चाधिकार प्राप्त करके चतुर्थाश्रममें संन्यास लेना ही शास्त्रसंगत है। संन्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। जो महाफल निवृत्तिव्रत ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रारम्भ हुआ था, संन्यासाश्रममें उस महाव्रतका उद्यापन होता है जिससे जीवको मोक्षरूप फलप्राप्ति होती है।

ब्रह्ममें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हैं, इसलिये कार्यब्रह्मरूपी इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भी तीन भाव हैं अतः जीवमें भी तीन भाव हैं। इन तीनों भावोंकी शुद्धि व पूर्णता द्वारा ही साधक ब्रह्मरूप बन सकता है। निष्काम कर्मके द्वारा आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाके द्वारा आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इसलिये संन्यासाश्रममें निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञानका अनुष्ठान शास्त्रोंमें बताया गया है।

निष्काम कर्म्मके विषयमें श्रीगीताजीमें कहा है किः—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्म्मफलकी इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी

व योगी है, निरग्नि व अक्रिय होनेसे ही संन्यासी नहीं होता है। काम्य कर्म्मोंका त्याग ही संन्यास है और सकल कर्म्मोंका फलत्याग ही त्याग है। कर्म्मत्याग त्याग नहीं। इसलिये निष्काम जगत्कल्याणकर कार्य्य संन्यासीका अवश्य कर्त्तव्य है। जीवभाव स्वार्थमूलक है। जबतक यह स्वार्थ-भाव नष्ट नहीं होता है तबतक जीवभाव भी नष्ट नहीं हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवा द्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीवभावका नाश होता है तभी संन्यासी अपने लक्ष्यको प्राप्त करसकते हैं। इसलिये गीतामें निष्काम कर्म्मकी इतनी प्रशंसा की गई है और इसीलिये प्राचीन महर्षिगण इतने परोपकारव्रत-परायण हुआ करते थे। परमात्मा सत् चित् और आनन्दरूप हैं। उनकी सत्सत्तासे विराट्की स्थिति है। कर्म्मसे सत्सत्ताका सम्बन्ध है। संन्यासी निष्काम कर्म्मद्वारा अपनी सत्ताको विराट्की सत्तासे मिलाकर ही सद्भावकी पूर्णताको प्राप्त होसकते हैं क्योंकि परमात्मामें जब सत् चित् व आनन्दभाव है तो परमात्माके अंशरूप जीवोंमें भी ये तीनों भाव विद्यमान हैं। जीवोंमें ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जबतक ऐसी परिच्छिन्नता है तबतक जीव बद्ध है। मुक्तिके लिये अपनी सत्सत्ताको उदार करके विराट्की सत्तामें विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भावकी पूर्णता नहीं होसकती है। संसारको भगवान्का रूप मानकर निष्काम जगत्सेवामें प्रवृत्त होनेसे साधक अपने जीवनको विश्वजीवनके साथ सहज ही मिलासकते हैं और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट्की सत्तासे मिल सकती है। यही संन्यासाश्रममें मुक्तिका प्रथम अङ्ग है इसलिये संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्म करना चाहिये, अन्यथा पूर्णता नहीं होगी और तमःप्रधान कलियुगमें तो निष्काम कर्म्मकी बहुत ही आवश्यकता है क्योंकि इस युगमें कालधर्म्मके अनुसार तमोगुणका प्रभाव सर्व्वत्र रहता है जिससे कर्म्महीन पुरुषमें आलस्य प्रमाद आदिका होना बहुत ही सम्भव है। इसलिये निष्कामव्रतपरायण न होनेसे कलि-युगके संन्यासियोंमें आलस्य प्रमाद आदि बढ़कर पतन होनेकी विशेष सम्भावना रहेगी। अतः अपने स्वरूपमें स्थित रहकर संन्यासका चरम लक्ष्य निःश्रेय-सपद प्राप्त करनेके लिये कलियुगमें संन्यासीको अवश्य ही निष्काम कर्म्मयोगी होना चाहिये। इससे उनका पतन नहीं होगा। यही वेद और शास्त्रोंको आज्ञा है। अवश्य, संन्यासधर्म्मपरायण व्यक्तिको जगत्को भगवान्का रूप मानकर और जगत्सेवाको भगवत्सेवा मानकर शुद्ध निष्काम व भक्तियुक्त होकर

कार्य्य करना चाहिये। उसमें वित्तैषणा या लोकैषणा आदि दोष कभी नहीं होने चाहिये। श्रुति कहती है किः—

पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया
व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, इन तीनों एषणाओंके छूटनेपर तब यथार्थ संन्यासी होसकते हैं। इस प्रकार निष्काम कर्म्म करनेसे संन्यासी अपने जीवनको संसारके लिये उत्सर्ग करते हुए अवश्य ही पूर्णता प्राप्त करेंगे।

अत्यन्त ही खेदकी बात यह है कि, आज कल साधु व संन्यासियोंकी संख्या आवश्यकतासे अधिक और शास्त्र-अनुशासनके विपरीतरूपसे अधिक होने पर भी उनके इस निष्काम धर्म्मके भूल जानेके कारण, वे अपनी जातिके काममें नहीं आते। आज कलके साधु संन्यासी निष्काम व्रतको भूल रहे हैं इस कारण वे बुद्धिमान् व्यक्तियोंके निकट अपने समाजमें अयोग्य और भाररूप समझे जाते हैं। यदि आज कलके साधु संन्यासी जगत्पवित्रकर इस निष्कामव्रतके महत्त्वको कुछ भी समझते तो भारतवर्षकी उन्नति और सनातनधर्म्मके पुनरभ्युदयमें विलम्ब न होता। परन्तु हमारी जातिके इस दुर्दैवके लिये आज कलके गृहस्थ भी कुछ जिम्मेवार हैं। यदि वे योग्य, तपःस्वाध्यायरत, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और निष्कामव्रतपरायण साधु संन्यासियोंका विशेष सम्मान और अयोग्य साधु संन्यासियोंका तिरस्कार करते रहते तो अयोग्य व्यक्तियोंकी संख्या बढ़कर हमारी जाति ऐसी कलङ्कित नहीं हो जाती। अतः अयोग्य व्यक्तियोंके तिरस्कार और योग्य व्यक्तियोंके पुरस्कार करनेकी ओर हिन्दुजातिका विशेष ध्यान रहना चाहिये। और दूसरी ओर साधु संन्यासियोंके जो आचार्य्य, महन्त और नेतागण हैं उनका भी कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे अपने सम्प्रदायमें निष्कामव्रत, धर्म्मप्रचारप्रवृत्ति व जगत्सेवामें अनुराग क्रमशः बढ़ानेका यत्न करें। जिससे साधु संन्यासियोंमें निष्काम कर्म्मयोगकी प्रवृत्ति बढ़े ऐसा यत्न सर्व्वसाधारण सनातनधर्म्मावलम्बी मात्रको करना उचित है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे तृतीयकिरणम्।

चतुर्थ किरण ।

नारीधर्म ।

वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मके विषयमें विचार करके अब नारीधर्मके विषयमें विचार किया जाता है। पुरुष हो या स्त्री, धर्मका अन्तिम लक्ष्य जब 'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' महर्षि याज्ञवल्क्यके इस कथनानुसार आनन्दमय परमात्माके नित्यानन्दका लाभ करना है तो संसारमें उन्नत जाति वही कहलावेगी या उन्नत मनुष्य वही कहलावेगा जिसने धर्मके विधानानुसार परमात्माके प्राप्तिका पथ अतिसुगम कर लिया हो। कठोपनिषद्में लिखा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

प्रजापतिने जीवोंकी इन्द्रियोंको बाहरकी ओर अर्थात् रूप, रसादि विषयोंकी ओर फैला रक्खा है, इसकारण जीवकी दृष्टि विषयकी ओर ही रहती है, आत्माकी ओर नहीं रहती। केवल सहस्रोंमें कोई कोई धीर पुरुष अमृतत्वलाभकी इच्छासे विषयोंसे इन्द्रियोंका मुख मोड़कर मनकी अन्तर्मुखी वृत्ति कर देते हैं और उन्हें ही आत्माका दर्शन हो जाता है। अतः माया और उसके परिणामरूप विषयादि ही परमात्माकी प्राप्तिके पथमें कण्टकरूप हैं, यही वेदके वचनानुसार सिद्ध हुआ। स्त्री पुरुष इसी मायामें फंसकर परमात्माको भूले रहते हैं और उन्नत या अवनत स्त्री पुरुष वे ही कहलाते हैं जिनसे मायाका पाश शीघ्र या देरसे कटता हो। विवाह, सन्तानोत्पत्ति, काञ्चनमें आसक्ति इत्यादि मायामय जगत्में फंसनेके सब उपाय हैं। इनके संयमसे ही आत्माके पथमें जीवकी उन्नति और इसकी अन्यथामें अवनति होती है। इस प्रकारसे विचार करनेपर संसारके मनुष्य तथा मनुष्यसमुदायको निम्नलिखित सात भागमें विभक्त किया जा सकता है।

नरनारियोंकी अधिकारानुसार सप्तकोटि ।

(१) सबसे उत्तम पुरुष वही है जिसको कभी मायाके फन्देमें फंसना ही न पड़ा और जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी होकर सीधा निवृत्तिमार्गके अवलम्बनसे परमात्मा तक पहुंच गया। यथा मनुसंहितामें—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः। ।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेह जायते पुनः ॥
(२य अध्याय)

इस प्रकारसे जो विप्र अखण्ड ब्रह्मचर्य्यका पालन करते हैं उनको परमपद लाभ होता है और पुनः इस संसारमें नहीं आना पड़ता है। यह अधिकार अति दुर्लभ तथा सर्वोत्तम है। इसके अनन्तर (२) दूसरी कोटि वह है जिसमें पुरुष विवाह तो करे किन्तु थोड़े दिन बाद ही संसार छोड़कर निवृत्तिसेवी हो जाय और साधना द्वारा मोक्षलाभ करे। (३) तीसरी कोटि वह है जिसमें एक स्त्रीके मर जानेपर पुनः पुरुष विवाह न करे किन्तु निवृत्तिसेवी होकर मोक्षमें मन लगावे। (४) चौथी कोटि वह है जिसमें केवल वंशरक्षा या अग्निहोत्रके विचारसे एक स्त्री-वियोग होनेपर द्वितीय विवाह हो। इतने तक आर्यधर्मकी कोटि है। इसके बाद (५) पञ्चम कोटि वह है जिसमें एक स्त्रीके मर जाने पर केवल विषय लालसासे द्वितीय विवाह हो। (६) और अति अधम षष्ठ कोटि वह है जिसमें केवल कामभोगार्थ कई एक स्त्रियोंका संग्रह हो। ये दोनों ही निन्दनीय पशुभाव हैं। इसके बाद अन्तिम (७) सप्तम कोटि अनर्गल व्यभिचारकी है, वह अधमाधम नारकियोंका भाव है। इसी-प्रकार नारीजातिके लिये भी निम्नलिखित सात कोटि समझ सकते हैं यथा—
(१) असाधारण कोटि जिसमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियां अन्तर्भुक्त हैं। उनके विवाह न करनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसी स्त्रियां ज्ञानके बलसे परमात्माको ही पति मानकर उन्हींमें तन्मय हो आत्मोद्धार कर लेती हैं। (२) पतिव्रता कोटि जिसमें, पतिके साथ स्त्री सहमरणमें जाती हैं। (३) पतिव्रता कोटि जिसमें स्त्री सहमृता न होकर ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित रहे और परलोकगत पतिके आत्माका उपासना करे या उसी आत्माको परमात्मामें लवलीन समझकर परमात्माकी आराधना करे। शास्त्रमें इस प्रकार पतिव्रताकी भी बड़ी प्रशंसा पायी जाती है यथा मनुसंहितामें—

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ (५ म अ०)

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प मूल या फल खाकर जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नाम तक नहीं लेवे। पतिके मृत होनेपर ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित सती स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंकी तरह उत्तम गतिलाभ करती है। आर्यनारीकी कोटि यहांतक है क्योंकि इसमें जीवनमरणमें एक ही पति लक्ष्य है, उसी पतिको भगवान् समझकर जबतक वे जीवित रहे तबतक गृहस्थरूपसे उनकी साकार मूर्त्तिकी पूजा और उनके स्थूल शरीरके मृत होनेपर संन्यासिनीरूपसे उनके निराकार आत्माकी पूजा, और उसी पूजा द्वारा नित्यानन्दमय मोक्षलाभ लक्ष्य है। इसी लक्ष्यपर विचार करके ही श्रीभगवान् मनुने कहा है—'न विवाह-विधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः'। अर्थात् वैदिक विवाह विधिमें विधवाका पुनर्विवाह कहीं नहीं पाया जाता है। इसके बाद (४) चौथी कोटि वह है जिसमें एक पतिके मृत होनेपर द्वितीय पतिका ग्रहण हो। यह आर्य कोटि नहीं है क्योंकि इसमें स्थूल इन्द्रियोंका भोग लक्ष्य है आत्मा लक्ष्य नहीं है। इसी कारण एक स्थूल शरीरके मृत होनेपर विषयभोगार्थ अन्य पतिकी आवश्यकता पड़ी। यह रीति आर्यजातिके सिवाय पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें तथा हिन्दुओंके भीतर भी अनार्यप्राय असत् शूद्रोंमें प्रचलित है। इसके बाद (५) पञ्चम कोटि वह है जिसमें जीवित पतिको भी त्याग (Divorce) करके द्वितीय पतिका ग्रहण किया जाय। यह रीति और भी निन्दनीय तथा अनार्य्य-भावमय है। अनेक पश्चिमी जातियोंमें यह रीति प्रचलित है और इससे उन जातियोंमें दाम्पत्यप्रेमका पूर्ण अभाव तथा गृहमें सदा अशान्ति देखी जाती है। इसके बाद (६) षष्ठ कोटि अति अधम पशुओंकी तरह है जिसमें दस बीस दिनके लिये एक पुरुषके साथ कन्ट्रैक्ट हो इत्यादि। पारस्य देशमें कहीं कहीं इस प्रकार घृणित रीति देखनेमें आती है। इसके बाद (७) सप्तम कोटि अधमाधम व्यभिचार कोटि है, जो नारकियोंकी कोटि है।

पातिव्रत्यकी आवश्यकता।

ऊपरवर्णित विचारोंके अनुसार भिन्न भिन्न जातियोंमें नारीधर्मकी व्यवस्था बांधी गई है। आर्यजातिमें धर्मका अन्तिम लक्ष्य आत्मा है, इस कारण यहांका नारीधर्म भी आत्मलक्ष्यप्रधान रक्खा गया है। इस लक्ष्यकी सिद्धि दो प्रकारसे हो सकती है, एक—परमात्माको ही पति मानकर उनमें शरीर, मन, प्राणसे लवलीन होनेका प्रयत्न करना और दूसरा—किसी मनुष्य पतिको भगवान् मानकर उनमें शरीर मन प्राणसे तन्मय

तथा लवलीन होनेका प्रयत्न करना। प्रथम कोटि गार्गी, मैत्रेयी आदि असाधारण 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियोंकी है और द्वितीयकोटि 'सद्योवधू' पवित्रा पतिव्रता स्त्रियोंकी है। स्त्री शरीरके उपादानमें प्रकृतिका अंश है क्योंकि स्त्रियां जगन्माताकी ही रूप कहलाती हैं।

'सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः' (देवीभागवत)

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' (सप्तशती)

'कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः' (देवी भागवत)

इन सब बचनोंके द्वारा यह सिद्धान्त प्रमाणित भी होता है। यही कारण है कि स्त्रियोंमें मातृभावसूचक स्नेह, ममता प्रेम, भक्ति आदि स्वाभाविक रूपसे होता है। अतः स्त्रियोंको असाधारण बनाकर मौलिक प्राकृतिक मातृभावको बिगाड़कर सभीको गार्गी बनानेकी चेष्टा करना असम्भव है। उनके लिये प्रेम भक्तिके पात्र किसी साकार मूर्त्तिको भगवान्के रूपमें उनके सामने धर देना और उन्हींमें शरीर मन प्राण समर्पण करनेकी आज्ञा देना सहज, स्वाभाविक तथा अल्पायाससाध्य मार्ग है। इसीसे सोचकर पूज्यपाद महर्षियोंने स्त्रीजातिके लिये त्रिलोकपवित्रकर पातिव्रत्यधर्मकी आज्ञा की है। यथा अथर्ववेदके १८।३।१ में—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

दाहके समय देवरादिका मृतकको लक्ष्यकर कथन है कि (मर्त्य) हे मनुष्य! (पतिलोकं) जहां पति गया हो उस लोककी (वृणाना) इच्छा करती हुई (पुराणम्) उस जन्ममें भी यही पति मिले इस सनातन (धर्मम्) धर्मका (अनुपालयन्ती) पालन करती हुई (इयं) यह (नारी) स्त्री (प्रेतं) मृतक हुए (त्वा उपनिपद्यते) तुम्हारे समीप निरन्तर प्राप्त होती है अर्थात् सहमरणार्थ निश्चय कर चुकी है। (तस्मै) उसके लिये (प्रजां द्रविणं धेहि) पुत्रादि और धनको धारण करो।

तपस्विनी पतिव्रता सती अपने शरीर, मन, प्राण व आत्माको समस्त संसारकी वस्तुओंसे हटाकर पतिमें ही लवलीन करती हुई उक्त गतिको प्राप्त कर सकती है। यही नारीजातिके लिये परम पवित्र पातिव्रत्यधर्म्म है। इसलिये ही मन्वादि स्मृतियोंमें लिखा है कि:—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्य्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
नाऽस्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥ (५म अ)
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदिताऽत्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्व्वमेव प्रबुद्ध्यते।
प्रविशेच्चैव या वह्नौ याते भर्त्तरि पञ्चताम्।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥

शील चरित्र व गुणोंसे हीन होनेपर भी पतिव्रता स्त्रीको सदा देवताके समान पतिकी सेवा करनी चाहिये। स्त्रियोंके लिये कर्त्तव्य कोई भी पृथक् यज्ञ व्रत या उपवास आदिकी विधि नहीं है, केवल पतिसेवा द्वारा ही उनको उन्नतलोक प्राप्त होता है। पति जीवित हो या मृत हो पतिलोककी चाहनेवाली स्त्री कदापि उसका अप्रिय आचरण नहीं करेगी। पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उसके दुःखसे दुःखिनी व सुखसे सुखिनी, उसके विदेश जानेपर मलिन वस्त्रधारणी, उसके सोनेके बाद सोनेवाली, उसके जागनेके पहले जागनेवाली, उसकी मृत्यु होनेपर अग्निमें प्राण त्याग देनेवाली और जिसके चित्तमें सिवाय अपने पतिके और किसीकी चिन्ता नहीं है वही स्त्री पतिव्रता कहलाती है। यही आर्यजातिमें उत्तम कोटिका धर्म है। जिन जातियोंका धर्म शरीर तथा इन्द्रियोंका भोगलक्ष्यप्रधान है उनमें यह कोटि न चलकर चौथी, पांचवी आदि कोटि चलती है।

आर्य्यशास्त्रमें नारीजीवनको साधारणतः तीन अवस्थाओंमें विभक्त किया गया है। यथाः-कन्या, गृहिणी और विधवा। नारीका एक मात्र धर्म्म पातिव्रत्य होनेसे इस व्रतके लिये शिक्षा उक्त तीनों अवस्थाओंमें हुआ करती है। कन्यावस्थामें पातिव्रत्यकी शिक्षा, गृहिणी-अवस्थामें उसका पालन और विधवावस्थामें उसकी चरम परीक्षा होती है।

कन्याके लिये ऐसी शिक्षा होनी चाहिये जिससे वह पूर्ण माता और पतिव्रता सती बन सके। उसको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता और अधर्म्म है। इससे फल सिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा; क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि प्रकृतिविरुद्ध होनेसे वह पुरुष भावको तो कभी नहीं प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खो देगी जिससे उसके और संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभावमें तन्मयता ही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नहीं कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्रीप्रकृतिसे विरुद्ध है। इसीलिये मनुजीने कहा है कि:—

स्त्रीशिक्षा कैसी होनी चाहिये।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(९ म अ०)

पुरुषोंका कर्तव्य है कि स्त्रियोंको सदा ही अधीन रक्खें। उन्हें स्वतन्त्रता न देवें। गृहकार्य्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्यावस्थामें पिताके अधीन रहती है, यौवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है। कभी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है। पतिभगवान्के साथ स्त्रीका उपास्य उपासक भाव है। उपासक भक्त उपास्य देवताके वश होकर उनमें भक्तिके द्वारा लय हो जानेसे ही मुक्ति लाभ कर सकता है। उनसे स्वतन्त्र होनेपर नहीं कर सकता है। यही पातिव्रत्य धर्म है। स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उसमें स्वतन्त्र भ्रमण, स्वतन्त्र प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्रताके भाव आ जायंगे जिससे पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जायगा। वह यदि ग्रेजुयेट, एम्० ए० या शास्त्री हो जाय किन्तु माता या सती होना भूल जाय तो उसकी शिक्षा तीन कौड़ीकी भी नहीं होगी। अतः विचार कर कन्याको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे वह भविष्यत्में पतिके अधीन रहकर अच्छी माता, चतुरा गृहिणी और पतिव्रता सती बन सके,

क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानोंकी पहली शिक्षाके लिये पितासे भी माताका सम्बन्ध अधिक रहता है। वीर माताकी वीर सन्तान और धार्मिक माताकी धार्मिक सन्तान प्रायः हुआ करती है। अतः वर्तमान देशकालके विचारसे यदि स्त्रीको शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी जाय तो पिता माताको सदा ही ध्यान रखना चाहिये कि उनकी शिक्षामें ऊपर लिखित लक्ष्य अटूट रहे, क्योंकि पातिव्रत्यके द्वारा ही स्त्री जातिको उन्नति और मुक्ति मिलती है। इसलिये शिक्षाका वही उद्देश्य होना चाहिये।

पतिव्रता गृहिणी

विवाहके अनन्तर नारीजीवनकी दूसरी अर्थात् गृहिणी अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्थामें पतिदेवतामें तन्मयतामूलक पवित्रतामय सती धर्म्मकी जो शिक्षा लाभ हुई थी, गृहिणी अवस्थामें उसी सती-धर्म्म या पातिव्रत्यका पालन होता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ भक्त भगवान्‌के चरण कमलोंमें अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभीको समर्पण करके भगवद्भावमें तन्मय होकर भगवान्‌को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सती स्त्री पतिदेवताके चरण कमलोंमें अपना जो कुछ है सभी समर्पण करके उन्हींमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है।

सतीत्वकी महिमाको वर्णन करते हुए परम पूज्यपाद महर्षियोंने बहुत बातें लिखी हैं। मनुजीने कहा है किः—

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

सन्तानप्रसव करनेके कारण महाभाग्यवती, सम्मानके योग्य और संसारको उज्ज्वल करने वाली स्त्रीमें और श्रीमें कोई भेद नहीं है। जो स्त्री शरीर, मन और वाणीसे अपने पतिके सिवाय और किसी पुरुषसे सम्बन्ध नहीं रखती वही सती कहलाती है। उसको पतिलोक प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यजीने कहा है किः—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह॥

पतिकी जीवितावस्थामें या मृत्युके बाद भी जो स्त्री अन्यपुरुषकी कभी इच्छा नहीं करती है उसको इहलोकमें यश मिलता है और परलोकमें उसके साथ सतीलोकमें वह आनन्दसे रह सकती है। दक्षसंहितामें लिखा है किः—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी॥

जो स्त्री पतिके अनुकूल आचरण करती है, कटु बचन नहीं कहती है, गृहकार्य्योंमें दक्षा सती, मिष्टभाषिणी, अपने धर्मकी रक्षा करने वाली और पतिभक्तिपरायणा है वह मानवी नहीं है परन्तु देवी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहा है किः—

सर्व्वदानं सर्व्वयज्ञः सर्व्वतीर्थनिषेवणम्।
सर्व्वं व्रतं तपःसर्व्वमुपवासादिकञ्च यत्॥
सर्व्वधर्म्मश्च सत्यञ्च सर्वदेवप्रपूजनम्।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥

समस्त दान, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थोंकी सेवा, समस्त व्रत, तप और उपवास आदि सब कुछ और सब धर्म्म, सत्य और देवपूजा ये पतिसेवाजनित पुण्यका षोडशांश पुण्य भी उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें सतीधर्मकी महिमा बताई गई है जिसके सम्यक् पालन द्वारा स्त्रीजाति अनायास ही उत्तम गति लाभ कर सकती है।

वैधव्य जीवन

नारीजीवनकी तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्म्मके चक्रसे यदि सतीको विधवा होना पड़े तो इस वैधव्य दशामें पातिव्रत्यकी पूर्ण परीक्षा होती है। सतीत्वके परम पवित्र भावमें भावित सतीका अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यास दशामें परमदेवता पतिके निराकार रूपमें तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्म्मकी पूर्णताका साधन और उद्यापन कराता है। इसीलिये यह तृतीय दशा परमगौरवान्वित तथा पवित्रतामय है। यह बात पहले ही सिद्ध की गई है कि भगवच्चरणकमलमें भक्तोंकी तरह पतिके चरणकमलोंमें लवलीन होनेसे ही स्त्रीकी मुक्ति होती है। पतिव्रता सती पातिव्रत्यके प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चमलोकमें जाकर पतिके साथ आनन्दमें मग्न रहती है। इस प्रकारकी तन्मयता द्वारा पातिव्रत्यकी पूर्णता होनेसे ही

पुनर्जन्मके समय उनको स्त्रीयोनिमें नहीं आना पड़ता है। वह अपनी योनिसे मुक्त हो उत्तम गतिको प्राप्त करती है। आर्य्यमहर्षियोंने जो स्त्रीजातिको सकल दशाओंमें ही एकपतिव्रतका उपदेश दिया है उसका यही कारण है। क्योंकि विना एकपतिव्रतके तन्मयता नहीं हो सकती। अनेकोंमें जो चित्त चञ्चल होता है उसमें तन्मयता कभी नहीं आ सकती है और विना तन्मयताके पातिव्रत्यकी पूर्णता नहीं हो सकती है एवं विना पातिव्रत्यकी पूर्णताके स्त्री योनि समाप्त होकर मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिये गृहिणी और विधवाकी सकल दशामें ही महर्षियोंने एकपतिव्रतरूप धर्म्मपर इतना जोर दिया है। इस धर्म्मके विना स्त्रीका जन्म ही वृथा है। कन्याकालमें इस धर्म्मकी शिक्षा और गृहिणीकालमें इसका अभ्यास होकर विधवाकालमें इसकी समाप्ति होती है। इसलिये वैधव्यदशामें भी पातिव्रत्यका पूर्ण अनुष्ठान होकर मृत पतिकी आत्मामें अपनी आत्माका लयसाधन करना ही विधवाका एकमात्र धर्म्म है।

आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह स्थूल शरीरके भोगमात्रको लक्ष्य करके नहीं रक्खा गया है; क्योंकि इस प्रकार करनेसे भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व मनुष्यत्व तकको नष्ट कर देगी और मनुष्यको पशुसे भी अधम बना देगी। आर्य्यजातिका विवाह भोगको बढ़ानेके लिये नहीं है; किन्तु स्वाभाविक और अनर्गल भोगस्पृहाको घटानेके लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविक पुरुषभोगेच्छाको अन्य सब पुरुषोंसे हटाकर एक ही पतिमें केन्द्रीभूत करती हुई उन्हींमें पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त हो जायगी इसलिये स्त्रीका विवाह है। पुरुष अपनी स्वाभाविक अनर्गल भोगेच्छाको एकही स्त्रीमें केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृतिको देखकर उससे अलग हो मुक्त हो जायंगे इसलिये पुरुषका विवाह है। स्त्रीके लिये एक ही पतिमें तन्मय होना धर्म्म है, उसमें एकके सिवाय दूसरा होनेसे एकाग्रता नहीं रहेगी, अतः तन्मयता नहीं होगी और मुक्तिमें बाधा हो जायगी इसलिये एकपतिव्रत स्त्रीके लिये परम धर्म है। स्त्रीके लिये इस प्रकारका द्वितीय विवाह धर्म्म नहीं हो सकता। वैधव्य क्यों होता है इस विषयमें स्कन्द पुराणमें अरुन्धती आख्यानमें निम्न लिखित प्रमाण मिलता है यथाः—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसंभवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।

या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम् ।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत् ॥

पार्वतीके प्रति महादेवकी उक्ति है, जो पुरुष अपनी निर्दोषा कुलीन स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीमें आसक्त या अन्य स्त्री ग्रहण करता है वह दूसरे जन्ममें स्त्रीयोनि पाकर विधवा हो जाता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है उसको भी जन्मान्तरमें वैधव्य होता है। अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुष दोनोंको ही किसी प्राक्तन दोषके कारण होता है तो तपस्याके द्वारा उस दोषका नाश करना ही धर्म होगा। पुनः विवाह करनेपर यह दोष नष्ट नहीं हो सकेगा, बल्कि एक दोषपर अन्य दोष बढ़ जायगा, यही कारण है कि महर्षियोंने नारी जातिके लिये निवृत्तिके साथ वैधव्य धर्म पालनेकी ही आज्ञा दी है।

आर्य्यस्त्रीके विवाहमें पतिके साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीर और आत्माका भी होता है। इसलिये पतिके परलोक जानेपर भी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं टूटता है। क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका परिवर्त्तन मात्र है। सूक्ष्म तथा कारण शरीर और आत्मामें परिवर्त्तन कुछ भी नहीं होता है। अतः आर्य्यविवाह सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और आत्माके साथ होनेके कारण पतिके परलोक जानेसे भी नष्ट नहीं हो सकता है।

मनुसंहितामें लिखा है कि:—

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

(५ म अ०)

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल और फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नाम तक नहीं लेवे। सती स्त्री मृत्यु जब तक नहीं हो तब तक क्लेशसहिष्णु, नियमवती तथा ब्रह्मचारिणी रहकर एकपतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे। अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे दिव्य लोकमें गये हैं। पतिके मृत होनेपर भी उन कुमार ब्रह्मचारियोंकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसको पुत्र न होनेपर भी केवल ब्रह्मचर्य्यके ही बलसे स्वर्गलाभ होता है।

भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सकता और आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं हो सकते और आर्य्य सतियां विलायती मेमें बनकर उन्नत नहीं हो सकतीं; किन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती हैं, इसमें अणु-मात्र भी सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीय बार विवाह करना मना किया है। यथाः—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥
(९ म अ०)

पैतृक सम्पत्ति एक ही बार विभक्त होती है, कन्या एक ही बार पात्रमें दी जाती है और दान एकही बार सकल वस्तुओंका हुआ करता है। सत्पुरुष इन तीनोंको एकही बार करते हैं। और भी मनुस्मृतिमें—

" न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः "
(९ म अ०)

अर्थात् विवाह विधिमें विधवाका विवाह कहीं नहीं बताया गया है।

आर्य्यशास्त्रमें कहा गया है कि प्रकृतिरूपिणी स्त्री जातिमें अविद्याका अंश होनेके कारण पुरुषसे अष्टगुण अधिक काम होनेपर भी विद्याके अंशसे लज्जा और धैर्य्य बहुत कुछ है। अतः विधवाजीवन इस प्रकार बना देना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्याका अंश नष्ट होजाय और विद्याका अंश पूर्ण प्रकट हो जाय। आजकल जो विधवाएं बिगड़ती हैं उसमें शिक्षा तथा उनके साथ ठीक ठीक बर्तावका अभावही कारण है। विधवा होनेके दिनसे ही गृहस्थ लोग उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते हैं कि संसारमें उनके सदृश दुःखी और

हतभाग्य कोई नहीं है। ऐसा करना सर्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचारके विरुद्ध ही नहीं किन्तु शास्त्रके भी विरुद्ध है। आर्यशास्त्रोंमें भोगसे त्यागकी महिमा अधिक कही गई है। महाभारतमें लिखा है:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोग-सुख ये दोनों ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुखके सोलह भागोंमेंसे एक भाग भी नहीं हो सकते। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो जानेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखको उत्पन्न करनेवाला होनेसे दुःखरूप ही है और इस प्रकारके सुख आदिअन्तसे युक्त और नश्वर हैं इसलिये विचारवान पुरुष विषय-सुखमें मस्त नहीं होते। संसारमें वही सच्चा सुखी और योगी है जिसने आजन्म काम और क्रोधके वेगको धारण किया है। विधवाका जीवन सन्यासीका जीवन है। इसमें निवृत्तिकी शान्ति तथा त्यागका विमल आनन्द है। फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है? क्या त्याग करना हतभाग्य बननेका लक्षण है? सोचनेसे पता लगेगा कि निवृत्तिमें ही आनन्द है प्रवृत्तिमें नहीं। त्यागमें ही आनन्द है भोगमें नहीं और वासनाके क्षयमें ही आनन्द है वासनाके अधीन बननेमें नहीं। गृहस्थ विषयी होनेसे दुःखी है और संन्यासी विषय त्याग करनेसे सुखी हैं। जब यही अवस्था विधवाकी है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तवमें सुखी है सो विचारशील पुरुष सोच सकेंगे। विधवाका पुरुषके साथ कामभोग छूट गया इसलिये विधवा दुःखिनी हो गई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है। क्या कामके द्वारा किसीको सुख भी होता है? आजतक किसीको कामके द्वारा सुख मिला था? या किसी शास्त्रमें ऐसा लिखा भी है? गीताजीमें कामको नरकका द्वार कहा है, आनन्दका द्वार नहीं

कहा है। काम चित्तका एक उन्माद मात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फंस जाया करता है। परन्तु फंस जाकर सुखका भान होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख प्राप्त नहीं होता। इसको विषयबद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय। परन्तु पूर्वजन्मका संस्कार अन्यरूप होनेसे वासना नहीं छूटती; इसलिये वे विषयोंमें मत्त रहते हैं, अपिच चित्त दुर्बल होनेके कारण विषयोंमें मत्त होनेसे ही विषय सुखकर हो जायंगे यह बात कोई नहीं कहेगा परन्तु विषयके छूट जानेपर ही सच्चा सुख होगा यही बात सब लोग कहेंगे। जब विधवाको विषयोंको त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द प्राप्त करनेका सुयोग मिला है तो विधवा दुःखिनी नहीं परन्तु सुखिनी है, गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे अधम नहीं किन्तु उनकी गुरु तथा पूज्या है। क्योंकि संन्यासी गृहस्थोंके गुरु तथा पूज्य होते हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये पशु भी करता है, इसमें मनुष्यकी विशेषता क्या है? लाखों जन्मसे यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थमें रहकर बालबच्चे उत्पन्न करती तो उन्हीं लाखों जन्मके किये हुए कामोंको और एक बार करती, परन्तु इसमें क्या धरा है? इसलिये अनन्त जन्म तक संसारका दुःख भोगनेपर भी विषयी जीवको जो भगवान्का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्रमें घूम रहे हैं उसी चरणकमलमें यदि भगवान्ने विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्ति सेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका अवसर दिया है तो इससे अधिक सौभाग्यकी बात और क्या हो सकती है?

जब गृहस्थमें कोई स्त्री विधवा हो जाय तो वहांके सब लोगोंका प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाको उनकी अवस्थाका गौरव समझा देवें। उनपर श्रद्धाके साथ पूज्यबुद्धिका बर्ताव करें। उनके पास गृहस्थाश्रमके अनन्त दुःख और विषय-सुखकी परिणाम दुःखताका वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होनेके कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति और कितना सुख प्राप्त हो सकता है, इसका ध्यान दिलावें एवं उनकी स्थितिकी अपूर्वता तथा संसार बन्धन मोचनका सुयोग, जो कि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ स्त्रियोंको न जाने कितने जन्ममें जाकर मिलेगा, सो उनको इसी जन्ममें मिल गया है अतः वे धन्य हैं तथा पूज्या हैं, इस प्रकारका भाव

विधवाके हृदयमें जमा देवें। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख नहीं होगा किन्तु सुख ही होगा, भोग न मिलनेसे दुःख नहीं होगा, संन्यासीकी तरह त्यागी बननेमें गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर तथा दैव पीड़न ज्ञात नहीं होंगे परन्तु संयम और अनन्त आनन्दके सहायक प्रतीत होंगे। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रखनेका तथा अविद्याभावको दूर करके विद्याभावके बढ़ानेका प्रथम उपाय है। संसारमें सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशामें चित्तके भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार सुख दुःखकी प्रतीति होती है। एक ही वस्तु एक भावमें देखनेसे सुख देने वाली और दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारीके लिये कामिनी, काञ्चन आदि जो सुख है, संन्यासीके लिये वही दुःख है और संन्यासीके लिये जो सुख है गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखनेपर सांसारिक भोगकी वस्तुओंमें सुख प्रतीत होने लगता है परन्तु वे ही सब वस्तु निवृत्तिकी दृष्टिसे देखे जानेपर दुःखदायी होने लगती हैं इसलिये विधवाओंके भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे सांसारिक सभी वस्तुओंको निवृत्तिकी दृष्टिसे अकिञ्चित्कर तथा दुःखपरिणामी देखें, यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य पालनका द्वितीय उपाय है। विधवाकी हृदयकन्दरामें निहित पवित्र प्रेमधाराको हृदयमें ही बद्ध रखकर सड़ जाने देना नहीं चाहिये, किन्तु संन्यासीकी तरह उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमें जितने बाल-बच्चे हैं सबकी माता मानों विधवा ही है इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम तथा परोपकार प्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रक्षाका तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज और सबसे कठिन है। वह यह है कि पितृकुलमें यदि विधवा रहे तो उसके माता पिता और श्वशुरकुलमें रहे तो उसके सास ससुर जिस दिनसे घरमें स्त्री विधवा हो उसी दिनसे विलास-क्रिया छोड़ देवें। ऐसा होनेसे घरकी विधवा कभी नहीं बिगड़ सकती। उसके सामनेका ज्वलन्त आदर्श उसके चित्तको कभी मलीन नहीं होने देगा। इसका पञ्चम उपाय यह है कि जिस घरमें विधवा हो वहांके सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानतासे विषयसम्बन्ध करें जिसका कुछ भी पता विधवाको न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियां आचारवती होवें, खान पान आदिके विषयमें सावधान

रहें। विधवाको श्वेत वस्त्र पहिनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि रंगीन वस्त्र और धातुका अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवाके ब्रह्मचर्य्य व्रतमें हानि पहुंचा सकता है। इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत है। उनको निर्लज्जा होकर इधर उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिसके तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना और इस प्रकारकी तसबीर या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवाके खान पानकी व्यवस्था परिवारके स्वामी ही करें अन्य कोई न करें। जिस प्रकार देवताके नामपर आई हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाते उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको कोई ग्रहण न करें। रातको एक दो शिशुके साथ विधवाको शयन करना चाहिये। विधवाको किसी बातकी आज्ञा करनी हो तो श्वशुर सास, माता पिता स्वयं ही करें, बहू कन्या आदिके द्वारा कभी न करावें। उनको गृहकार्य्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी तथा उनपर कृपा करने वाली बना देवें। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये, उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओंकी अपेक्षा विधवाके व्रतोद्यापनमें अधिक व्यय तथा धूमधामसे कार्य होना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बालविवाह और वृद्ध-विवाह उठादेना चाहिये। आर्यशास्त्रानुसार बालिकापनमें विवाह न कराकर रजस्वलासे पहिले ही करा देना चाहिये। पुत्र होनेपर भी अन्य कारणोंसे वृद्धावस्थामें या अधिक अवस्थामें विवाह नहीं करना चाहिये। इसका अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य्य और संन्यासाश्रममें पुरुषके लिये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जितने तपोंका विधान किया गया है और सात्त्विक भोजन, मनःसंयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबोंका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवाके लिये होना चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन और मनन, पातिव्रत्य-महिमा-विषयक ग्रन्थोंका विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों तथा उपदेशोंका श्रवण और मनन होना चाहिये। गृहस्थ दशामें पति देवताकी साकार मूर्तिकी उपासना थी, अब संन्यासकी तरह वैधव्य दशामें उनके निराकार स्वरूपकी उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषयसुखमें मत्त गृहस्थ नरनारियोंकी अवस्थासे उन्नत और गौरवान्वित है, सदा ही उनके चित्तमें यह भाव विराजमान कराना चाहिये। जिस परमपति

भगवानकी कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधन दशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमलमें भक्तिके साथ नित्य बार बार प्रणाम तथा उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये । इन सब उपायोंका अवलम्बन करनेसे घरमें विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बास्वरूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्याप्रकृति लय होकर विद्याप्रकृतिका पूर्ण प्रकाश हो जाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोगवासना आनन्दके साथ त्याग कर देती है। विषयका नाम लेनेसे उसको घृणा आती है, गृहकार्य्यमें परम निपुण होती है, अतिथि सत्कार, अभ्यागत कुटुम्बी आत्मीय जनोंकी संवर्धना आदि कार्य्योंको परम प्रेमके साथ करने लगती है, सबल नीरोग तथा तेजस्विनी हो जाती है, ईर्ष्या आदि दोषोंका त्याग करके सधवा स्त्रियोंके प्रति दयावती और गृहस्थकी सन्तानोंके प्रति मातृ-वत्स्नेहशीला होती है। जिस संसारमें इस प्रकारकी विधवा विद्यमान है वहां एक प्रत्यक्ष देवीमूर्त्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहां पर सभी लोक शुचिचरित्रके द्रष्टा तथा फलभोक्ता हैं और जहां इस प्रकारकी दृष्टि, भाव और फल भोग है वहां अदूरदर्शी व्यक्तियोंकी पाप और भ्रूणहत्याकी शङ्का तथा कल्पना कभी नहीं आ सकती। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थमें उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्शको ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नहीं हो सकती। अपने जातिगत आदर्शका त्याग करके अन्य देशके आदर्शके ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे संस्कारविरुद्ध होनेके कारण 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट' हो जायगा। आर्य्यजाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः आज-कलके सभी नेताओंको इन सब नारीधर्म्मसम्बन्धीय विज्ञानोंका रहस्य समझकर यथार्थ उन्नतिके पुरुषार्थमें सन्नद्ध होना चाहिये।

शंका समाधान।

नारीधर्मके विषयमें आजकल अनेक प्रकारकी शंकाएं प्रायः उठा करती हैं। अतः शंका समाधानरूपसे नीचे कुछ विचार किया जाता है।

मनुजीने पुरुषप्रकृति व स्त्रीप्रकृति पर संयम करके दोनोंका प्रभेद देख-कर स्त्रीके लिये निम्नलिखितरूपसे संस्कारोंकी आज्ञा की है। यथाः—

अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्काराऽर्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहाऽर्थोऽग्निपरिक्रिया ॥

(२ य अ०)

शरीरकी शुद्धिके लिये यथाकाल व यथाक्रम जातकर्म्मादि सभी संस्कार स्त्रियोंके लिये भी कराने चाहियें, परन्तु उनके संस्कार वैदिकमन्त्ररहित होने चाहियें। सभी संस्कार कहनेसे यदि स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारकी भी आज्ञा समझी जाय, इस सन्देहको सोचकर मनुजी दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि स्त्रियोंका उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये। विवाहसंस्कारही स्त्रियोंका उपनयन संस्कार है। इसमें परमगुरु पतिकी सेवा ही गुरुकुलमें वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या वा प्रातःकालमें हवनरूप अग्निपरिचर्य्या है। यही स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कार है। द्विज बालकोंकी तरह उपनयन संस्कार स्त्रियोंके लिये नहीं है।

स्त्रियोंका वैदिक संस्कार

स्त्रियोंके लिये वेदपाठका निषेध, इसलिये मनुजीने किया है कि महाभाष्यके प्रमाणानुसार, जैसा कि वर्णधर्म्मके अध्यायमें कहा गया है, यदि स्वर या वर्णसे वेदमन्त्र अशुद्ध उच्चारण हो तो वह मन्त्र यजमानका कल्याण न करके उलटा उसका नाश करता है। स्त्रीशरीर कुछ असम्पूर्ण होनेके कारण स्त्रीके द्वारा स्वरतः वर्णतः वैदिक मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण असम्भव है, अतः जिस प्रकार शूद्रके वेदमन्त्रके उच्चारण करनेपर उसकी हानि है ऐसाही स्त्रीके भी वेदमन्त्रोच्चारणसे उसकी बहुत हानि होगी, इसीलिये मनुजीने स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारका पूरा निषेध और जातकर्म्मादिमें वैदिक मन्त्रोच्चारणका निषेध किया है। साधारण विचारसे ही ज्ञात हो सकता है कि स्त्रियोंका कण्ठ व जिह्वा असम्पूर्ण हैं। उनमें उदात्त और अनुदात्त आदि वैदिक स्वरोंका ठीक ठीक प्रकट होना असम्भव है। उनका स्वर प्रायः एकही ढङ्गका होता है उसमें गुरु लघुभेद कम होता है जो कि मन्त्रोंके उच्चारणके योग्य नहीं है। असम्पूर्णस्वर व शरीरके द्वारा पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे कल्याण व शुभफलके बदले हानि व अशुभफल प्राप्त होता है इसलिये मनुजीने ऐसी आज्ञा स्त्रियोंके लिये की है। अब इस साधारण विधिका उल्लंघन केवल दो असाधारण दशामें हो सकता है। एक विवाह और दूसरी ब्रह्मवादिनी स्त्रीदशा है। स्त्रियोंके जातकर्म्मादि संस्कारोंमें वैदिक मन्त्रोचारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहसंस्कारके समय जो मन्त्रोच्चारणकी

आज्ञा की गई है उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर है। मन्त्र दो प्रकारके होते हैं। यथा–एक शक्तिप्रधान और दूसरा भावप्रधान। निरुक्तमें भी वर्णन है कि:—

अथाऽपि कस्यचिद्भावस्याऽऽचिख्यासा।

शक्तिप्रधान मन्त्रोंके अतिरिक्त कोई कोई मन्त्र भावप्रधान भी होते हैं। शक्तिप्रधान मन्त्रोंके साथ स्थूल शरीरका और भावप्रधान मन्त्रोंके साथ चित्त-का सम्बन्ध प्रधानतः रहता है। जातकर्म्मादि संस्कारोंमें जो वैदिक मन्त्र आते हैं वे सब शक्तिप्रधान होनेके कारण उन्नत स्थूल शरीरवाले द्विजपुरुषोंके लियेही विहित हो सकते हैं, अनुन्नत स्थूलशरीर स्त्रियोंके लिये विहित नहीं हो सकते हैं। परन्तु विवाहसंस्कारके जितने मन्त्र हैं सभी भावप्रधान हैं। विचारवान् पुरुष सप्तपदीगमनके जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उनपर ध्यान देनेसे ही इस बातको अच्छी तरह अनुभव करेंगे; अतः विवाह-संस्कारके मन्त्रोंमें भावप्राधान्य होनेसे भावशुद्धिके समय स्त्री पुरुष दोनों ही उन मन्त्रोंको पढ़ सकते हैं, अन्य समय नहीं पढ़ सकते। आर्य्यशास्त्रोंमें विवाहसंस्कार अन्य देशीय विवाहसंस्कारसे कुछ विलक्षण ही है। आर्य्य विवाह कामभोग द्वारा पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, परन्तु अद्वितीय परमात्माके वाम अङ्गसे जिस प्रकृतिने सृष्टिके समय निकलकर संसारमें स्त्री-पुरुषरूपी द्वितीयताको फैला दिया था, उस प्रकृतिका परमात्मामें पुनः लय साधन करके उसको उसी अद्वितीय भावमें लानेके लिये है। विवाहके सब मन्त्र इसी भावको सूचित करते हैं, जो कि आगेके किसी किरणमें बताया जायगा। यजुर्वेदमें पाणिग्रहणका एक मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि "मैं लक्ष्मीहीन हूं तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारे बिना मैं शून्य हूँ तुम मेरी लक्ष्मी हो, मैं सामवेद हूँ तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ तुम पृथिवी हो और तुम व मैं दोनों मिलकर ही पूर्ण हैं। तुम्हारा हृदय मेरा हो जाय और मेरा हृदय तुम्हारा हो जाय", "अन्नरूप पाश व मणितुल्य प्राणसूत्र द्वारा और सत्यरूप ग्रन्थिसे तुम्हारे मन व हृदयको मैं बन्धन करता हूं", "तुम्हारे केश नेत्र हस्त व पद आदि शरीरके अङ्गोंमें यदि कोई दोष हो, तो मैं उसे पूर्णाहुति व आज्याहुतिके द्वारा नष्ट करता हूँ", इत्यादि इत्यादि विवाहसंस्कारके मन्त्रोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विवाहकालमें स्त्री पुरुष दोनोंकी ही विशेष भावशुद्धि और पातिव्रत्यका लक्षण व पतिमें तन्मयताकी प्राप्ति स्त्रीकी उस समय होती

है। अतः पुरुषकी तरह भावप्रधान वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण उस समय स्त्री कर सकती है। यही कारण है कि अन्य संस्कारोंमें स्त्रियोंके लिये वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहके समय वैवाहिक मन्त्रोंके उच्चारणके लिये आज्ञा की गई है।

मन्त्रोच्चारणमें दूसरा अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंका है। स्त्रीमें प्रकृतिका भाव अधिक होनेसे ज्ञानशक्तिके विकाशकी अपेक्षा भक्तिभाव, ममताभाव आदि अधिक रहता है, परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा एक असाधारण दशा है जिसमें ज्ञानशक्तिका विकाश विशेष होता है। वर्णधर्म नामक अध्यायमें कहा गया है कि आरूढ़पतित मनुष्यमें या पशु आदि तकमें भी साधारण प्राकृतिक नियमसे उन्नत मनुष्य या पशु आदिकी अपेक्षा विशेष योग्यता देखनेमें आती हैं, इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशाको भी आरूढ़पतित दशा समझनी चाहिये। साधारण रीतिसे प्रकृतिके प्रवाहमें क्रमोन्नतिप्राप्त स्त्रीमें ज्ञानशक्तिका इतना विकाश कभी नहीं हो सकता है क्योंकि साधारण स्त्रीमें प्रकृतिभाव प्रधान रहता है। असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा तभी प्राप्त हो सकती है जब किसी विशेष ज्ञानशक्तिसे युक्त पुरुषको पूर्व्वजन्मके किसी स्त्रीयोनिप्रद प्रबल कर्मके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो। त्रिगुणमयी मायाके लीला विलासमय संसारमें ऐसा होना असम्भव नहीं है क्योंकि भरत ऋषि आदि महत्पुरुषोंमें भी जब मोहके सम्बन्धसे मृगयोनिकी प्राप्ति होना आदि देखा जाता है तो अच्छे पुरुषके द्वारा भ्रान्तिसे स्त्री-संस्कार-प्रधान कर्म्म होना असम्भव कुछ भी नहीं है और इसी प्रकारके कर्म्मोंसे स्त्रीयोनिकी प्राप्ति होना भी निश्चय है। कात्यायनसंहितामें लिखा है किः—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्वं भार्य्या पतिविमानिता।
त्रीणि जन्मानि सा पुंस्त्वं पुरुषः स्त्रीत्वमर्हति॥
यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्य्यां कथञ्चन।
सा स्त्री सम्पद्यते तेन भार्य्या वाऽस्य पुमान्भवेत्॥

यदि निर्दोषा माननीया भार्य्या पतिके द्वारा अवमानिता होकर मरे तो तीन जन्मतक वह स्त्री पुरुषयोनिको और पुरुष स्त्रीयोनिको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अपने अग्निहोत्रके द्वारा किसी तरहसे अपनी पत्नीका दाह करता है वह स्त्री होता है और उसकी स्त्री पुरुषयोनि प्राप्त होती है। दक्षसंहितामें भी लिखा है किः—

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत् ।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च वन्ध्यात्वञ्च समाप्नुयात् ॥

निर्दोषा और निष्पापा भार्य्याको जो गृहस्थ यौवनकालमें परित्याग करता है वह मृत्युके अनन्तर दूसरे जन्ममें वन्ध्या स्त्री होता है।

भागवतके पुरञ्जनाख्यानमें भी प्रमाण मिलता है। यथाः—

शाश्वतीरनुभूयाऽऽर्त्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ।
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा ॥

पुरञ्जन प्रमदासङ्गदोषसे दूषित होनेके कारण बहुत दिनों तक दुःख अनुभव करके मृत्युके समय अपनी पतिव्रता स्त्रीको स्मरण करते करते मरगये और इसी कारण उनको उत्तम स्त्रीयोनि प्राप्त हुई। स्कन्दपुराणका अरुन्धती आख्यान पहिले ही कहा जा चुका है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा पुरुषकी स्त्रीयोनिप्राप्ति सिद्ध होती है; अतः इस तरहसे यदि कोई ज्ञानराज्यमें उन्नत पुरुष भावविकारके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो जाय तो पूर्व्व संस्कार ज्ञानप्रधान होनेसे वह स्त्री साधारण स्त्रियोंसी नहीं होगी; परन्तु असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्री होगी और असाधारण होनेसे उसका अधिकार भी असाधारण होगा। इसलिये उन ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये शास्त्रोंमें उपनयनसंस्कार और वेदपाठका भी विधान किया गया है। महर्षि हारीतने कहा है किः—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाऽध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या ।

दो प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं। यथा—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। इनमेंसे ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये उपनयन, अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और निजगृहमें भिक्षाचर्य्या विहित है। सद्योवधू स्त्रियोंके लिये ऐसी विधि नहीं है। उनके लिये विवाह ही उपनयनसंस्कार और पतिसेवा गुरुकुलवास आदि धर्म्म हैं जैसा कि मनुजीने बताया है। प्राचीन कालमें ज्ञानकी प्रधानता थी इसलिये ज्ञानोन्नत पुरुष अनेक थे और इसी कारण उस प्रकारकी आरूढपतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियां भी मिलती थीं एवं उसीलिये उन स्त्रियोंके अर्थ उपनयन और वेदपाठ आदिका विधान भी था। अब इस युगमें ज्ञानका ह्रास हो गया

है अतः विशेष ज्ञानोन्नत पुरुष विरले ही मिलते हैं और आरूढ़पतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियां भी नहीं मिलती हैं। आजकल भावविकारसे कोई पुरुष स्त्री भी होजाय तथापि पूर्व्वजन्ममें ज्ञानका संस्कार कम होनेसे ब्रह्मवादिनीकी अवस्थाको नहीं पा सकता है अतः स्त्रियोंके लिये कलियुगमें उपनयन और वेदपाठ आदि निषिद्ध हैं। महर्षि यमने भी लिखा है कि:—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्य्या विधीयते॥
वर्ज्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥

पूर्व्व कल्पमें कुमारियोंका मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन व सावित्रीवचन इष्ट था। पिता पितृव्य या भ्राता उनको वेद पढ़ाते थे। दूसरे किसीका अधिकार उनको वेद पढ़ानेका नहीं था। अपने ही घरमें भिक्षाचर्य्याकी व्यवस्था थी। उनके लिये मृगचर्म्म, कौपीन व जटाधारणकी आज्ञा नहीं थी। यह सब पूर्व्वयुगके लिये व्यवस्था है जैसा कि महर्षि यमने कहा है। और यह भी व्यवस्था ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये है, सद्योवधू-साधारण स्त्रियोंके लिये नहीं है जैसा कि कारण बताकर पहले कहा गया है। विधि साधारण प्रकृतिको देखकर ही हुआ करती है, असाधारणको देखकर नहीं हुआ करती है। कहीं एक दो स्त्री ब्रह्मवादिनी निकलें और वे वेदपाठ आदिकी शक्ति रखती हों, इससे यह नियम सबके लिये नहीं हो सकता है। सबके लिये असाधारण नियमकी आज्ञा होनेसे पूर्व्व सिद्धान्तानुसार अनधिकारी व्यक्तिके शक्तिमान् वैदिक मन्त्रादि पढ़नेपर कल्याण न होकर विशेषरूपसे अकल्याण ही होगा। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब सिद्धान्तोंपर विचार करके सावधान रहना चाहिये। मनुजीने जो उपनयन आदिका एकबारगी निषेध किया है सो साधारण विधिके विचारसे ही किया है और हारीत व यम ऋषिने साधारण व असाधारण दोनों अधिकारोंका ही विचार करके कलियुगकी स्त्रियोंके लिये साधारण विधि ही समीचीन बताई है।

वर कन्याके विवाहकालके विषयमें शास्त्रोंमें मतभेद पाया जाता है अतः यह विषय विचार करने योग्य है। आर्य्यजातिकी और जातियोंसे यही

विवाहकालके विषयमें विचार । विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्यको मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूलशरीरको ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार हैं वे आर्य्यभावरहित हैं अतः इस जातिके लिये हानिकर व जातित्वनाशक हैं। इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पतिकी भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाहकालके विषयमें केवल इस प्रकारका विचार आर्य्यजातिके अनुकूल नहीं होगा परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा। आर्य्यजातिके उपयोगी व पूर्ण विचार तभी होगा जब विवाहकालके विषयमें ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाहसे उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्म्मिक भी हो तथा दाम्पत्यप्रेम, संसारमें शान्ति व सबसे बढ़कर पातिव्रत्यधर्म्ममें किसी प्रकारका आघात न लगे। वर कन्याके विवाहकालके लिये इतना विचार करनेपर तभी वह विचार आर्य्यजातिके उपयोगी व पूर्ण विचार होगा।

अब विवाहकालके विषयमें स्मृति आदिमें जो प्रमाण मिलतें हैं उनपर विचार किया जाता है। मनुजीने कहा है किः—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥ (९ अ०)

तीस वर्षका पुरुष अपने चित्तकी अनुकूला बारह वर्षकी कन्यासे विवाह करे, अथवा चौबीस वर्षका युवक आठ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और धर्म्म-हानिकी यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं। महर्षि देवलने कहा है किः—

ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा ।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता ॥

दस वर्षसे ऊपर व रजोदर्शनके पहले तक कन्या गान्धारी कहलाती है। दीर्घायु चाहनेवाले माता पिताको इस अवस्थामें उसका विवाह कर देना उचित है। संवर्त्तसंहितामें लिखा है किः—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला ॥

आठ वर्षकी अविवाहिता कन्या गौरी, नौ वर्षकी रोहिणी और दस वर्ष-

की कन्या कही जाती है। इससे अधिक वर्षकी कन्या रजस्वला कहलाती है। परन्तु सर्वत्र ही एकमतसे ऋतुकालसे पहले कन्यादानकी आज्ञा की गई है। वास्तवमें कितने वर्षकी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये इसका निश्चय कभी नहीं हो सकता है, केवल रजस्वला होनेसे पहले होना चाहिये यही साधारणतः निश्चय हो सकता है। इसका कारण क्या है सो बताया जाता है। कन्याकालके विषयमें शास्त्रमें कहा गया है कि जबतक स्त्री पुरुषके सामने लज्जिता होकर वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आवृत न करे और कामादि विषयोंका ज्ञान जबतक उसको न हो तभी तक स्त्रीका कन्याकाल जानना चाहिये। इसी प्रमाणके अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्रीमें स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य व स्त्रीभावका विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूं, वह पुरुष है और हम दोनोंका भोग्यभोक्तासम्बन्ध विवाहके द्वारा होता है" उसी समय कन्याका विवाह अवश्य होना चाहिये, क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुषके साथ अपना स्वाभाविक भोग-सम्बन्ध समझने लगती है; उसी समय विवाह कर देनेसे एक ही पुरुषके साथ नैसर्गिक प्रेम-प्रवाहका सम्बन्ध बँध जायगा, जिससे पातिव्रत्यधर्ममें, जो कि स्त्रीकी उन्नतिके लिये एकमात्र धर्म है, कोई हानि नहीं होगी। अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्तको निरंकुश छोड़ देनेसे बहुत पुरुषोंमें चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्यकी गभीरता नष्ट हो सकती है और ऐसा होनेका अवसर देना स्त्रीका सत्तानाश करना है। अतः विवाहका वयःक्रम इन्हीं विचारोंके साथ पिता माताको निर्द्धारण करना चाहिये। इसमें कोई नियमित वर्ष नहीं हो सकता है क्योंकि देशकाल पात्रके भेद होनेसे सभी स्त्रियोंके लिये स्त्रीभाव-विकाशका एक ही काल नहीं हो सकता है। परन्तु साधारणतः ८ वर्षसे लेकर १२ वर्षतक, इस प्रकार स्त्रीभाव-विकाशका काल है। इसीलिये मनु आदि महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञा की है। विचारमें मतभेद होनेका कारण यह है कि जिस देश कालको मुख्य रखकर जिस स्मृतिमें विवाहके कालका विधान किया गया है, उस देशकालमें कन्याभाव कबतक रह सकता है और नारीभाव कब होने लगता है उसीके ही विचारसे कन्याके विवाहका समय निर्द्धारित किया गया है। किन्तु ऐसा मतभेद होनेपर भी रजस्वला होनेसे पहिले विवाह होना चाहिये इस विषयको सभी महर्षियोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है और इसमें कभी किसीने मतभेद प्रकाश नहीं किया है ऋग्वेदमें लिखा है कि: —

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्व्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
(मं० १० सू० ८५)

चन्द्र देवताने स्त्रीको प्रथमतः प्राप्त किया, द्वितीयतः गन्धर्व व तृतीयतः अग्निने प्राप्त किया और चतुर्थतः मनुष्यपतिने स्त्रीको प्राप्त किया। इस मन्त्रके भावार्थको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने इसे नियोगपर ही लगा दिया है और किसीने इसको विवाहकालमें लगाकर रजस्वला होनेके बाद विवाह होना चाहिये ऐसा अर्थ करनेका यत्न किया है। परन्तु वास्तवमें इसका भावार्थ न नियोगका ही है और न विवाहकाल निर्णय करनेके लिये ही यह मन्त्र है। इसके द्वारा शरीरकी उन्नतिकी अवस्था व क्रममात्र ही बताये गये हैं। रजस्वला होनेतक स्त्रीशरीरकी तीन अवस्था होती है जिनके करनेवाले तीन देवता हैं, सोम गन्धर्व व अग्नि। इन तीनोंके द्वारा रजस्वला-पर्य्यन्त स्त्रीशरीर पूर्ण होनेपर तब स्त्री गर्भाधानकी योग्या होती है जिसके करनेका भार मनुष्यपति पर है। इसमें विवाहके वयःक्रमका कोई निर्देश नहीं है। केवल कन्यापनसे लेकर गर्भाधानकाल तक स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी तीन दशाएं बताई गई हैं। अतः इससे विवाहसंस्कारका काल निर्णय नहीं करना चाहिये। विवाहसंस्कारका सम्बन्ध भावराज्य व सूक्ष्मशरीरके साथ है और गर्भाधानका सम्बन्ध स्थूलशरीरसे अधिक है। दोनोंमें बहुत प्रभेद है। अतः दोनोंको एकहीमें मिलाना नहीं चाहिये। और नियोगके लिये जो इस मन्त्रको किसी किसीने लगाया है सो सर्व्वथा मिथ्या है क्योंकि इस मन्त्रसे नियोगका कोई भाव सिद्ध नहीं होता है। अब इस मन्त्रके द्वारा स्त्रीशरीरकी कौन कौन उन्नति किस किस देवताके अधिष्ठानसे होती है सो बताया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने अपनी संहितामें लिखा है कि:—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्व्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

चन्द्र देवताने स्त्रियोंको शुचिता, गन्धर्व्वने मधुरवाणी व अग्नि देवताने सबसे अधिक पवित्रता दी है इसलिये स्त्री पवित्र वस्तु है। इस श्लोकमें देवताओंके अधिष्ठानसे स्त्रियोंको मधुरवाणी आदिका लाभ होता है ऐसा कहा गया है। गोभिलीय गृह्यसंग्रहमें लिखा है कि:—

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्व्वो रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः ॥

स्त्रीलक्षणोंके विकाश होते समय चन्द्रदेवका अधिकार, स्तनविकाशके समय गन्धर्व्वोंका अधिकार और रजस्वला होनेके समय अग्निका अधिकार रहता है। इन तीनों दैवशक्तियोंके प्रभावसे ही कन्याकालके बाद रजस्वला-तक स्त्रियोंकी सर्व्वाङ्गपूर्णता हुआ करती है और इसके अनन्तर ही गर्भाधान-संस्कार होता है जो कि मनुष्यपतिका कर्त्तव्य है। परन्तु विवाहसंस्कार इन तीनों लक्षणोंके विकाशसे पहले ही होना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध पाति-व्रत्यभावसे है, शरीरसे नहीं है। और इसीलिये गोभिल ऋषिने पूर्व्वोक्त श्लोक-के द्वारा स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी दशाओंको बताकर पश्चात् कहा है कि:—

तस्माद्व्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम् ।
अभुक्ताश्चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते ॥

इसलिये स्त्री-लक्षण-विकाशरूप पयोधर व रजस्वला होनेसे पहले ही या चन्द्रादि देवताओंके कार्य्यके पहले ही कन्याका विवाह हो जाना प्रशंसनीय है। यही सर्व्ववादिसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है। स्मृतियोंमें कहीं कहीं रजस्वलाके बाद विवाहके वचन जो देखे जाते हैं वे सब आपद्धर्म्मविषयके हैं और उन सब श्लोकोंके पूर्व्वापर मिलानेसे आपद्धर्म्मका ही तात्पर्य्य निकलेगा। यथा—मनुसंहितामें—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती ।
ऊर्द्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ (९ अ०)

ऋतुमती होनेपर भी यदि माता पिता कन्याको योग्यपात्रमें दान न करें तो वह कन्या ऋतुके बाद तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके पश्चात् स्वयं ही योग्य पति निर्व्वाचित कर सकती है। इस प्रकारसे पिता माताके द्वारा नहीं दान की हुई स्वयंवरा कन्याको कोई पाप नहीं होता है और उसके पतिको भी कोई पाप नहीं होता है। इन श्लोको द्वारा यदि पिता, माता या आत्मीय व कुटुम्बी कोई विवाह न करावें तो तीन वर्षतक ऋतुके बाद रहनेकी और

स्वयम्वरा होनेकी आज्ञा मनुजीने की है। यह आपद्धर्म है। इसको न समझकर अर्वाचीन पुरुषोंने साधारण विवाहकालके लिये इस श्लोकको लगा दिया है सो उनकी भूल है। अब महर्षियोंके द्वारा विहित विवाहसे उक्त बातोंकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो बताया जाता है। यौवनके प्रथम विकाशके साथ ही साथ स्त्री व पुरुषमें जो भोग्यभोक्ताका ज्ञान होता है वह स्वाभाविक बात है। परन्तु इस स्वभावके अतिरिक्त स्त्रियोंमें जो रजोधर्मका विकाश होता है वह असाधारण व विशेष है। रजोधर्म प्रकृतिकी विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारणयोग्या हो जाती है, यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गितके कारण रजस्वला होनेके समय पशु पक्षी तकमें कामचेष्टा अधिक हुआ करती है, अतः उस समय स्त्रियोंमें विशेष चाञ्चल्य होना स्वाभाविक है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये ही महर्षियोंने रजस्वलाके पहले विवाहकी आज्ञा की है क्योंकि ऐसा न होनेसे नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहां तहां फैलकर पातिव्रत्यमें बहुत हानि कर सकती है। और जहां एक वार निरंकुशताका अभ्यास पड़ा, तहां पुनः उसे रस्तेपर लाना बहुत ही कठिन हो जाता है। पुरुषमें प्रायः ज्ञानशक्ति तथा विद्याकी अधिकता होनेसे साधारण कामभावको विचार द्वारा पुरुष रोक सकता है; परन्तु स्त्रीमें प्रायः ऐसा न होनेसे असाधारण प्राकृतिक प्रेरणाका रोकना बहुत ही कठिन हो जाता है। द्वितीयतः यदि रोक भी न सकें तथापि पुरुषके व्यभिचारसे समाजमें व कुलमें इतनी हानि नहीं पहुंचती है जितनी हानि स्त्रीके व्यभिचारसे पहुंचती है। पुरुषके व्यभिचारका प्रभाव अपने शरीर ही पर पड़ता है; परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे वर्णसङ्कर उत्पन्न होकर जाति, समाज और कुलधर्म सभीको नष्ट कर देता है। इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रीके लिये रजस्वला होनेसे पहले ही विवाहकी आज्ञा की गई है और पुरुषके लिये अधिक वयःक्रम पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यासकी आज्ञा की गई है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रह सकें तो "धर्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्महानिकी सम्भावना होनेपर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजीने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक व सामाजिक बातोंपर विचार करनेसे महर्षियोंकी आज्ञा युक्तियुक्त मालूम होती। पातिव्रत्यधर्मके पालन किये विना स्त्रीका अस्तित्व ही वृथा है इसलिये जिन कारणोंसे पतिव्रत्यपर कुछ भी धक्का लगनेकी सम्भावना हो उनको पहलेसे ही रोककर जगदम्बाकी अंशस्वरूपिणी स्त्रीजातिकी पवित्रता

व सत्त्वगुणमय विद्याभावकी मर्य्यादाकी ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्य धर्मका पूर्ण पालन हो सकेगा।

आर्य्यशास्त्रोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका साधन स्थूलशरीरको भी माना जाता है। स्थूलशरीरकी रक्षाके बिना आध्यात्मिक उन्नतिमें भी असुविधा होती है इसलिये स्त्रीजातिके लिये पातिव्रत्यधर्म्मके साथ ही साथ स्थूलशरीरकी रक्षा व उन्नति हो इसमें ध्यान रखना योग्य है। माता पिताका शरीर स्वस्थ न होनेसे सन्तति भी दुर्ब्बल व रुग्ण होती है इसलिये जिससे सन्तति भी अच्छी हो ऐसा यत्न होना चाहिये। गर्भाधान कालके विषयमें सुश्रुतमें लिखा है कि:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्ब्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

(अ० १०।४७।४८)

पच्चीस वर्षसे कम आयुका पुरुष यदि सोलह वर्षसे कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान करे तो गर्भमें सन्तानको विपत्ति होती है और यदि इस प्रकारसे सन्तान उत्पन्न भी हो तौ भी या तो वह अल्पायु होती है या दुर्ब्बलेन्द्रिय होती है इसलिये कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये। इस प्रकारसे सुश्रुतमें जो गर्भाधान कालका निर्णय किया गया है सो अवश्य माननीय है। किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने सुश्रुतके इस वचनको विवाहकालके लिये लगा दिया है सो उनकी भूल है क्योंकि इन श्लोकोंमें ही कहा गया है कि यह विषय गर्भाधानका है। इसके सिवाय विवाहकालके विषयमें सुश्रुतके शरीर अ० १० सू० ५३ में लिखा ही है यथा—

'अथास्मै पंचविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीं पत्नीमावहेत्'

अर्थात् वरकी उमर २५ वर्ष तथा कन्याकी १२ वर्ष होनी चाहिये। अब विचार करनेकी बात यह है कि कम आयुमें विवाह व गर्भाधान करनेसे सन्तति दुर्ब्बल होती है और रजस्वला हो जानेके बाद विवाह करनेसे पातिव्रत्यधर्म्ममें बाधा होती है अतः ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिससे सन्तान भी अच्छी हो और पातिव्रत्यरूप विशेषधर्म्म भी पूरा बना रहे सो कैसे हो

सकता है यह बताया जाता है। साधारण रजःकालके विषयमें सुश्रुतमें कहा है कि:—

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥

साधारणतः १२ वर्षकी आयुसे रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्षकी आयुमें वार्द्धक्य आनेपर समाप्त होता है। बारह वर्षका काल रजोदर्शनका साधारण काल है। अतः इन्हीं विचारोंके अनुसार रजोदर्शनसे पहिले कन्याका विवाह योग्यपात्रमें कर देना चाहिये। विवाह कर देनेके बाद ही स्त्री पुरुषका सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। पातिव्रत्यकी सुरक्षाके लिये कन्याके चित्तको पतिरूप केन्द्रमें बांध दिया इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि चाहे रजोदर्शन हुआ हो या नहीं हुआ हो उस कन्याके साथ उसी समयसे पाशविक व्यवहार शुरू होजाय। शास्त्रमें रजोदर्शनके पहले स्त्रीगमनको ब्रह्महत्याके समान पापजनक कहा गया है। यथा—स्मृतिमें:—

प्राग्रजोदर्शनात्पत्नीं नेयाद्गत्वा पतत्यधः।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

रजोदर्शनके पहले स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे पुरुषका अधःपतन होता है और इस प्रकार वृथा शुक्रनाशसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। अतः विवाहके अनन्तर जबतक स्त्री रजस्वला न हो तबतक कभी उसके साथ सम्बन्ध पतिको नहीं करना चाहिये। कन्यापनमें जो कुछ अपने अधिकारके अनुसार शिक्षा कन्याको प्राप्त हुई थी उसके अनन्तरकी शिक्षा पति उसे दिया करे। पातिव्रत्यकी महिमा, स्त्रीके लिये अनन्य धर्म्म पातिव्रत्य है, श्री, लज्जा, आज्ञाकारिणी होना, आलस्य-त्याग और तपस्या आदि, स्त्रीके लिये आवश्यक शिक्षा-योग्य जो धर्म्म हैं सो सब बातें सिखाया करे। उसके साथ कामकी बातें कभी नहीं किया करे, परन्तु उसके चित्तमें विशुद्ध प्रेमका अंकुर जमाया करे। इस प्रकार रजस्वला होनेके पहले तक स्त्रीके साथ बर्त्ताव होना चाहिये। पश्चात् रजस्वला होनेके बाद भी कुछ समय तक पतिपत्नीको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। और सुश्रुतके मतानुसार १५ वें वर्षतक ऐसा ही उत्तम भावसे निबाहना चाहिये, यही सर्वकल्याणप्रद धर्म है।

आजकल अवरोधप्रथा अर्थात् स्त्रियोंके पर्देके विषयमें अनेक शंकाएं फैल गई हैं। अतः इस विषयमें विचार किया जाता है।

पर्देकी प्रथाके विषयमें विचार।

सती जीवनमें श्रीके साथ ही (लज्जा) का भी मधुर विकाश नयनगोचर होता है। चण्डी (सप्तशती) में कहा है किः—

या देवी सर्व्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।

मनुष्योंमें लज्जा देवीका भाव है। स्त्रीजातिमें देवीभाव नैसर्गिक होनेसे लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्वके उत्कर्षके साथ साथ देवीभावका अधिक विकाश होनेसे ह्रीकी भी पूर्णता होती है। सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जाशीला हुआ करती है। लज्जाका कारण अनुसन्धान करनेसे यही प्रतीत होता है कि पशुधर्मके प्रति मनुष्योंकी जो स्वाभाविकी घृणा है वही लज्जाका कारण है। मनुष्यप्रकृतिमें पशुत्वका आवेश अनुभव करनेसे ही लज्जाका उदय हुआ करता है। पशुप्रकृतिमें लज्जा नहीं है, पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा, मैथुनादि करता है। मनुष्य पशु नहीं है, इसलिये मनुष्यको स्वभावतः इन सब कार्य्योंको करते हुए लज्जा आती है। पुरुषमें देवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभावकी अधिकता होनेसे पुरुषको इन सब कार्योंमें स्वभावतः लज्जा कम होती है; परन्तु स्त्रीमें पुरुषभावसे देवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होनेसे स्त्रीको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुषप्रकृतिके साथ स्त्रीप्रकृतिका यही प्रभेद है। इसी प्रभेदको रखते हुए दोनों अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें भेदभाव विस्मृत हो लज्जारूप पाशको काट सकता है; परन्तु स्त्रीकी पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक देवीभावको पूर्णतापर पहुंचावेगी। देवीभावकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णतासे होती है इसलिये लज्जाशीलता सतीधर्म्मका लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं हो सकती है। लज्जा स्त्रीजातिका भूषण है, इसके न होनेसे स्त्रीका स्त्रीभाव ही नहीं रहता है। लज्जाके बलसे स्त्री अपने पातिव्रत्यधर्मको भी ठीक ठीक पालन कर सकती है। स्त्रीको पुरुषका अधिकार या पुरुषकी तरह शिक्षा देकर अथवा ऐसा ही आचार सिखाकर निर्लज्ज बनानेसे उसकी बड़ी भारी हानि होती है। ऐसी निर्लज्जा स्त्रियोंके द्वारा उत्तम सतीका धर्म्मपालन होना असम्भव हो जाता है क्योंकि जो आचार प्रकृतिसे विरुद्ध है

उसके द्वारा कदापि किसीकी उन्नति नहीं हो सकती है। लज्जा जब स्त्री-जातिका स्वाभाविक भाव है तो इसके नष्ट करनेसे स्त्रीकी कभी उन्नति नहीं हो सकती है, अधिकन्तु प्रकृतिपर बलात्कार होनेके कारण अवनति होना ही निश्चय है। इसमें और भी बहुत कारण हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं।

पाश्चात्य देशोंमें स्त्री पुरुषका साथ बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान है, इसी कारण वहांकी स्त्रियोंमें निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्यको महिमापर भी दृष्टि कम है। उत्तम सतीका क्या भाव है और पतिके साथ सहमरण कैसा होता है, पाश्चात्य स्त्रियां स्वप्नमें भी इन बातोंका अनुभव नहीं कर सकती हैं। आर्यशास्त्रोंमें पातिव्रत्यके बिना स्त्रीका जीवन ही व्यर्थ है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित किया गया है इसलिये अवरोधप्रथा (Purda System) आदिके द्वारा आर्य्य नारियोंमें लज्जाभावकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया गया है और इसीलिये स्त्री पुरुषोंको एकत्र भोजन व भ्रमण आदिका आर्य्यशास्त्रोंमें विधान नहीं किया गया है। आजकल धर्मभावहीन पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा विकृतमस्तिष्क कोई कोई मनुष्य अवरोधप्रथाको नष्ट करके स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाना, पुरुषों-के भीतर निरंकुशभावसे भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य व नाटकादि उनसे कराना और विदेशीय नर नारियोंकी तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातोंको सभ्यताका लक्षण और स्त्रियोंपर दया समझते हैं और इससे विरुद्ध सनातन अवरोधप्रथाको उनपर अत्याचार, अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करनेसे स्पष्टरूपसे सिद्ध होगा कि उन उन लोगोंकी इस प्रकारकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। किसीपर दया करना सदा ही अच्छा है; परन्तु जिस दयाके मूलमें विचार नहीं है उससे कल्याण न होकर अकल्याण होता है। स्त्रीजातिपर दया करना अच्छा है; परन्तु जिस दयासे पातिव्रत्यका मूल ही कट जाय, स्त्रीभाव नष्ट होजाय और संसारमें अनर्थ उत्पन्न हो वह दया दया नहीं है, अथच वह महापाप है। ज्ञान-मय आर्य्यशास्त्र इस प्रकारकी मिथ्या दयाके लिये आज्ञा नहीं दे सकता है। और घरकी स्त्रियोंको निर्लज्ज बना कर बाहर न निकालनेसे निष्ठुरता होती है इसलिये सनातन अवरोधप्रथा निष्ठुरतासे भरी हुई है ऐसा लाञ्छन जो लगाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रममूलक है क्योंकि विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रीजातिका जितना गौरव बढ़ाया गया है ऐसा और किसी

देश या जाति या शास्त्रमें नहीं है। अन्य देशोंमें स्त्री पुरुषके विषयविलासमें सहचरी है और आर्य्यजातिमें भार्य्या समस्त गार्हस्थ्य धर्म्ममें सहधर्म्मिणी व अर्द्धांशभागिनी है। अन्य जातियोंमें स्त्रीशरीर कामका यन्त्ररूप है और आर्य्यजातिमें स्त्री जगदम्बारूपिणी है जिनकी प्रत्येक दशाकी दिव्यभावके साथ पूजा करनेसे साधकको मुक्तिलाभ हो सकता है। स्त्रियोंके प्रकृतिरूपिणी होनेसे उनकी प्रत्येक दशाको देवीभावसे पूजनेकी विधि आर्य्यशास्त्रोंमें बताई गई है। दशमहाविद्याकी दशमूर्त्ति दिव्यभावमें स्त्रीकी दश दशाकी ही सूचना करती है और प्रत्येक दशाकी पूजा हुआ करती है। दशमहाविद्याओंमेंसे कुमारी गौरी रूपिणी है, युवती गृहिणी षोडशी व भुवनेश्वरी आदिरूपिणी है और वृद्धा व विधवा धूमावतीरूपिणी है, यहां तक कि रजस्वला भी त्रिधारामयी छिन्नमस्तारूपिणी है ऐसा सिद्धान्त आर्य्यशास्त्रोंका है। देवीभागवतमें लिखा है कि:—

सर्व्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाऽधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः॥
कुमारी चाऽष्टवर्षा या वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता॥
कुमारी पूजिता कुर्य्याद्दुःखदारिद्र्यनाशनम्।
शत्रुक्षयं धनाऽऽयुष्यं बलवृद्धिं करोति वै॥

उत्तम मध्यम व अधम सभी स्त्रियां प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिमाताकी ही रूप होनेसे स्त्रियोंके निरादर व अवमाननासे प्रकृतिकी अवमानना होती है। पतिपुत्रवती सतीकी पूजासे जगदम्बाकी पूजा होती है। गौरी या कुमारीकी पूजासे प्रकृतिकी पूजा होती है जिससे गृहस्थका दुःख-दारिद्र्यनाश, शत्रुनाश और धन, आयु व बलकी वृद्धि होती है। आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रियोंका यही स्वरूप वर्णन किया गया है और इसलिये उनकी रक्षा व गौरव वृद्धि करनेकी इतनी विधि बताई गई है। परन्तु जिनको जगदम्बाका रूप समझ कर पूजा करनेकी आज्ञा शास्त्र दिया करता है उनको निर्लज्जा होकर बाजारमें

घूमनेकी आज्ञा या रूप बनाकर पुरुषोंके सामने नाटक करनेकी आज्ञा आर्य्यशास्त्र नहीं दे सकता है। ऐसी आज्ञा दया नहीं होगी; परन्तु स्त्रीधर्म्मकी सत्ताका नाश, पातिव्रत्यरूपी कल्पतरुके मूलमें कुठाराघात और जगदम्बापर मूर्खतामूलक अत्याचार होगा। प्रकृतिकी पूजा करनेकी आज्ञा देनेवाला आर्य्यशास्त्र ऐसी आज्ञा कभी नहीं कर सकता है। जो वस्तु जिसकी प्रिय होती है वह उसकी रक्षा भी यत्नसे करता है। धन और अलङ्कारादि प्रिय वस्तुओंको गृहस्थ लोग बहुत यत्नके साथ छिपाके ही रखते हैं, बाजारमें फेंक नहीं देते हैं। यदि आर्यजाति अपनी माताओंको निर्लज्जाकी तरह बाजारमें नहीं घुमाती है तो इससे आर्य्यजातिकी माताओंके प्रति उपेक्षा या निर्दयता प्रकट नहीं होती है बल्कि प्रेम और भक्तिभाव ही प्रकट होता है। द्वितीयतः उनको यदि पुरुष हाथ पकड़कर भ्रमण करावें तो इससे स्त्री तथा पुरुष दोनोंहीकी बहुत हानि होगी। शास्त्रमें कहा है कि :—

"सङ्गात्सञ्जायते कामः"

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते"।

काम आदि वृत्तियां सङ्गके द्वारा अधिक हुआ करती हैं, घटती नहीं हैं। अग्निमें प्रक्षिप्त घृतकी तरह सङ्गद्वारा काम बढ़ता जाता है। इसीलिये स्त्रीके साथ एकत्र रहनेका अवसर जितना अधिक होगा उतना ही दिव्यभाव नष्ट होकर पशुभावकी वृद्धि होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आर्यमहर्षियोंने पशुभावको नष्ट करके दिव्यभावको बढ़ाना ही मनुष्यजन्मका लक्ष्य समझा था इसलिये जिन उपायोंके द्वारा सतीधर्म्मकी हानि, निर्लज्जताकी वृद्धि व विषयासक्तिकी सम्भावना है उनको वे तिरस्कार करते थे। धर्म्महीन पाश्चात्य-शिक्षाके द्वारा सब पवित्रभाव नष्ट होने लग गये हैं इसीलिये अवरोधप्रथाका उठा देना आजकल सभ्यताका लक्षण समझा जाने लगा है। परन्तु सब ओर विचार करके आर्य्यजातिके मौलिक लक्षणोंपर ध्यान देनेसे महर्षियोंका सिद्धान्त ही समीचीन व दूरदर्शितापूर्ण प्रतीत होगा। तृतीयतः यह भी सिद्धान्त पूर्ण सत्य है कि जिस स्त्रीको अनेक पुरुष कामभाव व कामदृष्टिसे देखते हैं उसके पातिव्रत्यमें अवश्य ही हानि होती है। मानसिक व शारीरिक बिजलीकी शक्ति आँखसे, स्पर्शसे या केवल चित्तके द्वारा ही अन्य व्यक्तिपर अपना प्रभाव डालकर कैसे उसको अभिभूत व मूर्च्छित कर सक्ती है सो आज

कल मेसमेरिजम व हिप्नोटिजम आदि विद्याके द्वारा सिद्ध हो चुका है। योग-शक्तिके प्रभावसे या तपःशक्तिके प्रभावसे अन्य पुरुषोंकी उन्नति करना, कठिन रोग आराम करना और असाध्य साधन करना ये सभी इसी विज्ञानकी प्रक्रिया है। शक्ति एक ही वस्तु है, उसे उत्पन्न करके सात्त्विकभावके द्वारा सात्त्विक कार्य्य किये जा सक्ते हैं अथवा तामसिकभावके द्वारा तामसिक कामादि विषय-सम्बन्धीय कार्य्य किये जा सक्ते हैं। स्थूल नेत्र या मन शक्तिके आधार हैं इसलिये नेत्र व मनके द्वारा सात्त्विक या तामसिक शक्तिका एक स्थानसे अन्य स्थानपर प्रयोग करना विज्ञानसिद्ध है। इस सिद्धान्तपर विचार करनेसे विचारवान् पुरुष अवश्य ही जान सकेंगे कि जिस स्त्रीके शरीरपर कामुक पुरुष कामशक्तिके द्वारा कामभावसे दृष्टि डालेंगे उसके पातिव्रत्यमें धीरे धीरे हानि हो सक्ती है। अन्य पुरुषके नेत्रकी या मनकी तामसिक शक्तिके प्रभावसे स्त्रीका चित्त चाञ्चल्य होना व सतीधर्म्मको गाम्भीर्य्य नष्ट होना अवश्य निश्चित है। इसलिये अवरोधप्रथाको तोड़कर, स्त्रियोंको निर्लज्जा हो पुरुषोंके बीचमें रहनेकी और बाजारमें घूमनेकी आज्ञा देनेसे आर्य्यस्त्रियोंमेंसे पातिव्रत्यधर्म्म धीरे धीरे नष्ट हो जायगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पाश्चात्य देशमें इस प्रकार निरङ्कुश घूमनेके कारण ही वहांकी स्त्रियाँ पातिव्रत्य-की महिमाको नहीं जानती हैं। यहां भी उसी शिक्षाके प्रभावसे अनर्थ होना प्रारम्भ हो गया है। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन सब अनर्थकर कदाचारोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। देवीभागवतके तृतीयस्कन्धके २० बीसवें अध्यायमें इसी विषयका एक प्रमाण दिया गया है। वहां शशिकला नाम्नी एक कन्या अपने पिताको अपनेको स्वयंवर सभामें भेजनेके लिये मना कर रही है और कह रही है कि स्वयंवरसभामें राजालोगोंकी कामदृष्टिसे उसके पातिव्रत्यमें हानि होगी इसलिये स्वयंवर विवाह भी ठीक नहीं है। यथाः—

तं तथा भाषमाणं वै पितरं मितभाषिणी।
उवाच वचनं बाला ललितं धर्म्मसंयुतम्॥
नाऽहं दृष्टिपथे राज्ञां गमिष्यामि पितः! किल।
कामुकानां नरेशानां गच्छन्त्यन्याश्च योषितः॥
धर्म्मशास्त्रे श्रुतं तात! मयेदं वचनं किल।

एक एव वरो नार्य्या निरीक्ष्यः स्यान्न चाऽपरः ॥
सतीत्वं निर्गतं तस्या या प्रयाति बहूनथ ।
सङ्कल्पयन्ति ते सर्व्वे दृष्ट्वा मे भवतात्विति ॥
स्वयंवरे स्रजं धृत्वा यदा गच्छति मण्डपे ।
सामान्या सा तदा जाता कुलटेवाऽपरा वधूः ॥
वारस्त्री विपणिं गत्वा यथा वीक्ष्य नरान्स्थितान् ।
गुणाऽगुणपरिज्ञानं करोति निजमानसे ॥
नैकभावा यथा वेश्या वृथा पश्यति कामुकम् ।
तथाऽहं मण्डपे गत्वा कुर्व्वे वारस्त्रिया कृतम् ॥

पिताजीके इस प्रकार कहनेपर शशिकलाने उनको निम्नलिखित धर्म्म-मूलक मधुर वाक्य कहा। "हे पितः! मैं राजाओंके नेत्रोंके सामने नहीं आऊंगी क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियां ही कामुक पुरुषोंकी दृष्टिके सामने आती हैं। धर्म्मशास्त्रमें मैंने सुना है कि पतिव्रता स्त्री केवल अपने ही पतिको देखेगी और अन्य किसी पुरुषकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करेगी। जो स्त्री अनेक पुरुषोंके दृष्टिपथमें आती है उसका पातिव्रत्य नष्ट होता है क्योंकि उस समय 'यह स्त्री मेरी ही भोग्या बन जाय' ऐसी कामना सभी पुरुष करने लगते हैं। जो राजकन्या हाथमें वरमाला लेकर स्वयंवरसभामें आती है उसको वेश्याकी तरह सभीकी स्त्री बनना पड़ता है। जिस प्रकार वाराङ्गना दुकानमें जाकर वहां समागत पुरुषोंको देख कर उनके गुणागुणका बिचार करती है और एकपुरुषपरा न होकर सब कामुकोंकी ही ओर ताकती है; उसी प्रकार स्वयंवरसभामें मुझको भी करना पड़ेगा"। शोककी बात है कि एक क्षत्रिय-कन्या जिन बातोंको विचार करके निर्णय कर सकती थी आज कलके अनेक पण्डितम्मन्य विद्याभिमानी लोग उनपर सन्देह करने लग गये हैं और उनके पाश्चात्यविद्याविकृतमस्तिष्कमें इस गूढ़ विज्ञानका रहस्य प्रवेश नहीं करता है। आर्य्यसन्तानोंको महर्षियोंके सिद्धान्तोंपर विचार करना चाहिये और धीर होकर सत्यासत्य-निर्णय करके सत्यमार्गपर आरूढ़ होना चाहिये, तभी आर्य्यगौरवकी पुनः प्रतिष्ठा होगी और आर्य्यमाताएं पुनः सतीधर्म्मके ज्वलन्त आदर्शको संसारभरकी शिक्षाके लिये प्रकट कर सकेंगी। ऊपर लि-

खित प्रमाणोंसे केवल अवरोधप्रथाकी ही पुष्टि कीगई है ऐसा नहीं है, अपितु स्वयंवर-विवाहकी भी निन्दा की गई है। स्वयंवर-विवाह आदर्श विवाह नहीं है सो सती शशिकलाके वचनोंसे ही बुद्धिमान् पुरुष सोच सकेंगे। आर्य्यशास्त्रोंके अनुसार ब्राह्मविवाह ही प्रशंसनीय है। अवरोधप्रथाकी पुष्टि वेदादि शास्त्रोंमें भी की गई है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके चौथे अध्यायके २६ वें सूक्तमें लिखा है कि:—

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

अवगुण्ठन वस्त्र द्वारा आवृता वधूकी तरह यज्ञके द्वारा जो आवृत है। इस प्रकार कहकर अवरोधप्रथाका ही समर्थन किया गया है। रामायणके कई एक स्थानोंमें अवरोधप्रथाकी बातें लिखी हुई हैं। यथाः—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके साथ सती सीताको वनवासके लिये राजपथसे जाती हुई देखकर अयोध्यावासियोंने कहा कि "पहले जिस सीतादेवीको खेचर जीव भी नहीं देखने पाते थे उसी माताको आज राजमार्गके पथिक लोग भी देखने लगे।" मृतपति रावणको देखकर मन्दोदरी विलाप करती हुई कह रही है कि:—

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो!॥
पश्येष्टदार! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्व्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि॥

हे स्वामिन्! मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन त्याग करके आज नगरसे बाहर पैदल यहां आई हूं इसको देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है? यह देखो तुम्हारी सब स्त्रियां आज लज्जा व अवगुण्ठनको त्याग करके बाहर आगई हैं, ऐसा देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है? इन सब प्रमाणोंके द्वारा प्राचीनकालमें अवरोधप्रथा थी ऐसा निश्चय होता है। मालविकाग्निमित्र व मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रन्थोंसे भी हजार वर्षके पहले यहां पर अवरोधप्रथा प्रचलित थी ऐसा सिद्ध होता है।

सीता, सावित्री व दमयन्ती आदि सतियां जो अपने पतिके साथ बाहर गई थीं उसका विशेष कारण था। घटनाचक्रसे उनको ऐसा करना पड़ा था। साधारण प्रथाके अनुकूल वह आचार नहीं था इसलिये अनुकरणीय नहीं है। हां, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य्यजातिमें स्त्रियोंकी शीलरक्षा व स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका निवास और अवरोधप्रथा यथाविधि प्रचलित रहने पर भी इस समय जो भारतवर्षके किसी देशमें कठिन पर्देकी रीति जेलखानेकी तरह प्रचलित है सो आर्य्यरीति नहीं है। यह कठिन रीति यवन-साम्राज्यके कठिन समयमें उनके ही अनुकरण पर प्रचलित हुई है सो उतनी कठिनता अवश्य त्याग करने योग्य है। और दूसरा आज कल भारतके किसी किसी प्रान्तमें जो अवरोधप्रथामें शैथिल्य देखनेमें आता है वह सब आधुनिक व अनार्य्यभावमूलक है इसलिये वह भी अनुकरण करने योग्य नहीं है। अवरोध-प्रथा सम्पूर्णरूपसे विज्ञानसिद्ध और सतीधर्म्मके अनुकूल है। इसके पूर्णरूपसे पालन करनेसे भारतमहिलाओंकी सब प्रकारसे उन्नति और आर्य्यगौरवकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

नियोगविषयमें विचार। अर्व्वाचीन पुरुषोंने नियोगविधिको सर्व्व-साधारण धर्म्म प्रमाण करनेके लिये बहुत ही क्लिष्ट कल्पना की है। कहीं कहीं उन्होंने वेद व स्मृत्यादि शास्त्रोंसे भी प्रमाण उठाकर उनके मिथ्या अर्थ किये हैं। परन्तु यदि उनको यह विचार होता कि "स्मृतियोंकी आज्ञा देश काल व पात्रानुसार लक्ष्य स्थिर रखकर सामञ्जस्यके साथ ही मानी जासकती है और आज्ञा यथार्थ होने पर भी यदि देश काल व पात्र उपयोगी न हो तो उसका उपयोग नहीं हो सकता है" तो उनको इस विषयमें इतना भ्रम नहीं होता। अब नीचे स्मृतिसम्मत नियोगका पालन वर्त्तमान युगमें हो सकता है या नहीं इसीपर विचार किया जाता है। नियोगके विषयमें मनुजीने संहिताके ९ म अध्यायमें कहा है कि:—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताऽऽक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥

यदि अपने पतिके द्वारा सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो स्त्री देवर अथवा

अन्य किसी सपिण्ड पुरुषसे नियोग कराकर सन्तान लाभ करे। रातको सर्व्वाङ्गमें घृत लेपन करके मौनावलम्बनपूर्व्वक सगोत्र नियुक्त पुरुष विधवा स्त्रीमें एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कभी उत्पन्न न करे। इस प्रकार नियोगकी विधि बताकर मनुजीने इसको पशु-धर्म्म कहकर इसकी बड़ी निन्दा की है। यथाः—

नाऽन्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदमं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः।

(९ म अ०)

द्विजगणको विधवा या निस्सन्ताना स्त्रीका नियोग कदापि नहीं कराना चाहिये क्योंकि पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषमें नियुक्त होनेसे सनातन एक-पतिव्रतधर्म्मकी हानि होती है। विवाहक्रियाके लिये जितने वैदिक मन्त्र हैं उनमें नियोगकी आज्ञा कहीं नहीं पाई जाती है और इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंमें विधवाविवाह भी कहीं नहीं लिखा है। शास्त्रज्ञ द्विजगण नियोगको पशुका धर्म्म कहकर निन्दा करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्मृतियोंमें भी नियोगकी अत्यन्त निन्दा की गई है। मनुष्य पशु नहीं हैं इसलिये पशुका जो धर्म्म है सो मनुष्योंके लिये विहित नहीं हो सकता है। इसके सिवाय मनुष्योंमें श्रेष्ठ जो आर्य्यजाति है उसमें पशुधर्म्मकी जो आज्ञा देता है उसके सदृश पापी संसारमें और कौन हो सकता है। इन सब विचारोंके अतिरिक्त नियोगकी विधि वर्त्तमान देशकाल व पात्रमें सम्पूर्ण असम्भव होनेसे सर्व्वथा परित्याज्य है। नियोग-के लिये घृताक्त होकर सम्बन्ध करनेकी जो आज्ञा मनुजीने की है उसका कारण यह है कि नियोगमें साधारण स्त्री पुरुष-सम्बन्धकी तरह कामभोगका सम्बन्ध ही नहीं है इसलिये गर्भाधानके अर्थ इन्द्रियके स्पर्श होनेके सिवाय और किसी अङ्गका स्पर्श न हो इस कारण ही घृताक्त होनेकी आज्ञा की गई है। मनुजीने कहा है किः—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा।
यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥

देवरके लिये ज्येष्ठ भ्राताकी स्त्री गुरुपत्नीतुल्या है और कनिष्ठ भ्राताकी स्त्री ज्येष्ठ भ्राताके लिये पुत्रवधूतुल्या है। अतः मनुजीकी आज्ञानुसार इनमें कामभोग सम्बन्ध होना अतीव गर्हित व पापजनक है। इसलिये सन्तानके लिये नियोगकी आज्ञा होनेपर भी नियोगमें कामका बर्ताव होना सर्व्वथा पापजनक व निषिद्ध है। मनुसंहितामें लिखा है किः—

विधवायां नियोगाऽर्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम्॥
नियुक्तौ यो विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥

यथाविधि नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भ्राता व भ्रातृवधू पुनः पूर्व्व सम्बन्धके अनुसार बर्ताव करें। नियुक्त ज्येष्ठ व कनिष्ठ भ्राता नियोग-विधिको छोड़करके यदि कामका बर्ताव करें तो पुत्रवधूगमन व गुरुपत्नीगमनके कारण दोनोंही पतित हो जाते हैं। अब विचार करनेकी बात है कि इन्द्रियों-का सम्बन्ध करते हुए भी और उस प्रकार स्त्रीके सामने रहते हुए भी पुरुषको काम नहीं होगा ऐसा नियोग इस कलियुगमें सम्भव है या नहीं?

कलियुगका देशकाल हीन है तथा गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्ट होने-से और पिता माताके पाशविक कामोन्मादके द्वारा सन्तानकी उत्पत्ति होनेसे कलियुगमें साधारणतः शरीर कामज होता है। अतः इस प्रकारके शरीरमें स्त्रीसे सम्बन्ध करते समय नियोगविधिके अनुकूल धैर्य्य रहना व कामभोगका अभाव होना सम्पूर्ण असम्भव है। इसलिये और युगोंमें नियोगकी विधि प्रचलित थी ऐसा प्रमाण शास्त्रोंमें मिलनेपर भी कलियुगमें नियोग नहीं चल सकता है और इसीलिये महर्षियोंने नियोगकी निन्दा करते हुए कलियुगमें इसका पूर्ण निषेध किया है। यथा बृहस्पतिजी कहते हैं किः—

उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ तेषां शक्तिहानिर्हि निर्म्मिता॥

अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः ।
न शक्यन्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः ॥

मनुजीने नियोगकी आज्ञा देकर पुनः उसकी निन्दा स्वयं ही की है क्योंकि युगानुसार शक्तिके ह्रास होनेसे मनुष्य पहलेकी तरह नियोग अब नहीं कर सकते हैं। सत्य त्रेता व द्वापर युगोंमें मनुष्य तपस्वी व ज्ञानी थे; परन्तु कलियुगमें त्रेतादि युगोंकी वह शक्ति नष्ट हो गई है इसलिये महर्षि लोग पहले जिस प्रकार नियोगादिसे सन्तान उत्पन्न करते कराते थे वह अब शक्तिहीन कलियुगके मनुष्योंसे नहीं हो सकता है।

अतः आदित्यपुराणमें लिखा है किः—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः ।
निवर्त्तितानि कार्य्याणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः ॥

महात्मागणने संसारकी रक्षाके लिये इसी कारण कलियुगके आदिमें व्यवस्थापूर्वक इन कार्य्योंका निषेध किया है। ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणोंसे कलियुगमें नियोग सर्वथा असम्भव सिद्ध होनेसे परित्याज्य है।

नियोगके ऊपर लिखित रहस्यको न समझकर अर्वाचीन पुरुषोंने इस विषयमें अनेक महापापजनक कल्पनाएं की हैं और अपनी पापमयी कल्पनाकी चरितार्थताके लिये वेदमन्त्र तथा स्मृतियोंके श्लोकोंका बड़ा ही झूठा अर्थ किया है। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है—'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमें पुरुषसे वा दीर्घरोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय तो किसीसे नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दें।' थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्य भी समझ सकते हैं कि इससे अधिक व्यभिचारवृद्धिकारी महापापमयी व्यवस्था और कुछ भी नहीं हो सकती है। एक तो 'न रहा जाय' इन शब्दोंके द्वारा नियोगका लक्ष्य ही भ्रष्ट कर दिया गया, क्योंकि नियोग कामभावसे नहीं होता है, केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये होता है, कामभावजन्य नियोग, नियोग नहीं है प्रत्यक्ष व्यभिचार है जैसा कि मनुजीने कहा है। और द्वितीयतः गार्हस्थ्यधर्म-पालनमें रत स्त्री पुरुष यदि इतना भी संयम न कर सके कि स्त्रीकी गर्भावस्थामें एक वर्षतक जितेन्द्रिय रहे और रोगी पतिको रुग्णावस्थामें फेंककर स्त्री उनके सामने परपुरुष गमन करे, तो इससे अधिक पशुभाव और घृणित नारकियोंका भाव और क्या होगा। अतः

अर्वाचीन पुरुषोंने इस पापमयी कल्पनाके द्वारा केवल नियोगविधिको ही भ्रष्ट नहीं किया है, अधिकन्तु अपने सम्प्रदाय, सम्प्रदायके माननेवाले तथा अपने ग्रन्थको भी कलंकित किया है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अब उनके दिये मन्त्रोंपर विचार करते हैं। एक मन्त्र यह है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

॥ ऋ० मं० १० सू० ८५ मं० ४५॥

यह मन्त्र विवाहमें आशीर्वाद देनेके लिये कहा जाता है, नियोगके लिये नहीं। इसका इस प्रकार अर्थ होता है—(मीढ्वः इन्द्र) समस्त सुखदायी पदार्थोंके देनेवाले इन्द्र, (त्वं इमां सुपुत्रां सुभगां कृणु) तुम इस विवाहिता स्त्रीको उत्तम पुत्रवती और सौभाग्यवती करो। (अस्यां दश पुत्रान् आधेहि) इस स्त्रीमें दस पुत्र धारण कराओ, (एकादशं पतिं कृधि) ग्यारहवें पतिको पुत्रोंके साथ दीर्घजीवी बनाये रखो। यही आशीर्वादसूचक इसका अर्थ है, नियोग द्वारा दस पुत्र उत्पन्न कराना या ११ पति कराना इसका अर्थ नहीं है। क्योंकि इस मन्त्रमें नियोगका कोई शब्द ही नहीं है। इसके सिवाय मनुजीने तो 'एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन' कहकर नियोगमें एकसे अधिक सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा ही नहीं दी है। फिर ऐसी मिथ्या कल्पनाकी गुञ्जायस ही नहीं हो सकती है। डाक्टरी सायन्सने आज कल यह प्रत्यक्ष प्रमाण कर दिया है कि अनेक पुरुषोंके सम्बन्धसे ही स्त्रीशरीरमें सिफिलिश, गनोरियो आदिके भयानक विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो पिता माता द्वारा वंशपरम्परा तक चलकर समस्त वंशको तथा इहलोक परलोकको बिगाड़ देते हैं। हैभलक आदि कई एक पश्चिमी विद्वानोंने इसपर पुस्तकें भी लिखी हैं और आर्यजातिके एकपतिव्रतधर्मको इसी युक्तिपर बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण कहा है। और यहां पर वेदमन्त्र उठाकर प्रमादका भरमार देखिये! अब दूसरा मन्त्र बताया जाता है।

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥

ऋ० मं० १ सू० १८ मं० ८।

इसका यह अर्थ है। (नारि) हे मृतकी पत्नी-(जीवलोकं अभि उदीर्ष्व)

जीवित पुत्र पौत्रादिके पालनार्थ—इस चितास्थानसे उठो, (एतं गतासुं उपशेषे एहि) इस मृतपतिके पास तुम लेटी हुई हो। (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम्हारे पाणिग्रहण तथा गर्भाधान करनेवाले (पत्युः तव इदं जनित्वं अभि सम्बभूथ) तुम्हारे इस पतिके पत्नीपनको लक्ष्य करके तुमने इसके साथ मरनेका निश्चय किया है। इस मन्त्रका भावार्थ यह है कि सती स्त्री मृतपतिके साथ सहमरणमें जाना चाहती है, किन्तु कुटुम्ब लोग मना कर रहे हैं क्योंकि घरमें छोटे छोटे बाल बच्चे हैं। इसमें नियोगसूचक एक भी शब्द न होनेपर भी अर्वाचीन पुरुष न जाने कहांसे इसमें यह अर्थ देख रहा है कि श्मशानमें ये हुए लोग स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'स्त्री तू उठ और हमारेमेंसे किसीके साथ नियोग करके सन्तान पैदा करले।' बुद्धिकी बलिहारी है, कहां तो स्त्री पतिवियोगसे रोदन कर रही है और कहां उसी समय श्मशानमें ही पाशविक क्रिया सूझने लगी! इससे अधिक असभ्यता और क्या हो सकती है? अब तीसरा मन्त्र कहा जाता है—

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'

ऋ० मं० १० अ० १, सू० १०, मं० १०।

पूरे मन्त्रका केवल इतना ही अंश उठाकर अर्वाचीन लोग अर्थ करते हैं कि पति पत्नीको आज्ञा दे रहे हैं कि उनसे सन्तान नहीं होती है, इसलिये स्त्री अन्य पतिके द्वारा सन्तान पैदा कर लेवे। अब पूरे मन्त्रके अर्थपर विचार करनेसे अर्वाचीन लोगोंकी झुठाईका ठीक पता चल जायगा। पूरा मन्त्र यह है—

आघातागच्छानुत्तरायुगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि।
उपबर्ब्रृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥

इसका अर्थ निरुक्त अ० ४, ख २० के अनुसार निम्नलिखितरूप होता है। यमयमी संवादमें यमी अपने भ्राता यमको उसके साथ कामसम्बन्ध करनेको कह रही है, किन्तु यम उत्तर देता है कि "अभी पापमय कलियुग नहीं आया है जिसमें ऐसे अनाचार भी होंगे, इसलिये तुम अन्य किसीको पति बना लो, मुझसे कामसम्बन्ध नहीं हो सकता।" (आघातागच्छान् उत्तरायुगानि) आगे ऐसा युग आने वाला है, (यत्र जामयः कृण्वन् अजामि) जिसमें भगिनियां भगिनीधर्मके विरुद्ध कार्यको करेंगी, (वृषभाय बाहुं

उपबर्हि) अभी ऐसा युग नहीं आया है इसलिये योग्य पतिको पाणिग्रहण करो, (सुभगे ! मत् अन्यत् पतिं इच्छस्व) हे भगिनि ! मुझसे भिन्न दूसरे पतिकी इच्छा करो । इस मन्त्रमें भ्राता भगिनीका सम्वाद तथा नियोग सूचक कोई भी मन्त्र न होने पर भी अर्वाचीन लोगोंने वृथा प्रसङ्ग बदलकर झूठा अर्थ किया है । और साथ ही साथ कुन्ती और माद्रीका दृष्टान्त देकर पक्ष-समर्थनकी चेष्टा की है । महाभारतके पढ़ने वाले जानते हैं, कुन्ती माद्रीने नियोग नहीं कराया था और न उसमें देवताओंसे स्थूल मैथुनसम्बन्ध ही हुआ था । यह केवल दैवीशक्तिके प्रभावसे दैवीसृष्टि थी, इसके साथ स्थूल मैथुनी सृष्टिकी तुलना नहीं हो सकती । इस प्रकार मनुसंहिताके नवमाध्यायके दो श्लोकोंका मतलब बिगाड़कर अर्वाचीन लोगोंने स्वमतपुष्टिका प्रयत्न किया है यथाः—

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥

इसमें पहिला श्लोक पुरुषके विषयमें और दूसरा श्लोक स्त्रीके विषयमें है और पूर्वापर श्लोकोंका सम्बन्ध मिलानेमे 'नियोग'का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है । इतना ही अर्थ निकलता है कि विदेश जानेसे पहिले पति स्त्रीके ग्रासाच्छादनकी व्यवस्था कर जावे । यदि धर्मकार्यके लिये पति विदेश गये हों तो आठ वर्ष, विद्या या यशके लिये गये हों तो छः वर्ष और कामसेवाके लिये गये हों तो तीन वर्ष तक पत्नी प्रतीक्षा करे और पश्चात् पतिके पास चली जावे । जैसा कि वशिष्ठ स्मृतिमें लिखा है ।

प्रोषितपत्नी अष्टवर्षाण्युपासीत् ऊर्द्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत् ।

प्रवासी पतिकी स्त्री आठवर्ष प्रतीक्षा करके पतिके पास चली जाय । इस प्रकार दूसरे श्लोकका अर्थ प्रकरणानुसार यह होता है कि यदि वन्ध्या स्त्री हो तो विवाहकालसे आठ वर्षके बाद, मृतवत्सा हो तो दस वर्षके बाद, केवल कन्या प्रसव करनेवाली हो तो ग्यारह वर्षके बाद और पतिको दुःख देनेवाली हो तो शीघ्र ही पति दूसरा विवाह कर सकता है । इस श्लोकमें केवल वंशरक्षा और सुसन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही ऐसी आज्ञा दी गई है । इसमें नियोग-

का कोई वाक्य नहीं है। अर्वाचीन पुरुषोंने इसके साथ और भी एक असम्बद्ध बात यह लिखी है कि "यदि पुरुष दुःखदायी हो तो स्त्रीको उचित है कि उसे छोड़ दूसरे पतिसे नियोगकर उससे सन्तानोत्पत्ति कर उसी विवाहित पतिका दायभागी पुत्र बना देवे।" क्या यह सम्भव हो सकता है कि स्त्री पतिसे लड़कर दूसरे पुरुषसे यदि सन्तानोत्पादन करे तो उसे और उसके लड़केको पति घरमें घुसने देंगे और ऐसे व्यभिचारसे उत्पन्न सन्तानका दायभागमें किस शास्त्रके अनुसार अधिकार दिया जा सकता है? ये सब युक्तियां तथा प्रमाण बिलकुल व्यर्थ हैं और नियोगपर अर्वाचीन जनोंका विचार प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण भ्रमात्मक है यही सिद्ध हुआ।

नियोगके विषयमें शंका समाधान करके अब विधवाविवाहके विषयमें शंका समाधान किया जाता है। यह बात पहलेही कही गई है कि स्त्रीजाति

विधवा विवाहका परिणाम

प्रकृतिका अंश होनेके कारण उसमें विद्या व अविद्या दोनों प्रकृति विद्यमान हैं। अविद्याभावके कारण पुरुषसे आठगुणा काम अधिक होने पर भी विद्याभावके कारण उसमें पुरुषसे धैर्य्य अधिक है। अतः जिस प्रकार किसीकी ऐसी प्रकृति यदि हो कि एक छटांक भोजनसे भी निर्वाह कर सकता है और लोभ बढ़ाया जाय तो मन मन भर खिलानेसे भी तृप्ति नहीं होती है तो उसके लिये एक छटांकमें निर्वाह करानेका अभ्यास कराना ही बुद्धि व विचारका कार्य्य होगा और मनभर खानेका लोभ दिलाना अविचारका कार्य्य होगा। ठीक उसी प्रकार जब स्त्रीजातिकी प्रकृतिही ऐसी है कि एकपतिव्रता होकर तपोधर्म्मके अनुष्ठान द्वारा उसीमें आनन्दके साथ निर्वाह करके मुक्ति पा सकती है और अनेक पुरुषोंके साथ सम्बन्ध करनेका लोभ दिलानेसे अजस्र कामभोग करके संसार व अपनेको भ्रष्ट कर सकती है तो स्त्रीके लिये वही धर्म्म व विचारका कार्य्य होगा जिससे उसमें एकपतिव्रताका संस्कार बढ़ता रहे एवं अनेक पुरुषोंसे सम्बन्धका भाव कुछ भी न हो। विषयसुख एक प्रकार चित्तका अभिमानमात्र होनेसे पुरानेकी अपेक्षा नवीन वस्तुमें अधिक सुखबोध होने लगता है क्योंकि पुरानी वस्तु अभ्यस्त होनेके कारण उसमें ऐसा अभिमान भी कम हो जाता है। नवीनमें नवीन सौन्दर्य्य आदिका अभिमान होनेसे नवीन सुख व आग्रह होने लगता है। यह सब मायाकी ही लीला है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जिसमें काम जितना होगा उसमें नवीन भोगकी लालसा भी उतनी ही होगी। अतः पुरुषसे स्त्रीमें

कामका वेग जब आठगुणा अधिक है तो स्त्रीमें नवीन नवीन पुरुषसम्भोग-लालसा भी पुरुषसे आठगुणी अधिक होगी। इसीलिये महाभारतमें कहा गया है कि:—

न चाऽऽसां मुच्यते कश्चित्पुरुषो हस्तमागतः।
गावो नवतृणान्येव गृह्णन्त्येता नवं नवम् ॥

जिस प्रकार गौ नई नई घास खानेकी इच्छासे एकही स्थानपर न खाकर इधर उधर मुंह मारती रहती है उसी प्रकार नवीन नवीन पुरुषभोगकी स्पृहा स्त्रियोंमें स्वाभाविक है। उनके हाथमें आया हुआ कोई पुरुष खाली नहीं जा सकता है। यही स्वाभाविक नवीन नवीन भोगस्पृहा स्त्रीजातिमें अविद्या-का भाव है। पातिव्रत्यके द्वारा इस अविद्याभावका नाश होकर विद्याभावकी वृद्धि होती है; परन्तु विधवा-विवाहके द्वारा विद्याभावका नाश होकर अविद्या-भावकी ही वृद्धि होगी जिससे स्त्रीजातिका सत्तानाश हो जायगा। जिस दिन बिचारी अबला स्त्रियोंको यह आज्ञा दी जायगी कि उनके एक पतिके मरनेके अनन्तर नवीन पति उन्हें मिल जायगा और इस प्रकारसे अनेक पुरुषों-से सम्बन्ध करती हुई भी वे धार्मिका रह सकेंगी, उस दिनसे उनके चित्तमें नवीन नवीन पुरुषोंसे सम्बन्धकी इच्छा कितनी बलवती हो जायगी इसको सभी लोग समझ सकते हैं। धर्मका लक्ष्य कामादि प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पुष्टि करना है; परन्तु जब अजस्र कामभोग करनेपर भी पति-व्रता व धार्मिका रह सकती हैं ऐसी आज्ञा उन्हें मिल जायगी तो कौन चाहता है कि कठिन तपश्चर्य्या व एकपतिव्रतका पालन करे, उस समय सभी स्त्रियों के चित्तमें आठगुणा काम व नवीन पुरुषोंसे भोग करनेका दावानल धकधका-कर जल उठेगा जिसके तेजसे संसारकी शान्ति व प्रेम आदि सब कुछ नष्ट होकर संसार भीषण श्मशानरूपमें परिणत हो जायगा। इस प्रकार विधवा-विवाहकी आज्ञाके द्वारा सतीत्वरूपी कल्पतरु, जिसके अमृतफल श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्र, ऋषि, महर्षि व ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि हैं और जिस कल्पतरुके मधुरफल भगवान् शङ्कर व महाराणा प्रताप आदि हैं उसके मूलमें कठिन कुठारका आघात होकर उसे नष्ट कर देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भारतसे सतीधर्म्मका गौरव, जिस गौरवके कारण आज भी भारत इतनी हीनदशा होनेपर भी समस्त संसारमें ज्ञानगुरु होकर इतने विप्लवोंको सहन करता हुआ अपनी सत्ताके प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुआ है, यह

भारत-गौरव-रवि चिरकालके लिये अस्त होकर भारतको घोर अज्ञानान्धकारमय नरकरूपमें परिणत कर देगा एवं दुःख, दारिद्र्य, अविद्या और अशान्ति आदि पिशाचिनी उस नरकमें नृत्य करेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। संसारमें कितनी ही जातियां कालसमुद्रपर बुद्बुदकी तरह उठकर पुनः कालसमुद्रमें ही विलीन होगईं, आज उनका नाम निशान भी नहीं है; हमारे भारतने केवल माताओंकी ही कृपासे व सतीधर्म्मके बलसे चिरजीवी आर्य्यपुत्रोंको उत्पन्न करके आर्य्यजातिको जीवित रक्खा है। यह महिमा एवं आर्य्यजातिकी यह चिरायुता पातिव्रत्यके नाशसे पूर्ण नष्ट हो जायगी जिससे आर्य्यजाति ही नष्ट हो जायगी। केवल आर्य्यजाति ही नहीं, परन्तु विधवा विवाहके प्रचार होनेसे घर घरमें घोर अशान्ति फैल जायगी। आर्य्यशास्त्रोंमें सती चार प्रकारकी कही गई है। उत्तम सती वह है जो अपने पतिको ही पुरुष देखे और अन्य पुरुषोंको स्त्री देखे अर्थात् उनमें सतीत्वका भाव इतना उच्च है व धारणा इतनी पूर्ण है कि सिवाय पतिके और किसी मनुष्यमें पुरुषभावकी दृष्टिही नहीं होती है। मध्यम सतीका यह लक्षण है कि जो अपने पतिको ही पति समझे एवं अपनेसे अधिक आयुवाले पुरुषोंको पिता, समान आयुवाले पुरुषको भ्राता व कम आयुवाले पुरुषोंको पुत्र समझे। तृतीय श्रेणीकी सती वह है कि जिसमें धारणा इतनी पक्की न होनेपर भी धर्म्म व कुल-मर्य्यादा आदिके विचारसे जो शरीर व अन्तःकरणको पवित्र रक्खे। और अधम सती वह है कि जो मनके द्वारा परपुरुषचिन्ताको न छोड़ सकने पर भी स्थूल शरीरकी पवित्रता रक्षा करे। इस प्रकारके पातिव्रत्यके प्रभावसे ही शास्त्रोंमें कहा गया है किः—

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः ॥
सखा यः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्म्मकार्य्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः ॥

संसारमें स्त्री पुरुषकी अर्द्धाङ्गिनीस्वरूपिणी व परम मित्ररूपा है। जिनकी भार्य्या है उन्हींकी सब धर्म्मकार्योंमें सफलता व श्रीवृद्धि हुआ करती है। एकान्तमें प्रियवादिनी सखा, धर्म्मकार्य्योंमें पिताके सदृश सहायता देनेवाली और रोगादि क्लेशोंके समय माताकी तरह शुश्रूषा करनेवाली

भार्य्या ही हुआ करती है। दुःखमय संसारमें गृहस्थ पुरुषोंको यदि कोई गार्हस्थ्य-शान्ति है तो यही है कि उनके घरमें उनकी सम्पत्तिके समय अधिकतर आनन्ददायिनी और विपत्तिके समयपर अर्द्धांशभागिनीरूपसे विपत्तिके भारको कम करके हताश हृदयमें आशामृतसिञ्चनकारिणी सहधर्म्मिणी है जो कभी स्वप्नमें भी परपुरुषको नहीं जानती है; परन्तु विधवा-विवाहके प्रचारके द्वारा पुरुषके हृदयमें बद्धमूल यह आशालतिका दग्ध होकर हृदयको भीषण मरुभूमिरूपमें परिणत कर देगी। क्योंकि पुरुषके चित्तमें सदाही यह सन्देह उत्पन्न होता रहेगा कि "न जाने कब यह मेरी स्त्री मुझे मारकर दूसरेसे विवाह कर लेगी क्योंकि स्त्रीप्रकृति नवीन नवीन पुरुषको चाहने वाली है, विधवा-विवाहके प्रचारसे नवीन नवीन पुरुष प्राप्त करना धर्म्मरूप हो गया है इसलिये वह क्यों मेरे जैसे पुरानेके पास रहेगी, अनेक दिनोंका सम्बन्ध होनेके कारण मैं पुराना होगया हूँ,मेरा शरीर भी नाना कारणोंसे उसकी पूर्ण तृप्ति करने लायक नहीं रह गया है" इत्यादि इत्यादि। और इस प्रकारकी चिन्ता उस दशामें स्वाभाविक भी है क्योंकि विधवाविवाहकी आज्ञाको धर्म्म कहकर प्रचार करनेसे स्त्रीजातिके चित्तसे सतीत्वका संस्कार ही नष्ट हो जायगा जिससे एक पतिमें ही संयमपूर्व्वक नियुक्त रहनेकी कोई आवश्यकता स्त्रियां नहीं समझेंगी और इसका यही फल होगा कि स्त्रीजातिकी स्वाभाविक कामपिपासा व नवीन नवीन पुरुषभोगप्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होकर स्त्रीचित्तकी सत्ताका नाश कर देगी। और जहां एक बार सतीत्वका बन्ध टूट गया, फिर कहना ही क्या है? उसे कभी रोक नहीं सकते। शेरको नररक्तका स्वाद मिलने पर उसकी मनुष्य मारनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं नष्ट हो सकती है। अतः इस प्रकारकी आज्ञा देनेका यही फल होगा कि गृहस्थाश्रममें बड़ी भारी अशान्ति फैलेगी, गृहस्थाश्रम श्मशान हो जायगा, उसकी गृहलक्ष्मी अपने स्वरूपको छोड़कर पिशाचिनी बनकर उसी श्मशानमें नृत्य करेगी, प्रेमकी मन्दाकिनी शुष्क हो जायगी, कामका हुताशन भीषणरूपसे जलने लग जायगा और पतिका पवित्र देह उसी हुताशनमें आहुतिरूप हो जायगा। संसारमें थोड़ी थोड़ी बातपर ही लड़ाई होगी, लड़ाईमें दाम्पत्यप्रेम नष्ट हो जायगा, पति सदाही स्त्रीसे डरने लगेंगे, "क्या जाने कब मुझे मार न देवे, मेरा शरीर कुछ वृद्ध होगया है, बहुत सुन्दर भी नहीं है, मैंने आज धमकाया था, उसको क्रोध तो नहीं आगया, शायद क्रोध करके मुझे रातको मार न दे, किसी दूसरेसे

गुप्त प्रेम करके मुझे दूधके साथ ज़हर देकर मार न डाले क्योंकि मेरेसे उसका चित्त नहीं भरता है, मैं पुराना व बुढ़ा हो गया हूँ" इत्यादि इत्यादि सब दुर्दशाएं गृहस्थाश्रममें होने लग जायँगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पुरुषको सामान्य रोग होते ही वह आधे रोगमें चिन्ताहीसे पूरा मर जायगा क्योंकि उधर तो आठगुणी कामकी अग्नि निशिदिन आहुतिके लिये लहलहाती है और इधर रोगसे विषय करनेकी शक्ति कम हो गई है अतः इस दशामें व्यभिचारका भय व मार डाले जानेका भय सदैव पुरुषको सताया करेगा और वह सामान्य रोगसे ही दुश्चिन्ताके कारण मर जायगा, सब स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी हो जायंगी, पतिकी बात नहीं सुनेंगी, पतिको रोटी मिलनी कठिन हो जायगी, वे कुछ नहीं कह सकेंगे क्योंकि जहां कुछ कहें वहीं मरनेका डर, विषका डर और हत्याका डर लगेगा, वह स्त्री नाराज़ होकर सब कुछ कर सक्ती है, अन्य पुरुषसे मिलकर उसे मार डाल सक्ती है क्योंकि तब तो अन्य पुरुषसे मिलना धर्म्म हो जायगा। यही सब विधवा-विवाहका भारतको श्मशान बनानारूप विषमय फल है जिसको विचारवान् व दूरदर्शी पुरुष विचार कर देखनेसे अक्षरशः सत्य जान सकेंगे। क्या यही सब भारतवर्षकी उन्नतिका लक्षण है? इसी प्रकार करनेसे भारतवर्षकी उन्नति होगी? यही सब आर्य्यत्वका लक्षण है? समुद्रके गर्भमें डूब जाय वह भारत और नष्ट हो जाय वह आर्य्यजाति जिसमें अपने आर्य्यभावको नष्ट करके इस प्रकारके अनार्य्य आचारको ग्रहण करना ही उन्नतिका लक्षण हो। प्रमादी हैं वे लोग जो इन सब विषयोंको बिना सोचे ही पवित्र आर्य्यजातिके मौलिक भावोंके उड़ा देनेमें अपना पुरुषार्थ और देशकी उन्नति समझते हैं। उन्नति अपने जातिगत संस्कारोंकी उन्नतिसे हुआ करती है, अपनी सत्ताको नष्ट करके नहीं हो सक्ती है। भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सक्ता है, आर्य्य अनार्य होकर उन्नत नहीं हो सक्ते हैं और आर्य्यसतियां विलायती मेम बनकर उन्नत नहीं हो सक्ती हैं, परन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सक्ती हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीयवार विवाह मना किया है।

अब जो वाग्दत्ता कन्याके विवाहका विषय है सो इस विषयमें भी मनुजीने स्पष्ट विवाह नहीं लिखा है। यथाः—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।

मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥

(९ अध्याय)

यदि विवाहके पहले वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवरके साथ उसका संसर्ग हो सकता है कि यथाविधि इस प्रकारकी स्त्रीको प्राप्त करके देवर सन्तान होनेतक प्रतिऋतुमें उससे संसर्ग करे; परन्तु वह स्त्री शुभ्र वस्त्र पहिनी हुई व शुचिव्रता होनी चाहिये। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रत होना विधवाका धर्म है, सधवाका नहीं है। अतः इस प्रकारकी आज्ञाके द्वारा मनुजी वाग्दत्ताका विवाह नहीं बता रहे हैं केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बता रहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपरके श्लोकोंसे वाग्दत्ताका विवाह समझ लेवे तो इस सन्देहके निराकरणार्थ मनुजीने पुनः तीसरे श्लोकमें कहा है किः—

न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।

दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम् ॥

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगोंको अपनी कन्याको अन्य पात्रमें समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुषको दान करना अङ्गीकार करके दूसरेको देनेपर समस्त संसारको प्रतारणा करनेका पाप होता है। मनुजीकी यह आज्ञा उत्तम कोटिकी है। परन्तु भिन्न भिन्न देशकालके विचारसे अन्यान्य स्मृतियोंमें मध्यम कोटिकी भी आज्ञाएँ मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पात्रमें समर्पण भी माना जाता है। उनका यह सिद्धान्त है कि मन्त्रसंस्कारके अनन्तर सप्तपदीगमन होनेसे ही जब कन्या पर पूर्णतया वरका अधिकार होता है तो केवल वाग्दत्ता होनेसे पूरा दान नहीं हुआ अतः उसका विवाह हो सकता है। वशिष्ठसंहितामें लिखा है किः—

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताऽथो वरो यदि ।

न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा ॥

यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।

अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥

यदि ऐसा हो कि केवल जलसे या वाक्यसे दानमात्र हुआ है परन्तु मन्त्रोंके द्वारा संस्कार नहीं हुआ है, तो इस दशामें वरकी मृत्यु होनेसे वह

कन्या पिताकी ही रहेगी। इसलिये मन्त्रसंस्कृत न होनेके कारण वह कन्या अन्य पात्रमें दी जा सकती है क्योंकि ऐसी अवस्थामें वाग्दत्ता कन्या और अवाग्दत्ता कन्या दोनों ही बराबर हैं। यही उत्तम तथा मध्यम कोटिका विचार है। इसी प्रकार महर्षि पराशरके 'नष्टे मृते' इत्यादि श्लोकोंमें भी 'अपतौ' शब्दके प्रयोगसे वाग्दत्ता प्रकरणका ही ग्रहण किया गया है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो 'तामनेन विधानेन' इत्यादि श्लोकसे अक्षतयोनि विधवाका विवाह बताया है यह उनकी भूल है। इसका प्रकरणानुसार अर्थ ऊपर बताया गया है।

अन्तमें एक दो विषय और भी विचार करने योग्य है। ऊपरलिखित नियमोंके अनुसार विधवाओंकी रक्षा व शिक्षा होनेसे वैधव्य दशामें पातिव्रत्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यदि प्रारब्ध मन्द होनेके कारण इतनी शिक्षा देनेपर भी कोई विधवा अपने धर्म्मका पालन न कर सके और अजस्र व्यभिचार द्वारा कुलमें कलङ्क आरोपण करने लगजाय या विधर्मियोंके साथ भागने लगे तो उस दशामें असच्छूद्रजातियोंके सिवाय अन्यके लिये यही करना होगा कि अनेक पुरुषोंका सङ्ग व अजस्र व्यभिचारको घटानेके लिये एक पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध कराकर उसे जातिसे अलग कर देना होगा। इस प्रकारसे पुरुषसम्बन्ध करा देना आदर्शधर्म्म नहीं होगा या विवाह नहीं कहलावेगा; परन्तु अनेक पुरुषसङ्ग द्वारा अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये एक पुरुष संग्रहमात्र कहलावेगा। अतः ऐसी पतिता स्त्रीको घरमें सती स्त्रियोंके साथ कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसा होनेसे कुसङ्गके कारण सतियां भी बिगड़ जायंगी, कमसे कम उनके चित्तसे पातिव्रत्यकी गभीरता कम हो जायगी, ऐसी स्त्रियों तथा पुरुषोंकी एक जाति अलग बन सकती है। इस प्रकार सती व असती स्त्रियोंमें भेद रखने पर सती स्त्रियों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वे मनसे भी सतीधर्म्मसे च्युत नहीं होंगी और विधवा होनेपर भी व्यभिचार करनेकी इच्छा नहीं करेंगी, कमसे कम शरीरको तो पवित्र रक्खेंगी।

मनुजीने अपनी संहिताके नवम अध्यायमें ऐसा ही एक वैदिक विवाह संस्कारके अतिरिक्त पुनर्भूसंस्कार लिखा है। यथाः—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

दोषी होनेसे पतिने त्याग कर दिया है अथवा विधवा हो गई है ऐसो स्त्री अपनी इच्छासे किसीकी स्त्री बनकर अर्थात् व्यभिचार द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं। ऐसी कुलक्षणाक्रान्त कोई विधवा अक्षतयोनि हो अथवा कोई सधवा घरसे भागकर फिर लौट आई हो तो ऐसे ही किसी पौनर्भव पुरुषके साथ उसका विवाह हो सकता है। इस श्लोकमें पौनर्भव पति साधारण पुरुष नहीं है परन्तु घरसे भागी हुई या परित्यक्ता या विधवा स्त्रीके व्यभिचारके द्वारा उत्पन्न पुरुष है। अतः वर्त्तमान आपत्कालमें भी हिन्दुजातिके भीतर यदि ऐसा कोई पन्थ बन जाय जो ऐसे स्त्री पुरुषोंको विधर्मी होनेसे बचा ले तो हम उससे रोटी बेटीका सम्बन्ध न रखनेपर भी उसको हिन्दु मान सकते हैं। और ऐसा माननेसे, वर्त्तमान समयमें अनेक पतित स्त्री पुरुषोंकी रक्षा होगी तथा दूसरी ओर आर्य्य नर नारियोंका उत्तमादर्श बच जायगा। यही वर्त्तमान समयका आपत्काल है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो इस श्लोकके द्वारा हरेक अक्षतयोनि स्त्रीका पुनर्विवाह लिखा है यह उनकी भूल है। क्योंकि शिक्षा पानेपर क्षतयोनिकी अपेक्षा अक्षत योनि स्त्री अपने ब्रह्मचर्य्यको अधिक सुबितासे रख सकती है। गृहस्थ होकर किसी वस्तुका स्वाद पाकर उसे छोड़नेकी अपेक्षा पहिलेसे ही छोड़ना अधिक सुविधाजनक अवश्य है। अतः इन्हीं सब विचारों द्वारा सावधान होकर नारीधर्मकी रक्षा करनी चाहिये।

इति श्रीधर्मसुधाकरे चतुर्थकिरणम्।

पञ्चम किरण।

सामाजिक प्रश्नोत्तरी।

कलिकालके कुटिल प्रभावसे आजकल हिन्दु सामाजिक जगत्‌में विशाल समुद्रमें लहरोंकी तरह शंकाओंकी लहरें उठ रही हैं। उनमेंसे कुछ आवश्यक शंकाओंका समाधान प्रश्नोत्तररूपसे नीचे किया जाता है।

प्र० अस्पृश्य जातियां कौन कौन और कैसे हैं ?

उ०—प्रतिलोम संकरतासे उत्पन्न कई एक जातियां 'अस्पृश्य' कहाती हैं। संकरता अनुलोम और प्रतिलोम दो प्रकार की होती है। उच्च वर्णके पुरुष और निम्नवर्णकी स्त्रीके द्वारा उत्पन्न सन्तान अनुलोम संकर कहाती है। और उच्च वर्णकी स्त्रियां बिगड़कर निम्नवर्ण पुरुषोंके सम्बन्धसे जो सन्तान उत्पन्न करती है वह प्रतिलोमसंकर कहाती है। सतीधर्मप्रधान सनातनधर्ममें स्त्रियोंका व्यभिचार अति निन्दनीय बताया गया है। इस कारण ऐसी सन्तान भी अतिअधम तथा 'अस्पृश्य' कहाती है। इनके शरीरोंकी 'बिजली' अति अधम कोटिकी होनेके कारण उच्च जातिके लोग अपने शरीरोंकी उत्तम 'बिजली' की रक्षाके लिये इनको स्पर्श करना अनुचित समझते हैं। वेदादि शास्त्रोंमें अस्पृश्य जातियोंकी उत्पत्ति तथा उनके साथ स्पर्शास्पर्शके विषयमें बहुत कुछ विचार किया गया है। छान्दोग्योपनिषत्‌के पञ्चम प्रपाठकके दशम खण्डमें मन्त्र है यथा.........य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। अर्थात् निन्दित पापकर्मी जन श्वान, शूकर, चण्डालादि निकृष्ट योनियोंमें जन्मलाभ करते हैं। अतः वेदमतानुसार चण्डालादि योनि नीच योनि सिद्ध हुई। कैसे कैसे प्रतिलोम सम्बन्धसे ऐसी जातियां उत्पन्न होती हैं इस विषयमें मन्वादि स्मृतियोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं यथा—

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ म० १०–१२

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ १०–११
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ १०–८
कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते । १०–३६

शूद्र पुरुषसे वैश्य स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'आयोगव', क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'क्षत्ता' और ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न नराधम सन्तान 'चाण्डाल' कहलाती है। क्षत्रिय पुरुषसे ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'सूत', वैश्य पुरुषसे क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'मागध' और ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'वैदेह' कहलाती है। ब्राह्मणपतिसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न सन्तान 'अम्बष्ठ' और शूद्रकन्यामें उत्पन्न सन्तान 'निषाद' या 'पारशव' कहलाती है। ऐसे निषाद पुरुषसे वैदेह स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'चर्मकार' या 'चमार' कहलाती है। 'डोम भङ्गी' ये सब चाण्डालके ही भेदमात्र हैं। चमार, डोम, भङ्गी, चाण्डाल ये सभी प्रतिलोम संकर जातियां ऊपर लिखित कारणसे 'अस्पृश्य' कहलाती हैं।

प्र०—क्या इन जातियोंके उच्च जातियोंके साथ लौकिक बर्तावके विषयमें शास्त्रोंमें कुछ प्रमाण मिलते हैं ?

उ०—बहुत प्रमाण मिलते हैं। मनुसंहिताके ४ थे अध्यायका २२३ वां श्लोक है—

नाद्याच्छूद्रस्य पकान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रके हाथका बनाया हुआ पकान्न भोजन नहीं करना चाहिये। कदाचित् भोजन न मिलनेकी हालतमें एक दिनके निर्वाहमात्रके लिये शूद्रसे कच्चा सीधा ले सकते हैं। आपस्तम्बके प्र० २, पटल २, खं० २, सूत्र ४ में जो 'आर्या अधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः' लिखा है इसका अर्थ यह नहीं है कि शूद्र जाति ब्राह्मणोंके यहां रसोई करे, जैसा कि अर्वाचीन लोगोंने लिखा है किन्तु केवल संस्कार करना अर्थात् घरमें झाड़ू लगाना, वर्त्तन साफ करना आदि कार्य ही इसके द्वारा सूचित होते हैं। और जब शूद्रके हाथका खाना शास्त्रमें मना है तो अस्पृश्य जातियोंके साथ सहभोजन तो कदापि शास्त्र-

सम्मत नहीं हो सकता है। अतः इन जातियोंको जनेऊ देना, इन्हें वेद पढ़ाना, इनके हाथका जल पीना या इनके साथ सहभोज करना सर्वथा निषिद्ध है। पराशरसंहितामें लिखा है—

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्॥

चाण्डाल कहीं दृष्टिपथमें आजाय तो सूर्यदेवको देखकर पवित्र होना चाहिये। चाण्डालसे स्पर्श होजानेपर सचैल स्नान कर शुद्ध होना चाहिये। मनुसंहितामें लिखा है—

चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्॥ १०-५१
न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ १०-५३

चाण्डाल और श्वपचोंको ग्रामके बाहर निवासस्थान देना चाहिये, इनका भोजन किया पात्र जलाने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता है, कुत्ता और गधा इनका धन है। किसी धर्मकार्यके समय इन्हें सामने नहीं आने देना चाहिये। इनका लौकिक व्यवहार तथा विवाहादि आपसमें ही होना कर्त्तव्य है। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं।

प्र०—क्या यह सब अस्पृश्य जातियोंके प्रति शास्त्रोंका अनुचित आदेश नहीं है?

उ०—प्रथम दृष्टिमें अनुचितसा प्रतीत होने पर भी धीर होकर विचार करनेसे महर्षियोंकी दूरदर्शिता ही इसमें झलकती है। आजकलके डाक्टरी-सायन्समें संक्रामक रोगोंके [Contagious diseases] विषयमें कैसे कैसे विज्ञान निकले हैं यह सभी लोग जानते हैं। चेचक, प्लेग, इनफ्लुयेन्ज़ा, हैजा, मॅलेरिया आदि सभी रोग आजकल संक्रामक बताये जाते हैं और ऐसे रोगियोंके स्पर्शसे बचे रहनेको डाक्टर लोग कहा करते हैं। आर्यशास्त्रमें भी इस विषयमें स्थूल सूक्ष्म बहुत कुछ विचार किया गया है। यथा सुश्रुत निदानस्थानके ५ म अध्यायमें—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

एकसाथ आलाप, शारीरिक स्पर्श, श्वास, एकसाथ खाना, सोना या बैठना, पहननेका कपड़ा या माला—इन सबके द्वारा कुष्ठ, ज्वर, शोष, आखों-का आना, चेचक, हैजा, प्लेग आदि संक्रामक रोग एक शरीरसे अन्य शरीरमें जाते हैं। कूर्मपुराणमें महर्षि बृहस्पतिने नौ प्रकारके संसर्गदोष बताये हैं—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम् ।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह ।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥
(कूर्म० १५)

एक शय्यापर सोना, एक आसनपर बैठना, एक पंक्तिमें भोजन, भोजन-पात्र या अन्नका मिलाना, याजन, अध्यापन, योनिसंसर्ग और सहभोजन ये नौ प्रकारके संसर्ग कहलाते हैं। नीच जनोंके साथ ऐसे संसर्ग नहीं होने चाहिये। समीप रहनेसे एकका पाप दूसरेमें जाता है। महर्षि पराशरने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानाद् भाषणात् सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥

जिस प्रकार जलमें तेल फैल जाता है ऐसा ही एक साथ बैठने, सोने, जाने, बोलने और भोजन करनेसे एकका पाप दूसरेमें फैलता है। महर्षि देवलने कहा है—

संलापस्पर्शनिःश्वाससहशय्यासनाशनात् ।
याजनाध्यापनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥

परस्पर आलाप, स्पर्श, निःश्वास, एकत्र शयन, बैठना, भोजन, याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्ध द्वारा एक शरीरसे दूसरेमें पाप जाता है। महर्षि छागलेयने कहा है—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥

आलाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, एकत्र भोजन-शयन-उपवेशन तथा अध्ययनसे एकका पाप दूसरेमें प्रवेश करता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने आह्निक आचारतत्त्वमें कहा है—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि ।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत् ॥
भस्म-स्तम्ब-जल द्वारमार्गैः पंक्तिं च भेदयेत् ।

अन्यकी बात ही क्या, अपने जनोंसे भी एक पंक्तिमें भोजनके समय भस्म, तृण या जलसे पंक्तिभेद कर लेना चाहिये। क्योंकि कौन जाने किसके भीतर कौन पाप छिपा हुआ है।

इन सब पुष्ट प्रमाणोंसे शंका समाधान अच्छा हो जायगा। अस्पृश्य जातियोंके शरीर मलिन होनेसे उनके द्वारा स्थूल रोगादिका और जन्म पाप-मूलक होनेसे उनके संस्पर्श द्वारा अनेक सूक्ष्म रोगोंका फैलना बहुत सम्भव है। संसारमें अच्छे बननेकी अपेक्षा बुरे बननेकी आशंका ही अधिक रहती है। इसी कारण इन जातियोंके विषयमें इस प्रकारकी आज्ञाएं आर्य्यशास्त्रमें मिलती हैं।

प्र०—क्या देश तथा जातिकल्याणविचारसे इन आज्ञाओंमें कुछ शिथिलता नहीं की जा सकती है?

उ०—अवश्य की जा सकती है और आर्यशास्त्रमें इसके लिये अनुकल्प तथा आपत्कल्पका विधान किया गया है।

प्र०— अनुकल्प, आपत्कल्प या आपद्धर्मका लक्षण क्या है और इसके विषयमें आर्यशास्त्रमें कौन कौन विचार किया गया है?

उ०—पूज्यपाद महर्षियोंने धर्म चार भेद किये हैं। यथा साधारण धर्म, विशेष धर्म, असाधारण धर्म और आपद्धर्म। धर्मके २४ अङ्ग तथा ७२ अङ्गरूपसे यज्ञ, तप, दानादिका जो वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है * तथा धृति, क्षमा आदि जो दशलक्षणात्मक धर्म्मका वर्णन मनुसंहितामें पाया जाता है, ये सब साधारण धर्म कहाते हैं। इनमें पृथ्वीके सब मनुष्योंका समान अधिकार

* धर्मचन्द्रिका द्रष्टव्य है।

है। इस कारण भी वे साधारण धर्म कहाते हैं। पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्य्यधर्म, अनार्यधर्म इत्यादि सब विशेष धर्म हैं। इनमें विशेष विशेष व्यक्तिका अधिकार रहता है। तीसरा असाधारण धर्म कुछ विलक्षण ही है। जैसा विश्वामित्रका ब्राह्मण होना, द्रौपदीका पञ्च-पति होना, नन्दिकेश्वरका देवता होना इत्यादि। यह धर्म असाधारण शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। इसका वर्णन वेद तथा पुराणोंमें कहीं कहीं आता है। चतुर्थ—अर्थात् आपद्धर्म सबसे विलक्षण है। देश, काल, पात्र तथा भावके अनुसार इसका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्म-निर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित रहता है, इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर देश, काल तथा पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म-निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। कलियुगमें जीवोंकी प्रकृति प्रवृत्ति साधारणतः बहुत ही निम्नाधिकारकी है और कलियुगका देशकाल भी धर्माचरणमें प्रायः प्रतिकूल है। इसलिये मुख्य कल्पके बदले इस युगमें प्रायः अनुकल्पका विधान तथा मुख्य धर्मके स्थानपर आपद्धर्मका ही पालन सम्भव-पर होता है।

आपद्धर्मपालनमें भावकी मुख्यता है। अर्थात् आपत्कालमें यदि कोई साधारणतः गर्हित कर्म भी करना पड़े तो अन्तःकरणमें भावकी शुद्धि रहनेसे असत् कर्म भी सत्कर्म बन जाता है। अतः उससे पतन न होकर उन्नति ही होती है। भाव-शुद्धिके दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, कामादि पाशविक क्रिया अत्यन्त नीच होनेपर भी देश तथा वंश समुज्वलकारी सुसन्तानोत्पत्तिके सद्भावको लेकर अनुष्ठित होनेके कारण सत्कर्ममें परिणत हो जाती है। इसी प्रकार जीवहिंसा महापाप होनेपर भी राज्यरक्षा या अधिक जीवकी कल्याण-कामनासे आचरित जीवहिंसा धर्मरूपमें परिणत हो जाती है; नीचका अन्नग्रहण महापाप होनेपर भी जीवित रहकर जगत्को सेवा करेंगे, इस शुद्ध भावसे दुर्भिक्षादि आपत्कालमें गृहीत नीचका अन्न भी आत्माकी अवनतिका कारण नहीं बनता है। यही सब आपद्धर्म-पालनमें भावकी मुख्यताके दृष्टान्त हैं।

महाभारतके शान्तिपर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपत्से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्य-सञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैध-कर्म-जनित समस्त प्रत्यवायको दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारीको सावधान करनेके लिये इन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्गतेर्विद्यते फलम्॥

देवता, विश्वेदेवा, साध्य, ब्राह्मण व महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु-भयसे भीत होकर मुख्य कल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका-निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु मुख्य कल्प-पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नहीं प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

जो द्विज अनापत् कालमें भी आपद्धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें इस कर्मका फल नहीं पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है:—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्यजनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे। परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्तिको परि-

त्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे। पात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्त्तव्यनिर्णय प्रसङ्गमें श्रीभगवान् मनुजीने कहा है: —

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥ (१० अ०)

यदि ब्राह्मण अपने स्वाधिकारानुकूल कर्म द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करे, क्योंकि यही उनकी आसन्नवृत्ति है। यदि स्ववृत्ति व क्षत्रियवृत्ति दोनोंहीके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवन धारण कर सकते हैं। ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्यवृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कभी ब्राह्मण वृत्त्यवलम्बन नहीं कर सकते। यदि कोई अधम जाति उत्तम जाति· की वृत्त्यवलम्बनपूर्वक जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजाका कर्त्तव्य है

कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय नहीं है, क्योंकि उच्च जातिके धर्म द्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्र ही अपनी जातिसे पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होनेपर अनाचार परित्याग करके द्विजशुश्रूषादि शूद्रवृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्रवृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ हो तो कारु कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है, इस प्रकारके कार्य व शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको अवलम्बनीय होंगे। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारण रूपसे आपत्कालीन वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है यथाः—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति (जो अवस्था हो उसीमें सन्तोष) भिक्षा व सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा व शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित है।

देश व कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा हैः—

देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत्॥

देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी आदिका भय होनेसे पहले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करें। आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये।

तदनन्तर जब सामर्थ्य हो तब धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पहिले विपत्तिसे अपनेको बचाकर पश्चात् शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये। आपत्कालमें भोजनादिके विषयमें लिखा है—

आपद्गतः सम्प्रगृह्णन् भुञ्जानो वा यतस्ततः।
न लिप्यतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः॥

(मिताक्षरा)

आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
मनस्तापेन शुध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत्॥

(पराशरः)

आपत्तिमें पड़कर ब्राह्मण यदि जहां कहींसे अन्न ग्रहण करें या भोजन कर लें तो अग्नि और सूर्यके समान होनेके कारण वे पापभागी नहीं होंगे। आपत्कालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरका अन्न खा लें तो पश्चात्तापसे या सौ गायत्री जप करनेसे शुद्ध होंगे। केवल इतना ही नहीं, इस विषयमें वेदमें भी अनेक प्रसङ्ग आते हैं यथा छान्दोग्योपनिषद्के प्रथम अध्यायके दशम खण्डमें—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे, तं होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता इति।

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमिति, उच्छिष्टं वैमे पीतं स्यादिति होवाच।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ।

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच-यद्व वतान्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति।

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय।

इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह है कि कुरुदेशके वज्राग्निदग्ध होनेपर उषस्ति नामक जनैक ब्राह्मण दुर्दशाग्रस्त होकर सस्त्रीक इभ्यग्राममें निवासार्थ जाने लगे। रास्तेमें उन्होंने देखा कि एक सुनिर्मल प्रस्रवण (झरना) की धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक हस्तीपक (हथवान) मसूरकी दाल खा रहा है। कई दिनोंके उपवासी ऋषिने प्राणधारणके लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस नीच जाति हस्तीपकसे ही उसकी उच्छिष्ट दाल भिक्षा मांगी और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया। उच्छिष्ट दाल खानेके बाद उसने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा -"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा." हस्तीपकने थोड़ा हंसकर कहा—"आपने उच्छिष्ट दाल तो खा ली उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायंगे?" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—"मैं अनाहारसे मर रहा था इसलिये आपत्काल-में प्राणरक्षार्थ तुम्हारी उच्छिष्ट दाल भी खायी है, परन्तु जल तो सामने ही झरनेसे आरहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जानेपर फिर आगे भिक्षाके लिये पतिपत्नी चले। परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पतिको मृत्युमुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बंधी हुई पहले दिनकी दाल निकालकर पतिको दे दी। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलकी दाल नहीं खायी थी?" इसपर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया "आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही हमने हस्तीपकका उच्छिष्ट अन्न खा लिया था, मैं कल मृतप्राय नहीं थी, और भी कई दिन बच सकती थी इस-लिये उस उच्छिष्ट अन्नको नहीं खाया था। मैं और एक दिन बिना खाये बच सकती हूं, परन्तु आपका प्राण जारहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट दालको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिग-णित हो सकता है इस विज्ञानकी सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

प्र०—छूआछूतके विषयमें इस समय बहुत प्रकारके मतभेद हैं इस सम्बन्धमें शास्त्रोंके क्या क्या सिद्धान्त हैं ?

उ० देशकालानुसार अनेक कारणोंसे छूआछूत जैसे आचारोंमें तारतम्य हुआ करता है इस सम्बन्धमें शास्त्रोंमें स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है। यथाः—

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥

(बृहस्पति)

अर्थात् तीर्थस्थानमें, विवाहोत्सवकालमें, रेल आदिकी यात्राओंमें, युद्धक्षेत्रमें, राष्ट्रविप्लवमें, नगर या ग्राममें जब आग लगे उस समयमें, छूआछूतका दोष नहीं लगता ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥
प्राकाररोधे विषमप्रदेशे, सेनानिवेशे भवनस्य दाहे ।
आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु, तेष्वेव दोषा न विकल्पनीया ॥

(अत्रिस्मृति)

देवताओंकी शोभायात्रा (सवारी) में, विवाहोत्सवकालमें, यज्ञोत्सवके समय और सब प्रकारके उत्सवोंके समय छूआछूतका दोष नहीं हुआ करता है।

किला घिर जानेपर, देशमें उपद्रव उठनेपर, सेनाओंसे घेर लिये जानेपर, घरमें आग लग जानेके समय, यज्ञके समय और किसी बड़े उत्सवके समय छूआछूतका दोष नहीं लगता ।

इसलिये इस समय आपद्धर्म और राजनैतिक परिस्थितिके विचारसे सनातनधर्मावलम्बिगण नीचवर्ण और आचारभ्रष्ट या अन्त्यज अथवा विधर्मियोंके साथ सभासमितिमें, रेल वगैरहमें, उत्सवकार्योंमें, युद्ध, राष्ट्रविप्लव अथवा ऐसे ही अन्य किसी कार्यमें यदि छूआछूतका पूरा विचार न करें तो वे प्रायश्चित्ती न होंगे। किन्तु यह समय यथार्थमें आपत्काल है या नहीं और राजनैतिक परिस्थितिको देखते हुए बिना ऐसा किये काम चल सकता है या नहीं, इसका खूब विचार करके तब अनुकल्प यो आपद्धर्मका आश्रय लेना चाहिये, नहीं तो अवश्य पातित्यदोष होगा ।

प्र०—जिन जातियोंमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है, एकादशीव्रत वगैरह किया जाता है, देवता और ब्राह्मणोंकी भक्ति और विधिपूर्वक पितृश्राद्ध इत्यादि किया जाता है, सविधि नामकरण और विवाह होता है, जिनके यहां अनेक शताब्दियोंसे सदाचार प्रचलित है, ऐसे जातियोंका जलग्रहण किया जा सकता है कि नहीं ?

उ०—ऐसी सदाचारसम्पन्न जाति और जिनके यहां अनेक शताब्दियोंसे सदाचार विद्यमान है, अवश्य ही उनका जल ग्रहण किया जा सकता है। पंजाब, राजपुताना, उत्तरभारत और विहार आदि प्रान्तोंमें अनेक ऐसी जातियां हैं, जिनके यहां सधवाविवाह, विधवाविवाह दोनों ही साधारणतः प्रचलित हैं, यहांतक कि उनके यहां सर्प और चूहेका अखाद्य मांसभक्षण भी किया जाता है, तथापि वे सब जातियां इन सब देशोंमें सर्वसाधारणमें जलाचरणीय समझी जाती हैं। ऐसी कदाचारसम्पन्न जातियां काशी आदि स्थानोंमें अब जलाचरणीय समझी जा सकती हैं, तो पहली जैसी सदाचारसम्पन्न जातियां अवश्य जलाचरणीय होंगी। ऐसी जाति यदि भारतके किसी स्थानमें हो, तो इस समय वह जलाचरणीय समझी जा सकती है।

प्र०—जलाचरणीय जाति किन जातियोंको कहा जा सकता है ?

उ०—सत्शूद्र मात्र ही जलाचरणीय है। समाजमें जो लोग असत् शूद्र कहे जाते हैं, उनमेंसे अनेक शताब्दियोंसे जिनके यहां सदाचारका पालन होता है, उन लोगोंको भी जलाचरणीय कहा जा सकता है। जिन जातियोंमें पहले लिखे हुए प्रश्नोत्तरोंके अनुसार सदाचार विद्यमान है, सामयिक आपद्धर्मानुसार यदि उन लोगोंको भी जलाचरणीय माना जाय तो धर्मविरुद्ध न होगा।

प्र०—राजपुतानामें चमड़ेके डोलका जल और काश्मीरमें मुसलमानोंका छूआ हुआ जल सदाचारसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मणोंके यहां भी चलता है, क्या यह प्रथा निन्दनीय नहीं है ?

उ०—देश कालके अनुसार आचार विचार भी हुआ करता है, यह स्वभावसिद्ध है। काश्मीर देशमें केवल दो ही जातियां विद्यमान हैं, ब्राह्मण और मुसलमान, तीसरी कोई जाति नहीं है, इसलिये मुसलमानोंको ही वहांपर हिन्दुओंने शूद्र जाति मान ली है। मुसलमानोंका जल वहां व्यवहारमें आनेपर भी मुसलमान लोग वहांपर जलपात्र छू नहीं सकते और खुली जगहमें

जलको वायुसे शुद्ध करके सदाचारसम्पन्न हिन्दू लोग उस जलका व्यवहार करते हैं। (वायुशुद्ध अर्थात् चमड़ेके मशकमें लाया हुआ जल दूसरे ही ताम्बे या मट्टीके बर्तनोंमें डाल दिया जाता है।) वहांके ब्राह्मणोंने जलाचरणके सम्बन्धमें यही मीमांसा की है कि वायुसे जल शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार राजपुतानामें जलशुद्धिके सम्बन्धमें यही रीति प्रचलित है कि स्रोत द्वारा जल शुद्ध हुआ करता है। इस प्रान्तके अनेक स्थानोंमें जहां जलकी कमी है, अस्पृश्य जातिके लोग ऊंटोंकी सहायतासे चमड़ेके डोलसे कूओंमेंसे जल निकालते हैं और एक कुण्डमें जल भरते हैं, उस कुण्डमेंसे बहकर जल दूसरे कुण्डमें जाता है और इस प्रकार प्रवाहित होते ही वह शुद्ध माना जाता है। आपद्धर्मानुसार इन सब सदाचारोंकी सार्थकता मानी जा सकती है। भारतके अन्य स्थानोंमें नलके जलके सम्बन्धमें भी यही नियम माना जा सकता है।

प्र०—अनुन्नत जातिके लोग आक्षेप किया करते हैं कि "सदाचार और कदाचारके द्वारा जाति स्पृश्य अथवा अस्पृश्य होती है। हमारे पूर्वजलोग कदाचार करके पतित हुए थे किन्तु इस समय हिन्दुओंमें उन्नतलोग कदाचार करके भी क्यों पतित नहीं होते? और हम भी सदाचारी होनेपर अस्पृश्य क्यों रहेंगे?"

उ०—उन्नत लोगोंको भी कदाचार करनेसे पतित होना चाहिये किन्तु ऐसे पातित्यको स्थिर करनेके लिये समाजबल और संघशक्तिकी आवश्यकता होती है। जो लोग किसी समय वास्तवमें सदाचारसम्पन्न जातिके अन्तर्गत थे और सदाचारविरुद्ध आचरण करके पतित हो गये हैं, ऐसी जाति सदाचारसम्पन्न होकर अवश्य ही सदाचारसम्पन्न जातिमें परिणत हो सकती है। किन्तु वह जाति किस प्रकारके कदाचारसे पतित हुई थी इस बातकी विवेचना अवश्य करनी होगी। अनार्य जातिके लोगोंके साथ यौन सम्बन्ध हुआ था या नहीं इसकी विवेचना भी करनी चाहिये।

प्र०—दक्षिण देश (मद्रास आदि प्रान्तों) में जिन जातियोंके प्रति ब्राह्मण लोग घृणादृष्टिसे देखते हैं उन जातियोंके प्रति क्या व्यवहार होना उचित है?

उ०—उन लोगोंका आचार देखकर उनसे व्यवहार करना उचित है। दाक्षिणात्यमें ब्राह्मणसे अतिरिक्त कोई जाति जलाचरणीय नहीं है यह भी न्यायसङ्गत नहीं है। उस प्रान्तमें क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थादि जो लोग अपने

अपने सदाचारकी बहुत दिनोंसे रक्षा करते चले आते हैं, उनके साथ उधरके ब्राह्मणोंका इधरके ब्राह्मण जैसा बर्ताव होना चाहिये। सर्वमत्यन्तं गर्हितम्। उस प्रान्तमें जो शूद्रादि जातियां हैं, साधारणतः उनका जल ग्रहण नहीं होना चाहिये, किन्तु उस प्रान्तमें यदि ऐसे शूद्र हों जिनमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है और जो लोग देवता तथा ब्राह्मणमें भक्ति रखते हैं, पितृश्राद्धादि करते हैं और खाद्याखाद्यका विचार रखते हैं, तो ऐसे सदाचारी जातिका जल अवश्य ग्रहण करना उचित है।

प्र०—दक्षिण देशमें कहीं कहीं ऐसी प्रथा प्रचलित है कि, वहांकी शूद्र कन्यायें विवाहिता होनेपर सबसे पहले ब्राह्मणोंकी भोग्या होती हैं यह बात शास्त्र और युक्ति-सङ्गत है कि नहीं ?

उ०—ऐसी कुप्रथायें अत्याचार-मूलक और अशास्त्रीय हैं तथा इनका संशोधन होना अत्यावश्यक है, क्योंकि ऐसी प्रथाओंसे केवल शूद्रोंकी ही हानि नहीं है, बल्कि ब्राह्मण लोग भी इससे पतित होते हैं।

प्र०—आजकल अनेक स्थानोंमें हिन्दू स्त्री और पुरुषोंको जबरदस्ती अथवा धोखा देकर धर्मच्युत किया जाता है, क्या ऐसे लोग फिर हिन्दूसमाजमें लिये जा सकते हैं ?

उ०—शान्तिप्रिय उदार हिन्दु जातियोंपर अनेकवार ऐसे अत्याचार किये जा चुके हैं, इस समय भी हो रहे हैं और भविष्यत्में भी होना सम्भव है। दक्षिण देशमें मोपला नामक मुसलमान जातिने राजद्रोहके समय बहुतसे हिन्दुओंको जबरदस्ती मुसलमान बना डाला था, इस सम्बन्धमें यही आज्ञा दी गई थी कि यथायोग्य प्रायश्चित्त करके ऐसे धर्मच्युत हिन्दुओंको हिन्दु-समाजमें पुनः ले लेना चाहिये। ऐसी आपत्ति उपस्थित होनेपर केवल इसी व्यवस्थाका अवलम्बन करना चाहिये। म्लेच्छोंने यदि जबरदस्ती धर्मच्युत कर दिया हो तो सनातनधर्मावलम्बी लोग निम्नलिखित प्रायश्चित्त करके फिरसे अपने समाजमें ग्रहण करने योग्य हो सकते हैं। ऐसे लोग जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका हो, उनका यज्ञोपवीत संस्कार फिरसे होना विशेष आवश्यक होगा। महर्षि देवलने कहा हैः—

बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः।
अशुभं कारिता कर्म गवादिप्राणहिंसनम्॥

उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम्।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम्॥
तत् स्त्रीणां च तथा संगस्ताभिश्च सह भोजनम्।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम्॥
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत्।
चान्द्रायणं पराकम्वा चरेत् सम्वत्सरोषितः॥
सम्वत्सरोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुद्ध्यति।
उर्ध्वं सम्वत्सरात् कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः॥
सम्वत्सरैश्चतुर्भिश्च तद्भावं स निगच्छति॥

म्लेच्छ, चाण्डाल, डाकू आदि जो दुष्ट जातियां हैं वे यदि बलपूर्वक सनातनधर्मियोंको अपने वशमें रखकर उन लोगोंसे ऐसे अविहित कार्य करावे जैसे गोहत्या, जूठे बर्तन माजना, जूठा खाना, गधा, उट आदिका मांस खाना, उनकी स्त्रियोंसे संग या सहभोजन, ऐसी हालतमें एक मास तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्राजापत्य व्रत करनेसे शुद्ध होंगे। यदि ऐसे ही अत्याचार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंपर हो तो उन्हें चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि ऐसे ही अत्याचार एक वर्ष तक होते रहें तो उस अवस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा अग्निहोत्री सबको ही चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि शूद्र वर्णपर एक वर्ष पर्यन्त ऐसे अत्याचार होते रहें तो वह कृच्छ्रपादके द्वारा शुद्ध हो सकेगा। एक वर्षसे अधिक दिन बीत जानेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णके लोगोंका प्रायश्चित्त हो सकता है, किन्तु चार वर्ष बीत जानेपर प्रायश्चित्त नहीं हो सकता क्योंकि तब वे लोग तद्भाव प्राप्त हो जाते हैं। देवलादि स्मृतियोंमें सामान्य दोषोंके विषयमें कहीं कहीं इससे भी अधिक उदारता पाई जाती है यथा—

गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्चषट्सप्त वा समाः।
दशादिर्विंशतिं यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते॥
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते॥

अर्थात् कोई म्लेच्छ यदि बलपूर्वक किसी आर्यको अपने पास रख दे

और वह म्लेच्छके साथ सामान्य संस्पर्शादि सम्बन्ध करे तो पांच, छ, सात या दश वर्षसे लेकर बीस वर्ष पर्यन्त उसकी शुद्धि हो सकती है। उसको दो प्राजापत्य व्रत करना पड़ेगा।

प्र०—वर्णधर्मकी मूल भित्ति क्या है ? किस विज्ञानके अनुसार हम वर्णधर्मके सम्बन्धमें कर्तव्याकर्तव्य निश्चय कर सकते हैं ?

उ०- वर्णधर्मकी मूल भित्ति रजोवीर्यकी शुद्धि है। ज्ञानके द्वारा अध्यात्मशुद्धि, कर्मके द्वारा अधिदैव शुद्धि और रजोवीर्यके द्वारा अधिभूत शुद्धि हुआ करती है। यद्यपि पूर्व जन्मके कर्मफलानुसार ऊपर कही हुई तीनों प्रकारकी योग्यता मनुष्यको प्राप्त हुआ करती है, तथापि पहले कही हुई दो प्रकारकी योग्यताएं पुरुषार्थसाध्य हैं, किन्तु रजोवीर्यकी शुद्धि साधारण पुरुषार्थसे साध्य नहीं हो सकती। श्रीगीतोपनिषद्में भगवान्ने कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

गुण और कर्म-विभागके अनुसार मैंने चार वर्णोंकी सृष्टि की है। इस भगवत् वाक्यके अनुसार कर्म पुरुषार्थसाध्य हो सकता है, किन्तु त्रिगुणका आधारस्वरूप स्थूल शरीर पुरुषार्थसाध्य नहीं हो सकता है, वह पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार हुआ करता है। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है:—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

जन्मजन्मान्तरमें जैसे संस्कार मनुष्योंके होते हैं उन संस्कारोंके फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोगोत्पत्ति हुआ करती है। अतएव वर्णधर्म सम्बन्धीय कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय भी ऊपर लिखे हुए विज्ञानके अनुसार ही समझना चाहिये।

प्र० खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें हिन्दू शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके बन्धन हैं। वर्तमान आपत्कालमें ऐसी आज्ञाओंका यथानियम पालन होना सम्भव नहीं है, इस विषयमें धर्मशास्त्रोंमें किस प्रकारके प्रमाण मिलते हैं ?

उ०—आपद्धर्मके विचारसे सद्भावके सहारेसे पापकर्म भी कर्तव्य-कर्ममें परिणत हो सकता है, वेदशास्त्रोंमें उसके अनेक प्रमाण हैं। आपद्ग्रस्त महर्षि विश्वामित्रने चाण्डालके घरमें जाकर कुत्तेके मांस खानेकी इच्छा की थी' महाभारतमें ऐसा लिखा हुआ है।

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम अध्यायके प्रथम काण्डमें ऐसा लिखा है, कि एक महर्षिने चाण्डालकी जूठी मसूरकी दाल खायी थी। भगवान् मनुने कहा है:—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥
क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चाण्डालहस्तादादाय धर्म्माधर्म्मविचक्षणः॥

(अ० १०)

यदि प्राण जानेकी आशंकासे कोई व्यक्ति यहां तहां भोजन करे, तो पंकके बीचमें आकाशकी तरह वह कदापि पापलिप्त नहीं होता है। धर्माधर्मके ज्ञाता वामदेवने क्षुधाके वशीभूत होकर कुत्तेके मांस खानेकी इच्छा की थी, परन्तु उससे वे पापके भागी नहीं हुए थे। उसी तरह धर्माधर्मके ज्ञाता महर्षि विश्वामित्र क्षुधासे पीड़ित होकर चाण्डालके घरमें कुत्तेके जंघास्थलके मांस खानेके लिये प्रस्तुत हुए थे।

परन्तु जहां उत्तम कल्प अथवा अनुकल्पकी सहायतासे धर्माचरणकी सम्भावना हो, वहांपर आपत्कालकी कल्पना नहीं करनी चाहिये।

प्र०—समुद्रयात्रा निषिद्ध है अथवा नहीं?

उ०—स्मृतिके टीकाकारोंने शास्त्रोक्त समुद्रयात्रा शब्दका अनेक अर्थ किया है। टीकाकार "काशीराम" ने बृहन्नारदीय पुराणान्तर्गत कलिवर्ज्य-प्रकरणमें जो समुद्रयात्रा शब्द आया है उसका "प्राणत्यागार्थं समुद्रजलप्रवेश" ऐसा अर्थ किया है। किन्तु "आदित्यपुराण" में "अब्धौ नौयातुः" इत्यादि जो प्रकरण है उसका अर्थ बहुत लोगोंने जलयानसे समुद्रयात्रा वा विदेशयात्रा ऐसा ही ग्रहण किया है और मिताक्षरामें उसके लिये प्रायश्चित्तका विधान भी देखा जाता है। जो कुछ हो विधिनिषेधके विषयमें जो लोग केवल जलयान द्वारा समुद्रमें जानेसे ही पाप हुआ ऐसी कल्पना करते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि मनुसंहितामें ही ऐसा प्रमाण है कि:—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

प्राचीन समयमें जो क्षत्रिय राजागण दिग्विजयार्थ समुद्रयात्रा द्वारा अन्य देशोंमें गये थे उनकी अनेक क्षत्रिय सेना विदेशमें ही रह गई थी। जबतक भारतके ब्राह्मण लोग उन देशोंमें जाकर उन क्षत्रियोंका उपनयनादि संस्कार करते थे तबतक वे लोग आर्यभावापन्न रहे। इसके बाद जब ब्राह्मणोंने विदेश जाना छोड़ दिया तब वे क्षत्रिय लोग संस्कारहीन होकर अनार्यत्वको प्राप्त हो गये। वेदमें भी "भुज्यु" राजाके दिग्विजयार्थ समुद्रयात्राका प्रकरण देखा जाता है। अतएव इस देशके लोग प्राचीन समयमें समुद्रयात्रा करते थे, यह निश्चित है। किन्तु उस समय आर्यगणमें धर्मभावकी गम्भीरता रहनेके कारण विधर्मियोंके देशमें जानेपर भी वे लोग आचारभ्रष्ट, अथवा धर्मच्युत नहीं होते थे। अधिकन्तु वे लोग विधर्मियोंके हृदयमें भी आर्य्य-धर्मका प्रभावविस्तार करते थे। इस समय कालप्रभावसे यहांपर धर्मभावके ह्रास होनेके कारण विधिनिषेधका उदय हुआ है। अतः यदि सदाचार और वर्णाश्रमकी मर्यादा रखकर स्वदेशोन्नतिके उद्देश्यसे शिक्षालाभके निमित्त कोई व्यक्ति समुद्रमार्गसे विदेश यात्रा करे, तो वह यात्रा निन्दनीय न होगी। इतना अवश्य है कि उन देशोंमें स्पर्शास्पर्शदोष अनिवार्य्य होनेके कारण जब यात्रिगण विदेशोंसे लौटें, तो आत्मशुद्धि और हिन्दूसमाजकी मर्यादा तथा गौरवरक्षार्थ उन्हें कुछ प्रायश्चित्त अवश्य करना होगा और वह प्रायश्चित उनके संस्पर्श तथा संसर्गादि दोषोंके तारतम्यानुसार निर्णीत होगा। किन्तु जो ब्राह्मणगण आदर्श ब्राह्मणके जीवनको व्यतीत करते हैं उनके लिये अनार्य्य देशमें जाकर प्रायश्चित्ती होना उचित नहीं है।

प्र०—बंग देशमें नाई अर्थात् हज्जाम लोग मुसलमानोंका क्षौर बनाते हैं, किन्तु "नमः शूद्रों" का नहीं बनाते, क्या यह चाल धर्मसंगत है?

उ०—कदापि नहीं। यह अत्याचारमूलक कुप्रथा है। ऐसी चाल भारतके अनेक प्रान्तोंमें है। दक्षिण भारतमें ऐसी चाल है कि मुसलमान या ईसाइयोंको ब्राह्मणोंके ग्रामोंके रास्तेपर चलनेकी आज्ञा दी जाती है और शूद्रोंको उस राहसे चलनेकी आज्ञा नहीं दी जाती। इन सब कुप्रथाओंका समाजके नेतागण द्वारा दूर कराना अवश्य कर्तव्य है। हमलोग विधर्मियोंसे

स्पर्शादिके सम्बन्धमें जैसा आचार रखते हैं, अनुन्नत जातियोंके साथ उससे कम रखना किसी प्रकारसे उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा करना प्रकारान्तरसे अनुन्नत जातियोंको विधर्मी बननेके लिये प्रोत्साहित करना है जो कि हिन्दु समाजके लिये अवश्य ही हानिजनक है। अवश्य पदमर्यादाकी ओर दृष्टि रखना भी युक्तियुक्त है इसमें सन्देह नहीं।

प्र०—विधवाविवाह होना उचित है या नहीं ?

उ०—श्रीभगवान् मनुने "न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः" इस वचनके द्वारा यही कहा है कि, विवाहविधिमें विधवाविवाहका कोई प्रकरण ही नहीं है, इसलिये विधवाविवाह नहीं हो सकता।

आत्मलक्ष्यपरायण आर्यजातिमें स्त्रियोंका पातिव्रत्यधर्म एक अनोखी वस्तु है। आर्यनारी देवी गौरीके सदृश जन्मजन्मान्तरमें एक ही पतिकी आराधना करके अन्तमें पतिदेवतामें ही तन्मय होकर मुक्तिकी अधिकारिणी होती है। इस कारण उनके हृदयमें स्वप्नमें भी अन्य पुरुषकी भावना नहीं होती। इसी आदर्शके अनुसार द्विजगण तथा सत्शूद्रतकमें द्वितीय पति-ग्रहणका तीव्र निषेध आर्यशास्त्रोंमें पाया जाता है. केवल उच्च-लक्ष्यहीन असत्शूद्र जातियोंमें ही विधवाविवाह प्रचलित है। किन्तु यदि वर्तमान करालकालकी कुटिल गतिके कारण किसी भाग्यहीनाके चरित्रमें कलङ्क देखनेमें आवे और सावधान न होनेसे ऐसी आशङ्का हो कि अनेक पुरुषोंसे कलंकित सम्बन्ध हो जायगा, तो ऐसी स्त्रीको दूसरे पुरुषसे सम्बन्ध कराके जातिसे बाहर कर देना आपत्कालीन कर्तव्य कहा जा सकता है और मनु भगवान्के कहे हुए पौनर्भव जातिके सदृश कालान्तरमें इस प्रकारकी एक स्वतन्त्र जाति बन सकती है।

प्र०—वर्त्तमान अछूतोद्धार या अन्त्यजोद्धार कार्यमें शास्त्रमर्यादाको अटूट रखते हुए हमें कहांतक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।

उ०—कोई जाति चाहे कितनी ही हीन क्यों न हो समाजके विराट् शरीरका एक अङ्ग अवश्य है। इस कारण उच्च नीच सभी जातियोंके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्त्तव्य है। आजकल देखा जाता है कि अनेक स्थानोंमें उच्चवर्णके हिन्दुओंके अनुदार निष्ठुर बर्तावके कारण अनुन्नत जातिके लोग प्रायः विधर्मियोंके भुलावेमें आ जाते हैं। जिससे दिन बदिन हिन्दुजातिकी संख्या घटकर यह जाति दुर्बल होती जारही है। हिन्दुजातिको इस दुर्बलतासे

अवश्य बचानी चाहिये। भङ्गी, डोम, चमार, धोबी आदि अनुन्नत जातियोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन करना, उनके हाथका खाना या जल ग्रहण करना, उन्हें जनेऊ देना, वेद पढ़ाना आदि कार्य अवश्य ही निन्दनीय तथा अशास्त्रीय है। किन्तु अन्य धर्मके लोगोंके प्रति हम जितनी उदारता दिखाते हैं उससे कम उदारता इन जातियोंके प्रति हमें कदापि नहीं दिखानी चाहिये। इनके लिये देवदर्शन, विद्यालयमें साधारण शिक्षा प्राप्ति, कुएसे जल ग्रहण आदिकी सुविधा शास्त्रमर्यादा रखते हुए हमें अवश्य कर देनी चाहिये। इनके भीतर रामायण, महाभारत, पुराणोंकी कथा प्रचार, व्याख्यानादि द्वारा सनातनधर्मकी जागृति अवश्य करते रहनी चाहिये। प्रयोजन होनेपर पृथक् विद्यालयादि खोलकर इनके लिये हिन्दी आदि भाषा शिक्षा, इनके अधिकारानुसार धर्मशिक्षा, सदाचार शिक्षा, नैतिकशिक्षा, जातीयशिक्षा और राजनैतिक शिक्षाका प्रबन्ध अवश्य करा देना चाहिये, जिससे राम, कृष्णादिकी महिमा, सनातनधर्मकी महिमा और भगवान्‌के प्रति भक्ति इनके भीतर बढ़ जाय और अपने चरित्र, सदाचार आदिकी सुरक्षा कर विधर्मियोंके प्रलोभनसे ये जातियां बच सकें। यदि सनातनधर्मकी सकल श्रेणिको सभा समितियां तथा उच्च वर्णके सनातनधर्मिगण इस आवश्यक कर्त्तव्यकी ओर उदारताके साथ अग्रसर होंगे तो इस जातीय दुर्दशाके दिनमें हिन्दुजातिको विशेष लाभ पहुंचा सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्र०—क्या शुद्धि आन्दोलन शास्त्रानुकूल है?

उ०—अशुद्धको पवित्र बनानेके लिये पुरुषार्थ करना अवश्य ही शास्त्र तथा लौकिक प्रथाके भी अनुकूल है। मलिन वस्त्रको लोग शुद्ध करते ही हैं। किन्तु मलिनताके तारतम्यानुसार शुद्धिमें भी कई भेद होते हैं। सामान्य धूलि आदिसे वस्त्र मलिन हो तो झाड़कर ही उसे शुद्ध किया जाता है। कीचड़ आदिके लग जाने पर जलसे धोकर शुद्ध किया जाता है, अधिक मलिनता, दाग आदि आजाने पर धोबीके घर भेजकर उसे धुलाके शुद्ध किया जाता है। कहीं कहीं ऐसी भी मलिनता आ जाती है कि इन लौकिक उपायोंसे वस्त्र शुद्ध होता ही नहीं। उस समय वस्त्रको फेंक ही देना होता है। अथवा ऐसा भी यदि मौका हो कि सूतके वस्त्रको रेशमी वस्त्र बनाना पड़े तो इसके लिये जबतक वस्त्रका उपादान 'सूत्र' पूरा न बदला जाय तबतक वस्त्रकी शुद्धि नहीं हो सकती है। इसी दृष्टान्तपर शुद्धिविज्ञानको

समझ सकते हैं। और इसी कारण मन्वादि स्मृति शास्त्रमें शुद्धिके अर्थ तरह तरहके प्रायश्चित्त बताये गये हैं। महापातक, संसर्गज पातक, उपपातक आदि सभीके पृथक् पृथक् प्रायश्चित्त होते हैं और कहीं कहीं पर मरणान्त प्रायश्चित्त भी बताये गये हैं। बलसे, छलसे, प्रलोभनसे यदि विधर्मिगण किसी हिन्दुको अपने धर्ममें फंसा लिये हों तो संसर्गके न्यूनाधिक्यके अनुसार बीस वर्षतक ऐसे हिन्दु उचित प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके अपने धर्ममें लिये जा सकते हैं, इसका देवलादि स्मृतिका प्रमाण पहिले हा दिया जा चुका है। इसी प्रकार कोई विधर्मी भी यदि आर्य्यधर्मकी उत्तमताको अनुभवकर 'हिन्दु' बनना चाहे तो वह हिन्दु बन सकता है, किन्तु आर्यजातिके साथ एकाएक उनका 'रोटी बेटी' का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी धर्मपूत जातिका एक पृथक् 'पन्थ' बन सकता है, जिसको हम हिन्दु अवश्य कहेंगे और उनके लिये एक पञ्चम वर्णका विधान हो सकेगा। यदि वर्त्तमान अनेक पंथोंमेंसे कोई एक पन्थ इस कार्य्यको हाथमें ले ले तो इस आपत्कालमें बड़ा ही लाभ होगा।

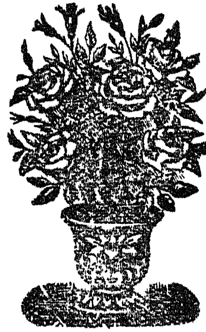
प्र०—इन विषयोंके सिवाय हिन्दुसमाज तथा हिन्दुजातिकी उन्नतिके लिये और किन किन सुधारोंकी आवश्यकता है?

उ०—हिन्दू समाजमें विवाहादिके सम्बन्धमें जो बड़ी बड़ी कुरीतियां प्रचलित हैं उनकी ओर हिन्दुनेताओंको सबसे पहले ध्यान देना उचित है। आर्य जातिकी पवित्रता भ्रष्ट करनेवाली तथा उसको बड़ा भारी धक्का देनेवाली कुरीतियोंमेंसे सबसे बड़ी कुरीति वरसे कन्याकी आयुका अधिक होना है। अनेक स्थानोंमें देखनेमें आता है कि कुलमर्यादा तथा अर्थकामके विचारसे कन्याकी आयु वरसे अधिक होने पर भी माता पिता ऐसे विवाहके करनेमें पाप नहीं समझते हैं। दर्शनशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र दोनोंका ही यह सिद्धान्त है कि इस प्रकारका विवाह केवल पापजनक ही नहीं है किन्तु आर्य्यजातिको नष्ट भ्रष्ट और लोप करनेवाली है। इस कारण सबसे प्रथम सनातनधर्म नेताओंको इस कुरीतिको एक दम रोक देनेका प्रयत्न करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें ऋषिगोत्रके भूल जानेसे लौकिक गोत्रके प्रचार होनेसे प्रमादसे अथवा अर्थकामके लोभसे स्वगोत्रमें विवाह करना भी पापजनक नहीं समझा जाता। दर्शन-शास्त्रद्वारा यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित है कि सगोत्र विवाह द्वारा जाति और वंश अवश्य ही नष्ट हो जाता है। स्मृतिशास्त्र हाथ उठाकर कहता है

कि सगोत्रा कन्या माताके तुल्य है। अतः आर्यजातिके नेतृवर्गको जहां तक होसके आर्ष गोत्रोंके प्रचार कराने तथा सगोत्र विवाहके बन्द करनेके विषयमें सदा प्रयत्न करना उचित है। कन्या विक्रयका पाप गोहत्याके तुल्य स्मृति-शास्त्रमें समझा गया है। अतः कन्याविक्रयीको सनातनधर्मी समाज पतित समझे ऐसा प्रयत्न सदा होना उचित है। और ऊपर लिखित सब पापोंके लिये गुरुतर समाजदण्डविधान होना उचित है। कालप्रभावसे आर्य जातिकी अर्थदृष्टि इतनी बढ़ गई है कि ब्राह्मणक्षत्रियादि उच्च वर्णोंमें तिलक और पण आदिके नामसे वरपक्षवाले कन्या पक्षसे इतना धन बलपूर्वक वसूल करते हैं कि जिससे हिन्दुसमाजकी बड़ी भारी क्षति और निन्दा देखनेमें आ रही है। वस्तुतः यह प्रथा भी अशास्त्रीय, अकीर्तिकर और घृणित है। इस प्रथाके द्वारा दिनदिन सद्गृहस्थगण दरिद्र और नीच बनते जाते हैं, तथा विवाहके पवित्र लक्ष्यको एक बार ही भूलते जाते हैं और कुटुम्बोंमें आत्मीयता नाश और अशान्ति कलहकी वृद्धि होती जाती है। अतः सब वर्णके नेतृवर्गको दृढ़व्रत होकर इस सामाजिक कुप्रथाके दूर करनेमें पुरुषार्थ करने चाहिये और साथ ही साथ अपने इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले स्वधर्मनिरत स्वदेशहितैषी युवकोंको विवाह करते समय स्वयं इस प्रथाको सामने न आने देना चाहिये। धार्मिकयुवकगण यदि चाहें तो स्वतः ही प्रतिज्ञाबद्ध होकर इस कुप्रथाको अति सुगमरीतिसे दूर कर सकते हैं। एक अच्छी प्रथा जो इस समय कुप्रथामें परिणत हुई है उसका उल्लेख इस स्थानपर अवश्य ही करना उचित है। ब्राह्मण जातिमें एक कौलिन्य प्रथा प्रचलित है जैसा कि बङ्गाल तथा उत्तर पश्चिम देशके कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा मैथिल ब्राह्मणोंमें अब भी प्रबल रूपसे देखनेमें आती है। प्राचीन कालमें कौलिन्य मर्यादा तप, विद्या, विनय और सदाचार आदि गुणावलीके अवलम्बनसे चलाई गई थी। अब उन गुणावलियोंके ऊपर विचार न करके केवल लकीर पीटी जाती है। जिससे अब भी समाजमें अनेक अनर्थ होते हैं। अतः शास्त्र, युक्ति और न्याय पर ध्यान देकर इस प्रथाको उठा देना उचित होगा और जिससे गुणकी पूजा समाजमें अधिक बढ़ जाय उसके लिये प्रयत्न करना उचित होगा। उत्तर भारत और राजपुतानेमें विवाहके समय अति घृणित गाली बकना आदि जो घृणित कुरीतियां प्रचलित हैं इस प्रकारकी कुरीतियोंको बलपूर्व्वक दृढ़ शासनके साथ बन्द करना उचित है। इस विषयको सब श्रेणिके लोग

ही स्वीकार करेंगे। वक्तव्य यह है कि सबसे प्रथम सामाजिक कुरीतियोंको दूर करके तब अन्यान्य गुरुतर विषयोंमें ध्यान देना उचित होगा। कुरीतियोंके दूर करनेसे समाजमें आत्मबलकी प्राप्ति होगी और तब अन्यान्य गुरुतर समाज संस्कार सम्बन्धीय विषयोंमें सफलता हो सकेगी।

इति श्रीधर्मसुधाकरे पञ्चमकिरणम्।



षष्ठ किरण ।

नित्यकर्म्म ।

धर्म तथा समाज सम्बन्धीय अनेक विषयोंपर विचार करके अब नित्यकर्मके विषयमें दिग्दर्शन कराया जाता है। नित्यकर्मके लक्षणके विषयमें आर्य्यशास्त्रमें कहा गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे विशेष कोई फलप्राप्ति नहीं होती है किन्तु "अकरणात् प्रत्यवायः" अर्थात् न करनेसे पाप होता है उन्हींको नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्म जीवके नित्यकृत पापनाश तथा जीवको प्रारब्धानुसार प्राप्त पदवीपर प्रतिष्ठित रखनेके लिये किया जाता है। इसलिये नित्यकर्मका अनुष्ठान यदि मनुष्य नहीं करेगा तो नित्यकृत पाप बढ़ता बढ़ता मनुष्यको अवश्य ही अपनी पदवीसे च्युत तथा दुर्दशाग्रस्त करावेगा इसमें सन्देह नहीं। नित्यकर्मके साथ पापनिवृत्ति आदिका अधिक सम्बन्ध रहनेसे तथा पुण्यार्जनका साक्षात् सम्बन्ध न रहनेसे नित्यकर्मका ऊपर कथित लक्षण किया गया है; किन्तु इससे यह न समझा जाय कि नित्यकर्म एकवार ही निष्फल जाता है। व्यापक ब्रह्मसत्ताके साथ प्रत्येक जीवसत्ताका स्वाभाविक आकर्षण सम्बन्ध है। केवल मायाके विरुद्ध आकर्षण शक्तिके प्रभावसे जीवहृदयमें श्रीभगवान्‌की आकर्षण शक्ति प्रगट नहीं होने पाती। जिस समय जीव अधोगतिकारी कमप्रवाहसे अपनेको बचाकर भगवद्राज्यकी ओर अपनी चित्तवृत्तिको उन्मुख कर रक्खेगा उसी समय वही नित्य आकर्षण शक्ति कार्य्यकारिणी होकर अनायास ही जीवको अपनी ओर खींचा करेगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। नित्यकर्मके द्वारा नित्यकृत पापोंके नाश होनेसे जीवहृदय आत्माकी ओर स्वतः ही उन्मुक्त रहता है तदनन्तर अनन्तशक्तिमान् श्रीभगवान् अपनी स्नेहमयी करुणामयी परमा शक्तिके द्वारा उस उन्मुक्तहृदय जीवको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षण करते हैं और इसी तरहसे नित्यकर्म्मके द्वारा साक्षात् रूपसे कोई फलप्राप्ति न होनेपर भी परोक्षरूपसे जीवकी आध्यात्मिक उन्नति अवश्य ही होती है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है कि जीव अपने कर्त्तव्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा ही उत्तम गतिको लाभ करते हैं, यथा—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिस भगवत्शक्तिके प्रभावसे जीवोंमें कर्मप्रवृत्ति उत्पन्न होती है और जिसके द्वारा समस्त संसार व्याप्त है, अपने कर्त्तव्यपालन द्वारा उसकी पूजा करके जीव सिद्धिलाभ करता है। नित्यकर्ममें उसी कर्त्तव्यपालनकी आज्ञा पूज्यपाद महर्षियोंने दी है, अतः नित्यकर्ममें पापनाश तथा आत्मोन्नति साधन दोनोंके ही लक्षण विद्यमान हैं। अब नीचे द्विजोंके नित्यकर्म सन्ध्या तथा पञ्चमहायज्ञका रहस्य वर्णन करके ऊपर कथित लक्षणोंकी चरितार्थता की जाती है।

आर्यशास्त्रमें सन्ध्योपासनाकी विशेष महिमा वर्णित की गई है। वेदमें लिखा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये।

सन्ध्या।

मनुसंहितामें लिखा है—"ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्" दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करके महर्षियोंने दीर्घायु लाभ किया था और भी—"सन्ध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्" सन्ध्योपासनाके द्वारा ब्रह्मकी उपासना होती है, इसका फल क्या होता है इस विषयमें यमस्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संयतव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

जो लोग संयमके साथ सन्ध्योपासना करते हैं वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं। इन सब शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सन्ध्यावन्दनकी अतीव उपकारिता बताई गई है। अब ऊपर लिखित सुफलकी प्राप्तिके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने संध्याके अन्तर्गत कितने प्रकारके अनुष्ठान किस किस लक्ष्यके साधनार्थ निर्देश किये हैं सो नीचे क्रमशः बताये जाते हैं।

प्रातः सन्ध्यारूपी नित्यकर्मके उद्देश्यके विषयमें पुराणोंमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये ।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे ॥

कमलनयन श्रीभगवान् विष्णुको प्रणाम करके सञ्चित पापकी निवृत्ति

तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये हम प्रातः सन्ध्याकी उपासना करते हैं। इस श्लोकके द्वारा नित्यकर्मरूपी सन्ध्योपासनाके दो उद्देश्य वर्णित किये गये, एक नित्यकृत पापनाश और दूसरा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति। सन्ध्याके अन्तर्गत जितने अनुष्ठान हैं उनके द्वारा ये दो उद्देश्य अवश्य ही सिद्ध होते हैं। प्रातः सन्ध्या, मध्याह्न सन्ध्या और सायं सन्ध्या इन तीनों सन्ध्याओंके मन्त्र प्रायः एकसे ही होते हैं और इनके अनुष्ठान भी कुछ विशेष विभिन्न प्रकारके नहीं होते हैं। इसके सिवाय ऋक्, यजुः, साम इन वेदत्रयोक्त सन्ध्यावन्दन-विधि भी ठीक एकरूप न होनेपर भी मूलतः एक ही रूप है। यजुर्वेद और सामवेदकी सन्ध्यामें बहुत ही थोड़ा भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यासे उक्त दोनों सन्ध्याओंमें कुछ अधिक भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यामें ऋचाओंकी संख्या अधिक है और सामवेद तथा यजुर्वेदकी सन्ध्याओंमें, विशेषतः सामवेदकी सन्ध्यामें उन्हीं स्थानोंपर 'नमोऽस्तु' मन्त्र पढ़ दिया जाता है। अतः त्रैकालिक सन्ध्या तथा त्रिवेदीय सन्ध्या सभीके यथाविधि अनुष्ठान द्वारा सन्ध्याके दो उद्देश्य—उपात्त पापनिवृत्ति और ब्रह्मतेजलाभ अवश्य ही सिद्ध होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब नीचे सन्ध्याके अन्तर्गत क्रियाओंका संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें 'ओं शन्न आपो' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते करते कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अंगुष्ठ द्वारा मस्तक, भूमि और ऊपरकी ओर जलसिञ्चनकी विधि है। यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है जिससे बहिः शुद्धि तथा अन्तः शुद्धि दोनों ही होती है। शुद्धिके विना उपासना नहीं होती है, इसलिये सन्ध्योपासनाका प्रथम अङ्ग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परमपावन ब्रह्मविभूतिस्वरूप जलके समीप बाह्यमल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्य्यमें जल ही प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है, इसलिये जलमें जिस प्रकार शारीरिक मल दूर करनेकी शक्ति है ऐसी ही स्नेहमयी जननीकी तरह शरीरपोषण करनेकी शक्ति तथा परमकल्याणमय सब रसोंके मूलरूप ब्रह्ममें संयुक्त कर देनेकी शक्ति है। इसी लिये मार्जनमें जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना है जिससे सन्ध्योपासकको अवश्य ही अन्तर्बहिः शुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो मार्जनका उद्देश्य आलस्य दूर करना लिखा

है यह उनकी भूल है क्योंकि प्रातःकाल, सन्ध्याकाल आलस्यका समय नहीं होता है।

२—सन्ध्योपासनाकी द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें पूरक द्वारा वायु आकर्षण, कुम्भक द्वारा वायुधारण और रेचक द्वारा वायु-रेचन किया जाता है। इन प्रक्रियाओंके क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमें पालनकर्त्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमें संहारकर्त्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है। और साथ ही साथ ऐसी भी धारणा की जाती है कि मैं सूर्य्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूं जो संसारदुःखनाशक तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक हैं। समस्त विश्व उन्हीके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे प्राणायामक्रिया द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा पापनाश होता है। इसीलिये मनु-संहितामें लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते ॥

जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है उसी प्रकार प्राणायामके द्वारा हृदयस्थित पापका नाश होता है।

३—सन्ध्योपासनाकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमें हाथमें जल लेकर उसके कुछ अंशको कण्ठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको मस्तकपर छिड़क देना होता है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासनाके समयसे लेकर वर्त्तमान सन्ध्योपासनाके समयपर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है। इसमें प्रातःकाल बाह्यजगत्के सूर्य्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अतिघनिष्ट सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। इस प्रकार आचमन क्रियासे अहोरात्रकृत पापोंको दग्ध करके सूर्य्यास्तमें जीवात्माकी शुद्धि सम्पादन द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो आचमनमें जल लेनेका उद्देश्य कफ पित्तकी निवृत्ति करना बताया है यह उनका मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि जलसे कफ बढ़ता है घटता नहीं और सायं प्रातःकालमें

पित्त वृद्धि नहीं होती है। मध्याह्नमें पित्तवृद्धि और सायंकालमें वायुवृद्धि होती है।

सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्ज्जन है। यह क्रिया पूर्वकथित मार्जनक्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि स्मरणपूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५ - सन्ध्योपासनाकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। अघमर्षण शब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिका रन्ध्रके निकट एक गण्डूष जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते करते ऐसी चिन्ता करनी होती है कि देहस्थित पापराशि कृष्णवर्ण पापपुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसीलिये यह जल कृष्ण होगया है। इस प्रकार चिन्ता करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वामपार्श्वमें बलपूर्वक फेंक देना चाहिये और चिन्ता करनी चाहिये कि वह पापपुरुष विनष्ट होगया। यही अघमर्षण क्रिया है।

६—सन्ध्योपासनाकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इसमें परमात्माके साक्षात् विभूतिरूप सूर्यदेवके उपस्थान द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका उन्मेष होता है। सन्ध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएं हैं उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीवजगत्में आनन्दोच्छ्वासका अपूर्व प्रकाशक है। यथा—"विश्वप्रकाशके लिये रश्मिगण सूर्यको वहन किये लिये आती हैं। सूर्यदेव अन्तरीक्ष और पृथिवीके नेत्रस्वरूप तथा चराचर जगत्के आत्मास्वरूप हैं। सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है उससे जान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है। इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रतालाभ होता है। इसके उपरान्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्याह्नकाल सावित्री और सायंकाल सरस्वती नामसे एक ही महादेवीके त्रिविध रूपोंका जो ध्यान बताया गया है उससे भी ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। इस प्रकारसे पूर्व पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान क्रियाके द्वारा ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा ज्ञानका विकाश होता है।

७—सन्ध्याकी सप्तम क्रियामें गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवता भी तीन हैं, यथा—ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक् पृथक् रूप तथा भावके

अनुसार ध्यान भी पृथक् पृथक् हैं। उनको अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी, सनातनी वेदमातृरूपसे आवाहन करके उनकी उपासना तथा उनसे शक्ति मांगी जाती है जिससे सन्ध्योपासकको शक्तिलाभ, ब्रह्मतेजलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यही सन्ध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है।

८—सन्ध्याकी अष्टम क्रियामें आत्मरक्षा, नवम क्रियामें रुद्रोपस्थान और दशम क्रियामें सूर्यार्घ्यका विधान किया गया है। आत्मरक्षा द्वारा आत्माकी उन्नत स्थितिका लाभ, रुद्रोपस्थान द्वारा तेजोलाभ और सूर्यार्घ्य द्वारा सूर्य देवताका अन्तिम अभिनन्दन होता है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनारूपी नित्यकर्मके त्रिकालानुष्ठान द्वारा नित्यकृत पापनाश तथा ब्रह्मतेजका क्रमविकाश होता है। यही सन्ध्योपासनाका शास्त्रनिर्णीत संक्षिप्त रहस्य है।

नित्यकर्मके लक्षण वर्णन प्रसङ्गमें यह बात पहले ही कही गई है कि नित्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा जीव नित्यकृत पापसे बचकर अपनी प्राक्तनानुकूल उन्नत स्थितिमें दृढ़ रह सकता है और नित्यकर्मरूपसे अनुष्ठेय उपासनादिके द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध बांधकर स्वतः ही आध्यात्मिक उन्नति तथा पूर्णताके पथपर चल सकता है। इसलिये नित्यकर्मके द्वारा यद्यपि किसी प्रकारके संकल्पित फलकी प्राप्ति नहीं होती है तथापि स्वाभाविक रूपसे आध्यात्मिक उन्नति लाभ अवश्य ही होता है। जीवसत्ता सदा ही परिच्छिन्न तथा अनुदार है इस कारण यदि जीव व्यापक सत्ताके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन नहीं करेगा तो कदापि अपनी परिच्छिन्नता और अनुदारताको काटकर ब्रह्मभावका लाभ नहीं कर सकेगा। इसलिये पूज्यपाद महर्षियोंने सन्ध्या तथा पञ्च महायज्ञरूपी नित्यकर्मके द्वारा प्रत्येक गृहस्थके लिये व्यापक सत्ताके साथ सम्बन्धस्थापन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति करनेकी विधि बताई है। सन्ध्याविधिके अन्तर्गत जो क्रियाएं हैं उनपर मनन करनेसे स्पष्ट ही विदित होता है कि उन क्रियाओंके द्वारा द्विजगण प्रकारान्तरसे व्यापक ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं। जलाधिष्ठात्री देवता, सूर्यात्मा, ब्रह्मशक्तिरूपिणी गायत्री आदिकी उपासना ब्रह्मोपासनाका ही रूपान्तरमात्र है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनाके द्वारा कारण ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन होता है। सन्ध्या तीनही हैं दो नहीं जैसा कि अर्वाचीन लोग कहते हैं। बलिक तन्त्रशास्त्रमें तो महानिशा सन्ध्या नामक चौथी सन्ध्या भी लिखी है। तैत्तिरीयारण्यकमें अनु० २३ में 'ओं आपः पुनन्तु पृथिवीम्' इत्यादि मध्याह्न सन्ध्याका आचमन भी लिखा गया है।

महाभारत वनपर्व अ० २६३ श्लो० २८ में 'ते चावतीर्णा सलिले कृतवन्तोऽघमर्षणम्' ऐसा कहकर महर्षि दुर्वासाकी मध्याह्न सन्ध्या लिखी है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—'संध्यात्रयं तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा' इत्यादि तीन सन्ध्याके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

पञ्चमहायज्ञ ।

जिस प्रकार सन्ध्योपासनाके द्वारा कारणब्रह्मके साथ तादात्म्य संबन्ध स्थापन होता है उसी प्रकार पञ्चमहायज्ञके द्वारा कार्यब्रह्मके समस्त अङ्गोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कार्यब्रह्मके सकल अङ्गोंके अनुसन्धान करनेसे यही देखा जाता है कि कारणब्रह्मकी आध्यात्मिक विभूतिका विकाश ऋषियोंके द्वारा, आधिदैविक विभूतिका विकाश देवताओंके द्वारा, आधिभौतिक विभूतिका विकाश पितरोंके द्वारा, विशेष कलाका विकाश मनुष्योंके द्वारा और साधारण कलाका विकाश जड़ जीवोंके द्वारा होता है। अतः कार्य्यब्रह्मके साथ तादात्म्य भाव स्थापनके लिये इन पांचोंकी नित्यसेवा सर्वथा कर्तव्य है। इसलिये पञ्चमहायज्ञमें इन पांचोंकी सेवाका रहस्य तथा प्रकार बताया गया है, सो कैसा है यज्ञ तथा पञ्चमहायज्ञके रहस्य वर्णन द्वारा नीचे क्रमशः बताया जाता है।

कार्य्य और कारणरूपसे धर्म्मशक्ति और यज्ञ दोनों एक ही पदार्थ हैं, इसलिये शास्त्रमें आत्माके उन्नतिकारी सकल प्रकारके पुरुषार्थको ही यज्ञ कहा है। वास्तवमें धर्म्म और यज्ञ ये दोनों एक दूसरेके पर्य्यायवाचक शब्द हैं। केवल विज्ञानके स्पष्ट करनेके लिये धर्म्मशब्दको साधारणरूपसे और यज्ञशब्दको विशेषरूपसे व्यवहृत किया गया है। यज्ञविज्ञानके साथ सृष्टिका कितना सम्बन्ध है सो स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है, यथा:—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्ज्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्व्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(३ अ०)

भूतसमूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, सुवृष्टिद्वारा अन्नकी उत्पत्ति हुआ करती है, यज्ञके द्वारा वृष्टि होती है, यज्ञ कर्म्मसे होता है, कर्म्म प्रकृतिसे होता है और प्रकृतिका अस्तित्व ब्रह्मसत्ताके द्वारा है इसलिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म

सदा यज्ञरूपी धर्म्म-कार्य्यमें प्रतिष्ठित हैं। यही यज्ञके साथ ईश्वरका अलौकिक विज्ञानयुक्त सम्बन्ध है। इसलिये ही मीमांसा-दर्शनमें यज्ञको साक्षात् ईश्वरका रूप करके वर्णन किया गया है। इसीलिये नारायणोपनिषद्में लिखा है कि:—

यज्ञेन हि देवा दिवं गताः यज्ञेनाऽसुरानपानुदन्तः,
यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्व्वं प्रतिष्ठितम्,
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति।

यज्ञके द्वारा ही देवताओंको स्वर्ग प्राप्ति होती है, यज्ञके द्वारा ही आसुरी शक्तिका दमन होता है, यज्ञके द्वारा शत्रु भी मित्र होते हैं और यज्ञमें ही सकल संसारकी प्रतिष्ठा है, इसलिये यज्ञ अतिश्रेष्ठ वस्तु है।

प्रकृत विषय महायज्ञका है। यज्ञ और महायज्ञ दोनों एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका यह महत्त्व है कि इसमें समष्टि-सम्बन्ध प्रधान रहनेसे इसका फल जगत्कल्याणके साथ आत्माका कल्याण है। इसलिये महायज्ञमें निःस्वार्थता, निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्यजन्मका लक्ष्य है तो जिस कार्य्यके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा उसीका महिमा सर्व्वोपरि होगी इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावके साथ ईश्वरभावका यही भेद है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ हैं, जीव देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण विभु नित्य एवं पूर्ण हैं, जीव अविद्याके अधीन है और ईश्वर मायाके अधीश्वर हैं, जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और ईश्वरभाव परार्थपर एवं निरहङ्कार है, जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता मायाकी छायाके कारण अनित्य सुखरूपमें परिणत है; परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है, उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है। इसलिये जिस अनुष्ठानके द्वारा जीवभावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्,

उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावके साथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है। प्रस्तावित विषय महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है, इसलिये ही महायज्ञ महान् है। यज्ञके द्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुखलाभ होनेपर भी महायज्ञके द्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एवं सब वर्ण और सब आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं, जैसा कि नीचे वर्णन किया जाता है।

श्रीभगवान् मनुजीने कहा है कि: -

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अध्ययन अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलके द्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ, पशु पक्षी आदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है। जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं उनको गृहस्थमें रहनेपर भी पञ्चसूना दोष स्पर्श नहीं करता। देवता, अतिथि, पिता मातादि पोष्यवर्ग, पितृगण और आत्मा इन पांचोंको जो मनुष्य पञ्चमहायज्ञके द्वारा अन्न नहीं देता है उसका जीवन वृथा है। स्वाध्याय और दैव कर्ममें सदा ही युक्त रहना चाहिये, दैवकर्ममें युक्त होनेसे मनुष्य चराचर विश्वको धारण कर सकता है; क्योंकि देवयज्ञमें जो आहुति अग्निमें प्रदान की जाती है सो आदित्यलोकमें पहुंचता है, आदित्यकी तृप्ति होनेसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। ऋषि, देवता, पितृ, भूत और अतिथि सभी गृहस्थोंसे आशा रखते हैं इसलिये उनके प्रति कर्त्तव्योंको ज्ञानवान् पुरुषको अवश्य करना चाहिये।

अब नीचे इन यज्ञों द्वारा अपना तथा विश्वका कल्याण कैसे होता है सो बताया जाता है।

ब्रह्मयज्ञ

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहाता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ सर्वप्रथम है। विश्वजीवनके साथ प्रत्येक मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण एकके कार्य्यका दूसरेके फलके साथ एकत्व सम्बन्ध है। इस कारण स्वयं

अध्ययन करना अथवा शिष्यके कल्याणार्थ अध्ययन कराना, कार्य्यतः समान फलदायी है। वेदके तीनों काण्ड कर्म्म, उपासना और ज्ञानमेंसे साधन-क्रमके अनुसार ज्ञानको प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं।

श्रीभगवान्का अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, इन त्रिविध शक्तियोंके सम्वर्द्धनार्थ और उनकी प्रसन्नताके लिये ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीन भाव यथाक्रम परमात्माके हैं और यही अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत कहाते हैं। कारणमें जो होता है कार्यमें भी वही होता है। इस कारण सृष्टिके समस्त विभागोंका भेद त्रिविध है। इन्हीं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सृष्टिके अधिष्ठातृशक्ति अर्थात् चालक यथाक्रमसे ऋषि, देव और पितृगण हैं। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञान विस्तारके कर्त्ता होनेके कारण सर्व्वदा पूजनीय हैं। ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति-पद-लाभका कारण है। ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण हो सकते हैं? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेके लिये, उनके सम्बर्द्धनके लिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगणके ऋणसे उऋण होनेके लिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। वे सम्वर्द्धित और प्रसन्न होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते हैं, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यही है। इस प्रकारसे ब्रह्मयज्ञ द्वारा अपना कल्याण, जगत्कल्याण तथा ऋषिशक्तिके साथ तादात्म्य स्थापन होता है।

इष्ट उपासनाके अर्थ भगवत्पूजारूपसे परमात्मा और उनकी शक्तियोंके लक्ष्यसे अग्निमें आहुति प्रदान करनेपर देवयज्ञका साधन हुआ करता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ द्वितीयस्थानीय है।

देवयज्ञ।

श्रीभगवान्की अधिदैव शक्तिके सम्बर्द्धनार्थ इस यज्ञका साधन किया जाता है।

जिस प्रकार श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसी प्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव-देविगण हैं। देवता बहुत हैं और वे नित्य नैमित्तिक भेदमें विभक्त हैं। रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादिक नित्यदेवता हैं और ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक हैं। वस्तुतस्तु अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञके द्वारा होती है। देवता प्रसन्न होनेपर यावत् सुख दान करते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जड़भावापन्न

कर्म्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे यावत् सुख और शान्ति प्राप्त होती हैं, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भोगोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, और जो देवतागण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथासमय सुसम्पन्न करके उसकी सुरक्षा करते हैं, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उऋण हो सकता है? कोई नहीं। श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके परिचालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परिचालक देव-देविगणके सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी होते हैं। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय हैं। देवता और उनके अवतारोंकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत्में शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीति पर देवयज्ञके द्वारा समष्टि जगत्में शक्ति और सुखविस्तारका कारण हो सकता है। यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन भाव है।

पूर्व्वकथित तादात्म्य भाव सम्बन्धीय वैज्ञानिक विचारके अनुसार कीट, पक्षी, पशु आदि नाना योनियोंके साथ मनुष्यका आध्यात्मिक तादात्म्य सम्बन्ध है, इसके सिद्ध करनेमें दुबारा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। फलतः विश्वजीवनके साथ यदि एकता सम्पादन करना ही धर्म्मका प्रधान लक्ष्य है तो यह मानना ही पड़ेगा कि इस संसारके जीवमात्रकी सेवा करना मनुष्यका कर्त्तव्य है।

भूतयज्ञ।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञमें तृतीय स्थानीय है; अर्थात् देवयज्ञ साधनके अनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एवं ऐसी आज्ञा है कि देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा पृथिवीपर भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशुपक्षी आदिको अथवा गायको खिला दिया जाय।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म और वृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकल प्रकारके प्राणियोंके साथ जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उनके सम्वर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है। सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, उसके एक अङ्गकी सहायतासे सब अङ्गोंकी सहायता मानी जा सकती है, इस विचारसे भूतयज्ञ परम धर्म्म है। दूसरा विचार यह है कि मनुष्य अपने सुखके लिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है, यहां तक कि अपनी शरीरयात्राके निर्व्वाहके लिये एक मुहूर्त्त भी भूतोंका ऋणी हुए भी विना नहीं रह सकता।

मनुष्योंके प्रत्येक निःश्वासमें कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते हैं। मनुष्यकी तृष्णाकी शान्तिके लिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिषभोजी भी हो तौ भी उसके खाद्य पदार्थके प्रत्येक ग्रासमें कितने जीवोंका नाश होता है। अपि च मनुष्योंके सुख-सम्पादनके अर्थ भूतोंको क्लेश दिये विना तो कोई काम ही नहीं चलता, अब थोड़ेही विचारसे समझमें आ सकेगा कि भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता है। अस्तु भूतयज्ञ द्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायतासे उनके सम्वर्द्धनार्थ जो कुछ पुरुषार्थ करेगा सो अवश्य महायज्ञ शब्दवाच्य होने योग्य है।

मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक अधिष्ठात्री देवता है। जैसा कि समस्त श्वानोंपर एक देवता, समस्त अश्वोंपर एक देवता, समस्त हाथियोंपर एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंमें अलग अलग पशुजाति, पक्षिजाति और कीट पतङ्ग उद्भिज्जादि जातिपर एक एक देवता है। भूतयज्ञमें उन सब देवताओंके नामपर बलि दी जाती है जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियोंके अधीन समस्त पशु पक्षी आदिकी तृप्ति होती है। यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है।

पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञ चतुर्थस्थानीय है। अर्य्यमादि नित्य पितर और परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंको पिण्डप्रदानादि द्वारा संवर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता है।

पितृयज्ञ।

पितृयज्ञादिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसारमें स्वास्थ्य और बल आदिका सम्वर्द्धन किया करते हैं।

विचारशील पुरुषमात्र ही यह स्वीकार करेंगे कि मनुष्यसमाजपर पूज्यपाद पितृगणकी कृपा अतुलनीय एवं सर्व्वोपरि है। अपने पितृगणके ऋणसे मनुष्य कदापि उत्तीर्ण नहीं हो सकता। यह माता पिताकी कृपाका ही कारण है कि जिससे उन्नत ज्ञान प्राप्त करनेके उपयोगी देह मुमुक्षुको प्राप्त होता है एवं परम्परासम्बन्धसे सब पूर्व्वजोंका ऐसा ही कृपासम्बन्ध अवश्य स्वीकार करने योग्य है। ऐसे परम दयालु एवं परम माननीय पितृगणको स्मरणपूर्व्वक उनकी तृप्ति और सम्मानार्थ अन्नोदक प्रदान करनेसे पितृयज्ञका साधन हुआ करता है। तर्पण विधिमें कहा है, यथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्व्वे मातृमातामहादयः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर, मानव, माता और मातामहादि पितर हमारे किये हुए अनुष्ठानके द्वारा तृप्त हों। समस्त नरकमें यातनायुक्त जितने जीव हैं उनके उद्धारके लिये मैं यह जल प्रदान करता हूँ। अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु परलोक सम्बन्धसे महर्षिगणसे लेकर सब प्रकारके आत्माकी तृप्तिके अर्थ ही इस यज्ञका विधान किया गया है। ज्ञानराज्यके चालक ऋषि, कर्मराज्यके चालक देवता और आधिभौतिक राज्यके चालक पितृगण हैं। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्के प्राणिमात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समय पर होना इत्यादि सब नित्य पितरोंका कार्य्य है। अर्य्यमादि नित्यपितर कहाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्व्वज नैमित्तिक पितर कहाते हैं। इस प्रकारके पितृगणकी तृप्तिके अर्थ जगत्कल्याण बुद्धिसे जो क्रिया की जायगी वह क्रिया अवश्य महायज्ञपदवाच्य होगी, इसमें सन्देह ही क्या है।

विचारशील मनुष्यगण तर्पण और पितृयज्ञके मन्त्रोंपर निरपेक्षरूपसे जितना मनन करेंगे उतना ही जान सकेंगे कि केवल सार्व्वभौम मतयुक्त परार्थभाव, जगत्की सेवा और तृप्ति एवं उसके साथ ही साथ विश्वजीवनके साथ ऐक्य सम्पादन करनेके अर्थ यह यज्ञ किया जाता है। यही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

मनुष्यजीवनके विचारसे जिस प्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्यसमाजका एक अङ्ग होता है उसी प्रकार यह स्थिर निश्चय है कि मनुष्य जीवन विश्वजीवनका एक अङ्ग है। जिस प्रकार शरीरके किसी एक अङ्गमें यदि कोई रोग उत्पन्न हो तो समस्त शरीरकी शान्ति नष्ट हो जाती है, जिस विचारानुसार शरीरका प्रत्येक अङ्ग ही अहंशब्दवाच्य शरीरके अन्तर्गत समझा जाता है, उसी समष्टि व्यष्टि विचारानुसार जीवजगत्के साथ मनुष्य-

नृयज्ञ।

मात्रका एकत्व सम्बन्ध होना स्वतः सिद्ध है। पुनः यदि सृष्टिकी विशेषतापर ध्यान दिया जाय और यदि विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध माना जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि मनुष्यजीवनके साथ मनुष्यमात्रका ही सबसे नैकट्य सम्बन्ध है। फलतः मनुष्यत्वधर्म्म प्राप्तिके अर्थ अतिथि-सेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म्म है।

अथर्ववेदके अतिथिसूक्त ९।५।८ में लिखा है—

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्च स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः।
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥

अतिथि प्रिय हो या अप्रिय भोजन करानेपर वह यजमानको स्वर्ग पहुँचा देता है। और पाप नाश करता है।

यह संसार अधिभूतप्रधान होनेके कारण अपने शास्त्रोंमें भी इसी यज्ञकी सर्व्वोपरि आवश्यकता मानी गई है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अति दरिद्र होवे तो भी कदापि अतिथिसेवासे उसे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है किः--

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अतिथि असत्कृत होकर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उसे अपना पाप देकर उसका पुण्य अपने साथ ले जाया करते हैं। कोई वस्तु अतिथिको भोजन न कराकर गृहस्थको कदापि स्वयं भोजन करना उचित नहीं है। अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थको धन, आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है। विश्वजीवनके साथ अपने आत्माका एकत्व सम्बन्ध स्थापन करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। मनुष्यसमाजभरको अपना रूप देखनेसे साधक पूर्णाधिकारको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान् वेद-व्यासजीने कहा है किः—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है और यह पराया है, ऐसा भाव लघुचेता मनुष्योंका हुआ करता है। उदारचरित महानुभावोंका तो सकल पृथिवी ही कुटुम्बरूप है।

मनुष्य इस प्रकारसे अपने सङ्कुचित अहङ्कारभावको विस्तृत करता हुआ जब अन्तमें अपनेको विश्वरूप समझने लगता है तभी मुक्त होता है। प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने सुखसे ही अपनेको सुखी समझता है। तत्पश्चात् क्रमोन्नतिमें वह अपने स्त्रीमित्रादिको सुखी देख सुखी होता है। सदाचारी धार्मिकगण आत्मीय परिजनोंको सुखी देख प्रसन्न होते हैं। स्वदेशहितैषी ज्ञानके उन्नत अधिकारिगण अपने स्वदेशवासियोंको सुखी देख कृतकृत्य होते हैं। उन्नतात्मा पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्तगण जगत्के मनुष्य-समाजभरको सुखी देखकर सुखी होते हैं। यही आत्माकी क्रमोन्नतिका लक्षण है। अब इस भावको कार्य्यरूपमें परिणत करनेमें कठिनता यह है कि एक मनुष्य कदापि संसारभरके सब मनुष्योंकी सेवा नहीं कर सकता। इसी कठिनताको सुसाध्य करनेके लिये विशेष देश तथा विशेष कालमें मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते हैं; अर्थात् भोजनकालतक घरपर चाहे किसी जाति वा किसी धर्म्मका मनुष्य क्यों न आवे, उसे नारायण समझकर उसका सत्कार करना नृयज्ञ है।

यही पञ्चमहायज्ञका संक्षिप्त रहस्य है।

अर्वाचीन पुरुषोंने विचित्र युक्तियों द्वारा देवयज्ञमें हवनका उद्देश्य केवल वायुशुद्ध करना बताया है। यह उनकी सम्पूर्ण भूल है। वायुशुद्धि और भी सस्ती चीजोंसे और भी अधिक हो सकती है इसके लिये कीमती घी खर्च करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। वायुशुद्धिमें 'मन्त्र' पढ़नेकी और 'स्वाहा स्वाहा' कहनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। 'मन्त्र पढ़नेसे होमके लाभ विदित होते हैं' यह भी उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि 'विश्वानि देव' आदि मन्त्रोंमें कहीं होमका लाभ नहीं बताया गया है। हवनसे दैवजगत्के साथ कैसा सम्बन्ध होता है इस विषयमें यजु० अ० ११ मं० ३५ में वर्णन है—

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञ ँ सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्द यजमाने वयोधाः॥

हे देवताओंके आह्वान करनेवाले अग्निदेवता, सर्वज्ञ तुम अपने लोकमें ठहरो और श्रेष्ठकर्म यज्ञके स्थान कृष्णाजिनपर ही यज्ञको स्थापन करो। हे अग्ने! जिस कारण देवताओंकी तृप्ति करनेवाले तुम हव्यसे देवताओंको पूजते हो, इसी कारण यजमानमें बड़ी आयु और अन्नको धारण करो। और भी मनु० अ० ३, श्लोक ७६ में—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यदेवताको प्राप्त होती है। सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे वीर्यादि द्वारा प्रजाकी उत्पत्ति होती है। 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः' देवतागण हवनसे तृप्त होकर उत्तम भोग जीवको देते हैं। इत्यादि सहस्र सहस्र प्रमाण केवल वायुशुद्धि-के विरुद्ध तथा हवन द्वारा दैवजगत्से सम्बन्धके विषयमें आर्यशास्त्रमें पाये जाते हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका यह सब मिथ्या प्रलापमात्र है। इसके सिवाय दैवजगत्का रहस्य न समझकर उन्होंने चार वेदके ज्ञाता मनुष्यको ब्रह्मा, विद्वान्को देवता और जीवित पिता माताओंको जो तर्पण करने योग्य पितर कह दिया है, यह सब उनकी प्रचण्ड भूल है। इन सब भ्रान्तियोंका निराकरण आगेके अध्यायोंमें प्रकरणानुसार किया जायगा। अब नीचे सन्ध्योपासनामें विहित गायत्रीका रहस्य बताया जाता है।

गायत्री महिमा

आर्य शास्त्रमें कहा है कि,—'या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधा भूता प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिस प्रकार सन्ध्योपासना ब्रह्मोपासना है, उसी प्रकार गायत्री-उपासना भी ब्रह्मोपासना है, क्योंकि दोनों ही उपासनाओंमें ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री—रूपिणी त्रिधाविभक्त ब्रह्मशक्तिकी उपासना होती है। त्रिसन्ध्याओंमें ये तीन शक्तियां पृथक् पृथक् उपस्थित होती हैं और गायत्रीदेवीमें ये तीन शक्तियां एकाधारमें संन्निविष्ट हैं। प्रलयानन्तर सृष्टिके समय परमात्मामें प्रथमतः इच्छाशक्तिका विकाश होता है और तदनन्तर क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके विकाशके साथ ही साथ उनके देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उनकी ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री नाम्नी तीन शक्तियां, तीनोंकी समन्वयरूपिणी त्रिपदा गायत्री, त्रिदेव समन्वयरूप ओंकार, ज्ञानाधार त्रिवेद तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत भूर्भुवःस्वःरूप व्याहृतित्रयका विकाश हो जाता है। प्रथम तीन शक्तियोंका विकाश होकर पश्चात् वेदोंका आविर्भाव होता है, इस कारण त्रिशक्तिसमन्वयरूपिणी गायत्रीदेवीको वेदजननी कहा गया है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

गायत्री वेदमाता हैं, गायत्री पापनाशकारिणी हैं, गायत्री जैसी पवित्र

वस्तु, मर्त्यलोक या द्युलोकमें कहीं भी नहीं है। अब नीचे नाना शास्त्रोंसे गायत्रीके भावार्थ, रहस्य तथा महिमाके विषयमें वर्णन किये जाते हैं। गायत्रीका पूरा मन्त्र यह है—

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'

इसी मन्त्रका जप या चिन्तन करना चाहिये। यथा कूर्मपुराणमें:—

ओंकारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम्।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वितः॥

एकाग्रचित्तसे श्रद्धायुक्त होकर प्रथम ओंकार तदनन्तर भूर्भुवः स्वः नामक व्याहृतित्रय और तत्पश्चात् गायत्रीका उच्चारण करना चाहिये। महर्षि व्यासने भी कहा है—

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीञ्च जपेत्ततः।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत्॥

एकाग्रचित्त तथा मौन होकर प्रणव और व्याहृतिसे युक्त गायत्रीका जप अथवा मनमें चिन्तन करना चाहिये। समग्र मन्त्रका अन्वय तथा अर्थ निम्नलिखितरूप है—

ॐ भूःभुवःस्वः तस्य सवितुर्देवस्य (तं) वरेण्यं भर्गः धीमहि, यः (भर्गः) नः धियः प्रचोदयात्।

सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती दीप्तिमान् परमात्मा निमित्तकारणरूपसे भूः भुवः स्वः नामक महाव्याहृतित्रयको (तथा उपलक्षणरूपसे सप्तलोकरूपी सप्त-व्याहृतियोंको) उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान कारणरूपसे तद्रूप बना हुआ है, उसके उस वरणीय तेजका मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धिको धर्मार्थकाममोक्षमें नियोजित करता है। अब नीचे इस अर्थानुकूल प्रत्येक मन्त्र शब्दका पृथक् पृथक् विवेचन किया जाता है।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

ओंकार समस्त मन्त्रोंका सेतु अर्थात् यथास्थान पहुँचानेवाला है, इस सिद्धान्तके अनुसार गायत्रीके प्रथम तथा अन्तमें प्रणवोच्चारण करना आवश्य-कीय है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है:—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥

मन्त्रके आदि तथा अन्तमें प्रणवका उच्चारण करना चाहिये। अन्यथा आदि अन्त दोनों ही ओर प्रत्यवाय होता है। यही कारण है कि गायत्रीके आदिमें 'ओं' कहा जाता है। तदनन्तर 'भूः भुवः स्वः' रूपी व्याहृतित्रयका उच्चारण किया जाता है। व्याहृति किसको कहते हैं इस विषयमें योगियाज्ञवल्क्यने कहा है—

भूराद्याश्चैव सत्यान्ताः सप्तव्याहृतयस्तु याः ।
लोकास्त एव सप्तैते उपर्य्युपरि संस्थिताः ॥
सप्त व्याहृतयः प्रोक्ताः पुराकल्पे स्वयम्भुवा ।
ता एव सप्त छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥

भूर्लोकसे सत्यलोक पर्यन्त ऊपर ऊपर सन्निविष्ट सात लोक सप्तव्याहृति कहलाते हैं। पूर्वकल्पमें ब्रह्माने इन्हें सप्त व्याहृति कही है और ये ही सप्त छन्द भी कहलाते हैं। इनमेंसे सत्त्वरजस्तमोमय तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरमय प्रथम तीन महाव्याहृति कहे जाते हैं। यथा कूर्मपुराणमें—

पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भुवः स्वः सनातनाः ।
महाव्याहृतयस्तिस्रः सर्वासुरनिबर्हणाः ॥
प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद्व्याहृतयः स्मृताः ॥

पूर्वकल्पमें भूः भुवः स्वः ये तीन दिव्यतेजपूर्ण महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई थीं, जो सत्त्वरजस्तम तथा ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक हैं। यही कारण है कि ये तीन महाव्याहृति कहलाते हैं और विश्वरूप परमात्मा भी इनके रूप तथा इनके उत्पादक और प्रकाशक हैं। इस प्रकारसे प्रणव और व्याहृतिका उच्चारण करके पश्चात् गायत्रीका उच्चारण किया जाता है। उसमें प्रथम 'तत् सवितुः' यह वाक्य आता है। 'तत्' का 'तस्य' अर्थ है। 'सवितुः' का 'सर्वभूतानां प्रसवितुः' या 'सर्वभावानां प्रसवितुः' यह तात्पर्य है। योगियाज्ञवल्क्यने लिखा है:—

सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते ।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥

सकल भूतोंके उत्पादक तथा पावनकर्त्ता होनेसे परमात्मा सविता कहलाते हैं, 'सविता' शब्दका अर्थ सूर्य्य भी है और गायत्रीमें तेजकी उपासना होती है, इस कारण 'सविता' शब्दसे सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती परम-पुरुष परमात्मा जानना चाहिये। अतः 'तत्सवितुः' या 'तस्य सवितुः' का यह तात्पर्य्य निकला कि,—जिस परमात्माने तीन महाव्याहृतियोंको उत्पन्न किया है, जो इन्हें प्रकाशित करते हैं और स्वयं इनके रूप हैं उनका। वह सविता कैसे हैं? इसके उत्तरमें उनको 'देवस्य' कहा गया है। योगियाज्ञवल्क्यने लिखा है:—

दीव्यते क्रीड़ते यस्मादुच्यते द्योतते दिवि ।
तस्मादेव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥

परमात्मा मायाके आश्रयसे लीला करते हैं और दीप्तिमान् हैं, इस कारण 'देव' कहलाते हैं। ऐसे दीप्तिमान् सविताके तेजका चिन्तन किया जाता है। मन्त्रमें 'तं वरेण्यं भर्गः' कहकर जो 'तं' पदका अध्याहार किया गया है उसके विषयमें योगियाज्ञवल्क्यने कहा है:—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः ॥

मन्त्रमें 'यः भर्गः' अर्थात् 'जो भर्ग' कहकर जब भर्गका निर्देश किया है, तो उस भर्गका चिन्तन करता हूं ऐसा बतानेके लिये 'उस' अर्थमें 'तं' पदका अध्याहार करना पड़ा है। वह भर्ग कैसा है? इसके उत्तरमें 'वरेण्यं' शब्दका प्रयोग हुआ है। योगियाज्ञवल्क्यने कहा है:—

वरेण्यं वरणीयञ्च जन्मसंसारभीरुभिः ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः ॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च ।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले ॥

जन्म तथा संसारभयसे भीत मुमुक्षु जनोंके लिये सूर्य्यमण्डलस्थ परम-

पुरुष परमात्मा वरेण्य अर्थात् वरणीय होते हैं। जनन-मरणनिवारण तथा त्रिताप निवारणार्थ ध्यानयोगसे ये ही पुरुष द्रष्टव्य हैं। अब 'भर्ग' शब्दका अर्थ बताया जाता है। सवितृमण्डलमें जो परमात्माका दिव्य तेज है, सूर्यका प्रकाश जिस दिव्य तेजका आधिभौतिक विकाशमात्र है, उसी दिव्य तेजको भर्ग कहते हैं। यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

भृजिः पाके भवेद्धातुर्यस्मात् पाचयते ह्यसौ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः।
भ्राजते तत् स्वरूपेण तस्माद्भ भर्गः स उच्यते॥
भेति भाजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः।
गईत्यागच्छतेऽजस्रं भारगो भर्ग उच्यते॥
आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥
हृद्व्योम्नि तपति ह्येष बाह्ये सूर्यः स चान्तरे।
अग्नौ वा धूमके ह्येष ज्योतिश्चित्रङ्कुरं यतः॥
हृदाकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते।
स एवादित्यरूपेण बहिर्नभसि राजते॥

परमात्माका दिव्य तेज स्वयं प्रकाशमान् होकर समस्त विश्वजीवको प्रकाशित करता है, परिपाक करता है, सप्तरश्मि सूर्यरूप धारण करके अन्तमें विश्वको लय भी करता है इसलिये इसका नाम भर्ग है। 'भर्ग'में भ, र और ग ये तीन अक्षर हैं। भ के द्वारा सप्त लोकोंका विभाग करना, र के द्वारा प्रजाओंका रञ्जन करना और ग के द्वारा प्रचुर प्रकाशमान होना, इस तरहसे भी भरग अर्थात् भर्ग कहला सकता है। जो परम ज्योति सूर्यरूपमें बाहर प्रकाशित है, अग्निरूपमें दीप्तिमान् है, वही आत्मतेजरूपमें जीवमात्रके हृदयमें विद्यमान है। उसी दिव्यतेजको भर्ग कहते हैं। गायत्री उपासनामें उसी दिव्यतेजका चिन्तन तथा ध्यान होता है, जो तेज जीवोंकी बुद्धिको धर्म अर्थ काम मोक्षके भिन्न भिन्न मार्गमें प्रेरित करता है। यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

चिन्तयामो वयं भर्ग धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥

हम उसी भर्गका चिन्तन करते हैं जो धर्मार्थकाममोक्षमें हमारी बुद्धिवृत्तिको पुनः पुनः प्रेरित करता है। यही आर्य शास्त्रके सिद्धान्तानुसार गायत्रीके प्रत्येक शब्दको तथा समग्र गायत्रीका अर्थ है।

गायत्रीकी महिमाके विषयमें मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

एतदक्षरमेतांश्च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्राह्मणो मुखम् ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ॥

जो वेदज्ञ विप्र दोनों सन्ध्याओंमें प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करते हैं उनको समग्र वेदपुण्य लाभ होता है। इस प्रकार सन्ध्यातिरिक्त अन्य समयमें प्रतिदिन गायत्रीका सहस्र जप एक महीने तक करनेपर, कञ्चुकमुक्त सर्पकी तरह द्विज महान् पापसे मुक्त हो सकता है। प्रणवपूर्विका तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री ब्रह्मप्राप्तिकी द्वारस्वरूपा तथा वेदकी मुखरूपा है। अनलस होकर तीन वर्षतक प्रतिदिन प्रणवव्याहृति सहित गायत्री जप करनेसे परब्रह्मलाभ, वायुकी तरह यथेच्छ गति तथा आकाशकी तरह निर्लिप्तता प्राप्ति हो जाती है। एकाक्षर प्रणव ही परमब्रह्म और प्राणायाम ही परमतप है, गायत्रीसे उत्तम कोई मन्त्र नहीं है और मौनसे सत्य ही विशिष्टतर है। यही आर्यशास्त्रमें वर्णित गायत्री महिमा है।

अब प्रणव अर्थात् ॐकारकी महिमा बताई जाती है।

वेदमें संक्षेपसे ब्रह्मपद वर्णन करते समय 'ओं' रूपसे ही उस पदका वर्णन किया गया है, यथा कठोपनिषद्में--

ओंकार-महिमा।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
ओं इत्येतत् ।

सकल वेद तथा सकल तपस्यामें लक्ष्यरूपसे जिस पदका वर्णन है और जिस पदकी इच्छा करके मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्य अवलम्बन करते हैं उस पदका संक्षिप्त नाम 'ॐ' है । इसी प्रकार गीतामें भी वर्णन है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ' का उच्चारण तथा परमात्माका चिन्तन करता हुआ, जो शरीरत्याग करता है उसे परमगति प्राप्त होती है ।

पूज्यपाद योगिराज महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रणवकी महिमा कहते हुए यह आज्ञा की है—

आद्यं यत्राक्षरं ब्रह्म त्रयी यत्र प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥
एक एव तु विज्ञेयः प्रणवो योगसाधनम् ।
गृहीतः सर्वसिद्धैस्तैरितरैर्ब्रह्मवादिभिः ॥
यथाऽमृतेन तृप्तस्य पयसा किम्प्रयोजनम् ।
तथोङ्कारविधिज्ञस्य ज्ञानतृप्तिर्न विद्यते ॥
सर्वमंत्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ।
तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवंति हि ॥
यन्न्यूनमतिविद्धञ्च यच्छिद्रं यदयज्ञियम् ।
यदमेध्यमशुद्धञ्च यातयामञ्च यद्भवेत् ।
तदोङ्कारप्रयुक्तेन मन्त्रेणाविकलं भवेत् ॥

अर्थात् वेदोंका आदि अक्षररूपी प्रणव साक्षाद् ब्रह्मरूप है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपी त्रिगुणात्मक तीन देवताओंका अधिष्ठान है। फलतः त्रिदेवात्मक वेद अतिगुह्य है, इस लोकमें जो प्रणवको जानते हैं, वे ही सर्ववेत्ता हैं। सब प्रकारके योगसाधनोंके साररूपी प्रणवके विषयमें सबको विदित होना उचित है, इस विषयको सब ब्रह्मवादियोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है। जिस प्रकार अमृतसे तृप्त हुए जीवके अर्थ जलका प्रयोजन नहीं हुआ करता, उसी प्रकार जो ओंकारके स्वरूपको भलीभांति जानते हैं, उनके लिये और अन्य प्रकार ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। जहां कोई मन्त्रपाठ हो वहीं आदिमें प्रणवकी आवश्यकता है, मंत्रसमूह ओंकारसे युक्त होकर पूर्ण फलको प्राप्त हुआ करते हैं। किसी यज्ञादि कर्ममें यदि कोई कर्म न्यून अथवा कोई वेदबाह्यताको प्राप्त हो अथवा मंत्र तंत्र आदिका फेर पड़ जाय, अपिच अन्य किसी प्रकारसे कोई कर्म यदि यज्ञनियमविहीन अपवित्र, क्रम-रहित अथवा स्वरूपच्युत हो जाय, तौभी उस कर्मके मन्त्रके साथ यदि प्रणवका संयोग रहे, तो सब प्रकारके दोषोंकी शान्ति हो जाया करती है।

तंत्रोंमें वर्णन है कि,—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

अर्थात् अकार विष्णुका वाचक, उकार महेश्वरका वाचक और मकार ब्रह्माका वाचक है। फलतः त्रि अक्षरमय ओंकार साक्षात् परमात्मा ब्रह्मका वाचक है। यह विश्व संसार त्रिगुणका ही विकाश है, इस संसारकी सृष्टि स्थिति लयात्मक क्रिया श्रीभगवान्के तीन गुणमें ही स्थित है, इसी कारण सगुण ब्रह्मरूपसे परमात्मा जगदीश्वरको मानना पड़ता है। तीन गुणोंके अनुसार पुनः उनके ही तीन भाव हैं, अर्थात् रजोगुणसे ब्रह्मारूपको धारण करके ये जगत्की सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणसे विष्णुरूपको धारण करके ब्रह्माण्डका पालन करते हैं और तमोगुणमें स्थित रहकर शिवरूपको धारण करते हुए विश्वका लय किया करते हैं। वास्तवमें एक अद्वितीय, विकाररहित, जगदीश्वर परमात्मा अपनी ही शक्तिरूपिणी महामायाके द्वारा तीन स्वतन्त्र भावको धारण करते हुए कार्य्य-ब्रह्मरूपी विराट् स्वरूपमें स्थित हैं। जिस प्रकार रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण ये स्वतन्त्र स्वतन्त्र गुण ही आध्यात्मिकरूपसे

श्रीभगवान्के ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपोंके प्रकाशक हैं उसी प्रकार शब्दराज्यमें अकार, उकार और मकार ये तीनों शब्दमय अक्षर विष्णु महेश्वर और ब्रह्माजीके तीन आधिभौतिक स्वरूप हैं। अपि च जिस प्रकार त्रिगुणात्मक शक्तियोंके सम्मेलनसे ही त्रिगुणमय लीलाधारी जगदीश्वरके आध्यात्मिक सगुणस्वरूपका निर्णय होता है, उसी प्रकार त्रि अक्षरमय ओंकारके द्वारा श्रीभगवान्के शब्दब्रह्मस्वरूपका प्रकाश हुआ करता है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें आज्ञा की है कि "तज्जपस्तदर्थभावनम्" अर्थात् श्रीभगवान्में और प्रणवमें तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण प्रणवका जप और उसके अर्थका विचार करते करते साधक मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है। महर्षियोंने वेदाङ्गरूपी शिक्षाशास्त्र द्वारा यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि प्रणवमें तीनों गुणोंकी तीनों शक्तियां भरी हुई हैं, इसी कारण प्रणव ह्रस्व आदि तीनों स्वरोंकी सहायता बिना उच्चारण नहीं किया जा सकता। पुनः गान्धर्व उपवेदसम्बन्धी शिक्षाओंमें भलीभांति वर्णित है कि षड्ज आदि सातों स्वर एकमात्र ओंकारके ही अन्तर्विभाग हैं। जिस प्रकार बहिः सृष्टिमें सात दिन, सात रङ्ग, सात धातु आदि सप्त विभाग पाये जाते हैं और जिस प्रकार अन्तर्राज्यमें सप्त ज्ञान-भूमिका आदि सप्त विभागोंका प्रमाण मिलता है; उसी शैलीके अनुसार एकमात्र अद्वितीय शब्दब्रह्मरूपी ओंकार षड्ज आदि सप्तस्वर विभागमें विभक्त होकर नाना शब्दराज्यकी सृष्टि किया करते हैं। इसी कारण शब्दब्रह्मरूपी ओंकार सब मन्त्रोंका चालक है। तन्त्रोंमें लेख है कि "मन्त्राणां प्रणवः सेतुः" अर्थात् सब मन्त्रोंका एकमात्र प्रणव ही सेतु है; जिस प्रकार बिना सेतु (पुल) के पथ अविरोधी नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना ओंकारकी सहायता लिये न तो मन्त्र-समूह पूर्ण बलको प्राप्त होते हैं और न वे लक्ष्यके अनुसार यथावत् काम करनेमें उपयोगी हो सकते हैं। फलतः एकमात्र प्रणव ही शब्दमय साक्षात् शब्दब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं। मुखसे उच्चारण होने योग्य प्रणव यदि च अलौकिक प्रणवनादका प्रतिशब्द है तथापि वह केवल लौकिकसम्बन्धसे आविष्कृत नहीं हुआ है। तन्त्रोंमें यह निश्चय कर दिया गया है कि मुखसे उच्चारण होने योग्य ओंकारध्वनि भी अपूर्व रीतिसे आधार पद्मसे उठकर सहस्रदलस्थित पुरुषमें लय हुआ करती है।

योगशास्त्रमें लेख है कि,—

"कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पंदेन सव्यापकम्,

स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्व्वदा । सृष्टिश्चैव तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी, शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥"

अर्थात् जहां कुछ कार्य है वहां अवश्य कम्पन होना सम्भव है; जहां कम्पन है वहां अवश्य शब्द होना भी सम्भव है; फलतः सृष्टिरूपी कार्य्यमें साम्यावस्था प्रकृतिके सबसे प्रथम हिल्लोलकी ध्वनिका नाम शिवरूपी ओंकार है। यह ध्वनि कैसी है इस विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघंटानिनादवत् ।"

अर्थात् यह प्रणव तैलधाराके समान अविच्छिन्न और दीर्घघण्टाके शब्दकी नाईं श्रुतिमधुर है एवं उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता। वास्तवमें ईश्वरवाचक आदि-शब्द ओंकार योगिगणको तभी सुनायी दे सकता है कि जब वे योगयुक्त होकर साम्यावस्था प्रकृतिमें मन स्थिर कर सकें। यह ओंकारध्वनि वाच्यवाचक सम्बन्धसे अनादि और अनन्त है एवं प्रणव जो अक्षरोंसे लिखनेमें अथवा मुख द्वारा उच्चारण करनेमें आता है वह उसका प्रतिशब्द है, जिसको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने अपनी योगयुक्त समाधिबुद्धि द्वारा वेदके आविर्भाव करनेके आदिमें संसारमें प्रकट किया है। यही ओंकारके विज्ञानका रहस्य है।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में आज्ञा है कि,—

"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा" ॥

अर्थात् ओंतत्सत् ये तीन शब्द परमात्मा ब्रह्मके निर्देशक हैं इन तीनोंके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञ पुराकालमें विहित हुए हैं। यहां यह वैज्ञानिक रहस्य है कि ओं, तत् और सत् ये तीनों मन्त्र ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावयुक्त होकर एकमात्र परमात्मा ब्रह्मके वाचक रूपसे नियत हुए हैं। पुनः वर्णन है कि—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

अर्थात् ओंकाररूपी मंत्रके द्वारा ब्रह्मवादी गणका यज्ञ, दान और तप क्रिया सर्वदा प्रवर्तित हुआ करती है।

इत्यादिरूपसे गीताशास्त्रमें प्रणवकी महिमा बताई गई है।

वेदमें प्रणवको 'उद्गीथ' कहा गया है, यथा छान्दोग्यमें—'ओं इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।' इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

'ओं इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः,' प्रणवमन्त्रसे आरम्भ करके उद्गीथ गान होता है, इसलिये प्रणवको उद्गीथ कहा गया है। प्रणवगान ही भगवान्का गान है, प्रणव नाम ही भगवान्का नाम है। इसी कारण योगदर्शनमें 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रके द्वारा ओंकारको श्रीभगवान्का वाचक अर्थात् नाम कहा गया है। श्रीभगवान् भाष्यकारने लिखा है-'तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः' जिस प्रकार प्रियनाम धरकर पुकारनेसे मनुष्य प्रसन्न होकर उत्तर देता है, उसी प्रकार 'ओं' नाम धरकर पुकारनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं। जहां प्रकृतिकी लयावस्था है वहां ओंकार ब्रह्ममें विलीन हैं, जहां निर्गुण सत्तामें सङ्कल्पानुसार सगुण ईश्वरभावकी सूचना है वहीं अव्यक्तसे व्यक्तावस्थाभिमुखीन प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन रूपसे ओंकारका आविर्भाव है, अतः ईश्वरभाव, ईश्वरका सङ्कल्प, अव्यक्त प्रकृतिकी व्यक्ताभिमुखिनी प्रवृत्ति और प्रणव विकाश ये सब समसामयिक हैं। इसी कारण वाच्य वाचक या अभिधान अभिधेय रूपसे ओंकारके साथ ईश्वरभावका विशेष सम्बन्ध है। यही कारण कि, आर्यशास्त्रमें ओंकारको ईश्वरका वाचक तथा वाच्य वाचककी एकताके विचारसे दोनोंमें एकता बताई गई है। इसी विज्ञानको माण्डूक्योपनिषद्में और भी विस्तारके साथ वर्णित किया गया है, जिसमें चतुष्पाद ब्रह्मके साथ चार मात्रासे युक्त ओंकारकी एकता सिद्ध की गई है। सो कैसे है नीचे वर्णित किया जाता है! यथा—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं,
भूतं भवद्भ भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥
सर्वं ह्येतद्ब ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

अभिधेय वस्तु जो कुछ है तथा भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालावच्छिन्न और उससे अतिरिक्त भी जो कुछ है सो सभी ओंकार है। इस प्रकार सर्वात्मक ओंकार ब्रह्म है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय भेदसे ब्रह्मसे चार पाद हैं। इन चार पादोंके साथ ओंकारकी मात्राओंका किस प्रकार सम्बन्ध है सो भी माण्डूक्योपनिषद्में बताया गया है यथा—

'सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।'

'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद।'

'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं भवति।'

'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनाति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।'

'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद।'

अभिधेयरूपसे जिस चतुष्पाद आत्माका वर्णन किया गया वह अभिधान-रूपसे ओंकारके तीन मात्राओंके साथ भी अभिन्न है। अर्थात् आत्माके जो पाद हैं ओंकारके अकार, उकार, मकाररूपी वे ही तीन मात्राएं हैं। उनका जाग्रत् पाद जो वैश्वानर कहलाता है उसके साथ प्रथम मात्रा अकारकी अभिन्नता है। क्योंकि जिस प्रकार वैश्वानर आदि तथा जगद्व्यापक है ऐसा ही 'अकार' आदिवाक् तथा 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिप्रमाणानुसार सकल वाक्योंमें व्याप्त है। इस प्रकारसे अभिधान अभिधेयकी एकता सिद्ध होती है। जो इस एकताके रहस्यको समझता है उसकी सकल कामना सिद्धि होती है और वह महतोंका अग्रगण्य हो जाता है। उनका स्वप्नपाद जो तैजस कहलाता है उसके साथ द्वितीय मात्रा उकारकी अभिन्नता है। जैसा तैजस विश्वसे उत्कृष्ट है ऐसा ही उकार भी अकारसे उत्कृष्ट है, जैसा विश्व और प्राज्ञके बीचमें तैजस है ऐसा ही अकार और मकारके बीचमें उकार है। इस प्रकारसे द्वितीय पाद और द्वितीय मात्राकी अभिन्नता है। जो इस अभिन्नताके रहस्यको समझता है

उसकी ज्ञानवृद्धि होती है, शत्रु मित्र दोनोंके लिये वह प्रिय बना रहता है और उसके कुलमें अब्रह्मवित् कोई नहीं जनमता है। उनका सुषुप्तपाद जो प्राज्ञ कहलाता है उसके साथ तृतीय मात्रा मकारकी अभिन्नता है। जिस प्रकार प्रलय तथा उत्पत्ति द्वारा प्राज्ञमें विश्व तैजसकी मिति अर्थात् मान होता है उसी प्रकार प्रवेश निर्गम द्वारा मकारमें अकार उकारका समझना चाहिये। इसके सिवाय अपीति, अप्यय अर्थात् एकीभावका सम्बन्ध है। अर्थात् जिस प्रकार ओंकारके उच्चारणमें अन्तिम अक्षर मकारमें अकार उकारका एकीभाव होता है उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें प्राज्ञमें विश्व और तैजसका एकीभाव है। यही तृतीय पाद और तृतीया मात्राकी अभिन्नताका लक्षण है। जो इस एकताके रहस्यको जानता है उसको जगत्के सकल पदार्थोंका याथात्म्यभाव परिज्ञात हो जाता है और वह अपीति अर्थात् जगत्-कारणात्मा भी बन सकता है। चतुर्थ भावमें ओंकार मात्राहीन है उसके साथ अभिधान अभिधेय सम्बन्ध-विहीन तुरीयपदस्थित प्रपञ्चपरपारस्थित शिवरूप अद्वैतरूप आत्माकी एकता है। जो इस एकताके तत्त्वको समझता है, वह पुनरावृत्तिहीन ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है। यही ब्रह्मके चार पादके साथ मात्राविशिष्ट तथा मात्राहीन ओंकारका अभिन्नभाव सम्बन्ध है।

प्रश्नोपनिषद्में ओंकारकी इन मात्राओंके ज्ञान तथा इनकी उपासनाके विशेष फल बताये गये हैं यथा—

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥

ओंकार परब्रह्म तथा अपरब्रह्म उभयस्थानीय है। इसी कारण ओंकारके ही अवलम्बनसे परब्रह्म या अपरब्रह्मकी उपासना होती है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

ऋग्वेदरूपी ओंकारकी प्रथममात्राका जो ध्यान करता है वह उससे सम्बोधित होकर शीघ्र मनुष्यलोकको प्राप्त हो जाता है और वहां उत्तम ब्राह्मणकुलमें जन्म लाभ करके तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धाके द्वारा सम्पन्न होकर विभूतिको अनुभव करता है। यही ओंकारकी प्रथममात्राके ध्यानका फल है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥

यजुर्वेदरूपी द्वितीयमात्राके ध्यानसे सोमलोक प्राप्त होता है। और वहांपर विभूतिके अनुभव होनेके अनन्तर मृत्युलोकमें पुनरावृत्ति होती है। यही ओंकारके द्वितीय मात्राध्यानका फल है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते॥

जो त्रिमात्रासे युक्त 'ॐ' इस अक्षरके द्वारा सूर्यमण्डलमध्यवर्त्ती परमपुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तृतीयमात्राके द्वारा सूर्यमें ही सम्पन्न हो जाता है। और जिस प्रकार सर्प कञ्चुकसे मुक्त होकर नवीन शरीर धारण करता है उसी प्रकार तृतीयमात्राका उपासक भी सकल पापसे मुक्त होकर सामवेदरूपी तृतीय मात्राके प्रभावसे पुनरावृत्तिहीन हिरण्यगर्भलोक अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। लिङ्गात्मारूप हिरण्यगर्भमें समस्त जीव ग्रथित रहनेके कारण वे जीवघन कहलाते हैं, वह उस जीवघनकी कृपासे सकलशरीरविहारी परात्पर परमपुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। यही ओंकारके मात्रात्रयध्यानका वेदवर्णित अलौकिक फल है। इसी प्रकार शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में भी लिखा है—

या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदैवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् ब्रह्मपदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदैवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदैवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम्। या साऽर्धचतुर्थी मात्रा सर्वदैवत्याऽव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम्।

ओंकारकी जो प्रथमा मात्रा है उसका वर्ण लाल है, देवता ब्रह्मा है, जो उसका ध्यान करता है उसको ब्रह्माका पद प्राप्त होता है। द्वितीय मात्राका वर्ण कृष्ण है, देवता विष्णु है, उसके ध्यानसे विष्णुका पद प्राप्त होता है। तृतीय मात्राका वर्ण कपिल है, देवता रुद्र है, उसके ध्यानसे रुद्रका पद प्राप्त होता है।

ओंकारकी तुरीया आधी मात्रा अव्यक्तरूपिणी स्फटिकतुल्य निर्मल है ब्रह्मा विष्णु आदि सभी उसके देवता हैं, उसके ध्यानसे अनामय शाश्वत परब्रह्म पद प्राप्त होता है।

ओंकारमें इतनी शक्ति निहित रहनेसे ही वेदादि समस्त शास्त्रोंमें ओंकारकी इतनी महिमा गाई गई है, यथा—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः आत्मा यदुद्गीथः।

तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ओंकार एवेदं सर्वम्। (छान्दोग्योपनिषत्)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (कठोपनिषत्)

ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥ (स्मृति)

ओंकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥ (देवीभागवत)

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (श्रुति)

सकल भूतोंका सार पृथिवी है, पृथ्वीका सार जल है, जलका सार औषधि है, औषधिका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाक् है, वाक्का सार ऋक् है, ऋक्का सार साम है, सामका सार ॐ है। वह सारोंका सार, परमवस्तु तथा परम मूल्यवान् है।

जिस प्रकार डन्टीमें सब पत्र लगे रहते हैं, ऐसे ही प्रणवमें समस्त वाक् सम्बद्ध हैं, प्रणव ही सब कुछ है।

प्रणव ही अक्षर ब्रह्म है, प्रणव ही अक्षर परमात्मा है, इसी अक्षरके ज्ञानसे सकल अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। यही श्रेष्ठ अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है, इसी अवलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोकमें पूजित हो सकता है।

पुराकालमें ओंकार और अथ शब्द ये दो ब्रह्माका कण्ठ भेद करके निकले थे, इस कारण वे मङ्गलार्थक हैं।

जो ब्राह्मण ओंकारको पितृरूपसे और गायत्रीको मातृरूपसे नहीं जानता है उसका हीनजन्म समझना चाहिये।

देही आत्माको पूर्वारणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मथनीके अभ्याससे गूढ़ पुरुष परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्रणव धनु है, जीवात्मा शर है, परमात्मा लक्ष्य है, शरकी तरह तन्मय होकर अप्रमत्तचित्तसे लक्ष्यभेद करना चाहिये।

इस प्रकारसे ओंकारकी अलौकिक महिमा होनेके कारण प्रणव, अनन्त, तार आदि विशेष संज्ञा ओंकारको दी जाती है यथा शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में—

अथ कस्मादुच्यते ओंकारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्द्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओंकारः।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्य प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पललपिण्डमिव शांतरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी।

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लम्।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम् ।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात् परमपरं परायणं च बृहद् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म ।

ओंकार क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही प्राणोंको ऊपरकी ओर आकर्षण करता है इसलिये ओंकार कहते हैं ।

प्रणव क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही ऋग्यजुरादि वेद ब्राह्मणोंसे प्रणाम तथा स्वीकारको प्राप्त होता है इसलिये प्रणव कहते हैं ।

सर्वव्यापी क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही तिलचूर्णमें तेलकी तरह शान्तरूप होकर जगत्में ओतप्रोत तथा परिव्याप्त हो जाता है इसलिये सर्वव्यापी कहते हैं ।

अनन्त क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही उर्द्ध्व अध आस पास कहीं अन्त नहीं मिलता है इसलिये अनन्त कहते हैं ।

तार क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही गर्भ, जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि संसार सागरके महाभयसे तारता है इसलिये तार कहते हैं ।

शुक्ल क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही हृदयको आर्द्र करके संसारके प्रति ग्लानि उत्पन्न करता है और शुद्ध पवित्र निर्विकार स्वरूप बना देता है इसलिये शुक्ल कहते हैं ।

सूक्ष्म क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही सूक्ष्मरूप होकर शरीरोंमें स्थित हो जाता है और सकल अङ्गोंका स्पर्श करता है इसलिये सूक्ष्म कहते हैं ।

वैद्युत क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही व्यक्त महान् अन्धकारमें बिजलीके समान प्रकाश करता है इसलिये वैद्युत कहते हैं ।

परब्रह्म क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे अपनी महत्ताके द्वारा पर अपर ब्रह्मभावको परिपुष्ट कर देता है इसलिये परब्रह्म कहते हैं ।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें महान् ओंकारके विविध नामोंकी अति गूढ़ रहस्यमय अलौकिक सार्थकता बताई गई है, जिसपर विचार तथा मनन करनेसे और उपासना द्वारा जिसका अनुभव करनेसे साधक निःसन्देह संसारसिन्धु सन्तरण कर सकता है ।

इति श्रीधर्मसुधाकरे षष्ठकिरणम् ।

सप्तम किरण ।

श्राद्ध-तर्पण ।

श्राद्ध किसको कहते हैं इस विषयमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

यद्व यद्व ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥

सम्यक् श्रद्धासे युक्त होकर विधिपूर्वक पितरोंको जो कुछ दिया जाता है, उससे परलोकमें उनको अक्षय अनन्त तृप्ति होती है। श्रद्धाके साथ नित्य-नैमित्तिक पितरोंको इस प्रकार दान ही श्राद्ध शब्द वाच्य है।

महर्षि पराशरने भी कहा है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत् ।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम् ॥

देश, काल, पात्रविचारसे हविष्यादि विधिके साथ श्रद्धायुक्त होकर तिल, दर्भ, मन्त्रोंकी सहायतासे जो कृत्य किया जाता है, उसको श्राद्ध कहते हैं।

मरीचि ऋषिने भी लिखा है: —

प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः ।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्त्तितम् ॥

प्रेत तथा मृत पितरोंके निमित्त अथवा प्रिय भोजन जिसमें श्रद्धाके साथ दिया जाय, उस कर्मको श्राद्ध कहते हैं। यही सब श्राद्धका शास्त्रीय लक्षण है।

श्राद्धकृत्यके मूलमें श्रद्धा तथा कृतज्ञताका ही मधुर गम्भीर भाव है। जिन पितरोंकी कृपासे यह मुक्ति-साधक परमदुर्लभ मानवदेह प्राप्त हुआ, जिन्होंने अनन्त कष्ट सहकर भी हमें असीम आनन्द प्रदान किया, स्वयं बुभुक्षु रहकर भी हमें भोजन दिया, हृदयके अमृतसे हमारा पालन पोषण किया, सुन्दर संसारका मनोरम सुख हमें दिखा दिया, हमारी निखिल उन्नतिके लिये प्राणपणसे प्रयत्न किया, उनके प्रति कृतज्ञ न होना, परलोकमें उनकी प्रसन्नता,

शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यथाशक्ति अनुष्ठान न करना, कमसे कम उनके आत्माको स्मरण करके एक विन्दु अश्रुपात भी न करना केवल मनुष्यभावसे अधम नहीं, बल्कि पशुभावसे भी अधमाधम महापराध है, इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इसीलिये आर्यशास्त्रमें सकल पापोंसे कृतघ्नताको अति अधम पाप कहा गया है। यथा—

नास्तिकस्य कृतघ्नस्य धर्मोपेक्षारतस्य च।
विश्वासघातकस्यापि निष्कृतिर्नैव सुव्रते ॥

नास्तिक, कृतघ्न, धर्मके प्रति सदा उपेक्षापरायण और विश्वासघातक—इनके पापकी निष्कृति नहीं है। यही कारण है कि, अपनी अपनी धार्मिक स्थिति तथा अधिकार तारतम्यानुसार अन्य धर्मावलम्बियोंके भीतर भी किसी न किसी प्रकारसे श्राद्धकृत्यकी तरह अनेक कृत्य किये जाते हैं। खीष्ट धर्मावलम्बी,—विशेष कर कैथलिक सम्प्रदायके लोग अपने पिता, माता, भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र कन्या आदिके समाधिस्थानमें जाते हैं और कब्र या समाधिके ऊपर फूल बर्साते हैं, शोक करते हैं तथा ईश्वरके निकट मृत-व्यक्तियोंके लिये अक्षय स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। मुसलमानोंमें भी मृत-व्यक्तिकी समाधिके समीप ईश्वरसे प्रार्थना करना तथा कुरान पढ़ना विशेष सत्कार्य कहकर प्रशंसित है और ऐसा करना मृत-व्यक्तिकी भी सद्गतिके लिये सहायक समझा जाता है इसी भावके आधारपर ही मुसलमान लोग कबरपर बड़े बड़े मकान बनाते हैं। बौद्धलोगोंमें चीन, जापान, ब्रह्मादि देशोंमें अत्यन्त अधिकताके साथ श्राद्धकृत्य किया जाता है। उनमें आद्यश्राद्ध, नवमासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध प्रचलित हैं और उनमें भूरिदान, गाना-बजाना-नाचना, विलाप कीर्त्तन आदि यथेष्टरूपसे किया जाता है। बौद्ध देशमें पितृपुरुषोंके नामपर स्थापित भवनोंकी कीर्त्तिका अभाव नहीं है। किन्तु बौद्धजातीय लोगोंमें कोई भी अन्य किसीको मृत-व्यक्तिका प्रतिनिधि नहीं कल्पित करता। वे जो कुछ भोजन वस्त्र आदि देते हैं, सो साक्षात् पितृपुरुषके जीवात्माको ही देते हैं। ऐसा समझकर देते हैं, जैसे वही मृत व्यक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है और वह जैसे कोई आज्ञा या उपदेश देगा—श्राद्धकर्त्ताको अपने मुख और नेत्रोंकी ऐसी ही भावभंगी कर अत्यन्त नम्र तथा संयत रहना होता है।

इस प्रकार अन्यान्य धर्मोंके माननेवालोंके भीतर भी अपने अपने अधिकारके अनुसार कृतज्ञतासूचक श्राद्धकृत्य जैसे कृत्योंके द्वारा पितृगणके प्रसन्नता विधानकी विधियां देखी जाती हैं। आर्य्यजाति तथा आर्य्यशास्त्रमें अन्तर्दृष्टि और दैवदृष्टिकी अधिकताके कारण श्राद्धविधिमें भी व्यापकताका विशेष अवकाश रक्खा गया है। तदनुसार आर्य्यशास्त्रसम्मत श्राद्धतर्पणकृत्यमें पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त व्यष्टिसत्ताके साथ समष्टि सत्ताके एकीकरण विषयक अनेक विधान देखनेमें आते हैं। जब मृत्युलोक ऊपर नीचेके समस्त लोकोंके बीचमें हैं और कर्मकेन्द्रस्वरूप होनेसे इसीमें अनुष्ठित उत्तमाधम कर्मोंके फलसे स्थूल सूक्ष्म समस्त लोकोंमें जीवोंका आवागमन बना रहता है, तो स्वभावतः समस्त लोकवासी जीवोंके साथ तथा ऋषिदेवपितरोंके साथ प्रत्येक मनुष्यका आदानप्रदान सम्बन्ध है। इसी आदानप्रदान सम्बन्धको

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

इस गीतोक्त सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य जितना बनाये रक्खेगा, उतना ही वह इहपारलौकिक कल्याणका अधिकारी, निरामय, स्वास्थ्यवीर्यवान्, दीर्घायु, सुखी, दैवकृपासम्पन्न तथा आध्यात्मिक उन्नतिपथमें अग्रसर होता रहेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पूर्णप्रज्ञ महर्षियोंने श्राद्ध, तर्पण तथा पञ्चमहायज्ञादि नित्यकृत्योंमें व्यष्टि समष्टिकी एकताविधायिनी विविध विधियोंका अवश्य कर्त्तव्यरूपसे निर्देश किया है। यही कारण है कि, श्राद्ध तथा तर्पणमें नित्य नैमित्तिक पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त अनेक देवता, यज्ञेश्वर विष्णु, ऋषिगण, वास्तु देवता, गंगा तथा अन्यान्य भूतोंकी तृप्तिके अर्थ भी अन्नजलादि प्रदानकी विधि है। सो कैसे है, नीचे क्रमशः बताया जाता है।

वेदमें परलोकगत नैमित्तिक पितर तथा नित्य पितरोंका आवाहन, श्राद्धादि द्वारा उनकी सम्वर्द्धना आदिके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्में नाचिकेत उपाख्यान वर्णनके अनन्तर कहा गया है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥

अति गूढ़ नाचिकेत उपाख्यानको ब्रह्मनिरत पुरुषोंकी सभामें तथा श्राद्ध

समयमें संयत होकर सुनानेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पिण्डोपनिषद्में लिखा है—

देवता ऋषयः सर्वे ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
मृतस्य दीयते पिण्डः कथं गृह्णन्त्यचेतसः॥
भिन्ने पञ्चात्मके देहे गते पञ्चसु पञ्चधा।
हंसस्त्यक्त्वा गतो देहं कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितः॥

देवता तथा ऋषियोंने भगवान् ब्रह्मासे पूछा कि, मृतपितरोंको जो श्राद्धमें पिण्ड दिया जाता है, वे कैसे उसको ले सकते हैं और पञ्चभूतात्मक देह जब भूतपञ्चकमें मिल जाता है, तो जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरका निवास कहां होता है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होता है कि, श्राद्धकृत्य वेदानुमोदित वैदिक कृत्य है और मृत पितरोंके ही श्राद्ध होते हैं, जीवित पितरोंके नहीं, जैसा कि, कहीं कहीं भ्रान्तिसे कल्पना की जाती है। श्राद्धके लक्षणके विषयमें महर्षि पराशर तथा मरीचिके जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उससे भी श्राद्धकृत्यके साथ मृत पितरोंका ही स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अथर्ववेदमें लिखा है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ (१-३४)

हे अग्ने! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्निमें जला दिये गये और जो फेंके गये, उन सबको हविर्भक्षणके लिये बुला लाओ, यजुर्वेदके १९।६७ में लिखा है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्मयां २।
उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥

जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्ने! उनको तुम जानते हो, सो आप पितरोंके अन्नसे शुभ यज्ञको सेवन करो। उसी वेदके १९।५८ में लिखा है—

आयन्तु नः पितरस्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

हमारे पितर देवताओंके गमनयोग्य मार्गसे आवें, इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर बोलें और हमारी रक्षा करें। अथर्ववेदके १८।४।८०।७६ में लिखा है—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपद्भ्यः स्वधा पितृभ्यः।
अन्तरिक्षपद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविपद्भ्यः॥

जो पितर पृथिवीमें हैं, उनके लिये, जो अन्तरिक्षमें हैं उनके लिये और जो स्वर्गमें हैं उनके लिये स्वधा कव्य देता हूं। और भी अथर्ववेदमें—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥

जो अग्निमें दग्ध हुए और अग्निमें दग्ध नहीं हुए द्युलोकके मध्यमें अमृतरूप अन्नसे प्रसन्न हैं, हे अग्ने! तुम उनको जानते हो, वे तुम्हारे द्वारा अन्न सेवन करें।

श्राद्धप्रकरणमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

म्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥

पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम्॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥

तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत् पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्॥

पाणिभ्यान्तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायञ्छनकैरुपनिक्षिपेत्॥

अक्रोधनान् सप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान्।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान्॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥

पिताके जीवित रहनेपर पितामहादि तीन पुरुषोंका श्राद्ध करना चाहिये, अथवा पितृब्राह्मणरूपसे अपने पिताको भोजनदान और पितामह प्रपितामहको पिण्डदान कर सकते हैं। यदि पिता मृत हो और पितामह जीवित हो, तो पिताका श्राद्ध करके पश्चात् प्रपितामहका श्राद्ध करना चाहिये। इसमें जीवित पितामह, प्रपितामह ब्राह्मणरूपसे भोजन करेंगे, अथवा आज्ञा लेकर पौत्र स्वयं श्राद्धकर्मको करेंगे। तदनन्तर ब्राह्मणोंके हाथमें दर्भ और तिलयुक्त जल देकर पूर्वोक्त पिण्डाग्रको 'पित्रे स्वधास्तु' कहकर उन्हें समर्पण करना चाहिये। उसके बाद दोनों हाथोंसे अन्नपूर्णपात्रको ग्रहण करके पितरोंका ध्यान करते हुए ब्राह्मणोंके समीप भोजनार्थ उस अन्नको रखना चाहिये। महर्षियोंने क्रोधहीन, सुप्रसन्न, सृष्टिप्रवाहमें पुरातन लोककल्याण-निरत द्विजोत्तम ब्राह्मणोंको ही श्राद्धकृत्यके पात्रभूत देवता करके निर्देश किया है। जबतक अन्न उष्ण रहता है, ब्राह्मणगण संयतवाक् होकर भोजन करते हैं, और अन्नका गुणागुण नहीं कहा जाता है, तबतक पितृगण ब्राह्मणमुखसे अन्नभोजन करते हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, मृत पितरोंके निमित्त ही श्राद्ध किया जाता है, जीवित पितरोंके निमित्त नहीं, और श्राद्धमें ब्राह्मणभोजन मुख्य कार्य है, क्योंकि ब्राह्मणोंके द्वारा ही पितृगण श्राद्धान्न ग्रहण करते हैं।

श्राद्धकृत्यके अनेक अंग होते हैं। यथा—पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, इष्टि श्राद्ध, अष्टका श्राद्ध, इत्यादि।

एकोद्दिष्ट श्राद्धके विषयमें श्रीमनुजीने कहा है—

एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्त्तितम्।

एक पितृके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध एकोद्दिष्ट कहलाता है। पार्वण श्राद्धमें तीन पितरोंके अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामहके श्राद्ध होते हैं। यथाः—

"त्रीनुद्दिश्य तु यच्छ्राद्धं पार्वणं मुनयो विदुः"

यज्ञारम्भमें करणीय श्राद्ध इष्टिश्राद्ध कहलाता है। पौष बदी अष्टमी, माघ बदी अष्टमी और फाल्गुन बदी अष्टमीमें करणीय श्राद्धको अष्टकाश्राद्ध कहते हैं।

शास्त्रमें श्राद्धकालके विषयमें बहुत कुछ विचार किया गया है। इसमें

पितरोंका निवासस्थान तथा पितृलोकका कालप्रमाण ही मुख्य कारण है। शास्त्रमें लिखा है--'विधूर्द्ध्वलोके पितरो वसन्ति' पितृगण चन्द्रमण्डलके ऊर्द्ध्वभागमें बसते हैं। चन्द्रलोक जलमय है, इस कारण पितृगणके निवासस्थानके विषयमें श्रीमद्भागवतके ५ म स्कन्धमें कहा है--

'उपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय लोकके ऊर्द्ध्वदेशमें अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके १८।२।४८ में लिखा है:—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा तृतीयाह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।

आकाशकी पहिली कक्षा अवमा है, वह उदन्वती अर्थात् उदकवाली है। मध्यमकक्षा पीलुमती अर्थात् परमाणुवाली है। तृतीय कक्षा प्रद्यु अर्थात् प्रकाशवाली है, जिसमें पितर लोग रहते हैं।

चन्द्रमण्डलमें रहनेके कारण हमारा एक महीना पितृलोकका एक दिन है। इसी विचारके अनुसार हम लोगोंकी अमावास्या पितृलोकका मध्याह्न है और इसी कारण अमावास्या तिथि, उसके आसपासकी तिथियां तथा अपराह्णकाल ही पितृभोजन देनेका अर्थात् श्राद्ध करनेका मुख्यकालरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। यथा मनुसंहितामें—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते।
अयुक्षु तु पितॄन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते॥

चतुर्दशीको छोड़कर कृष्णपक्षकी दशमीसे अमावास्यापर्यन्त तिथियां श्राद्धकार्यमें जितनी प्रशस्त हैं, इतनी प्रतिपदादि तिथियां नहीं हैं। द्वितीया चतुर्थी आदि युग्मतिथि तथा भरणी रोहिणी आदि युग्मनक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे सब कामना सिद्ध होती है और तृतीया पञ्चमी आदि अयुग्मतिथि तथा अश्विनी कृत्तिकादि अयुग्म नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम सन्तति प्राप्त होती

है। श्राद्धके लिये शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष जिस प्रकार विशेष फलदायक है, उसी प्रकार पूर्वाह्णसे अपराह्ण भी विशेष फलदायक है। शतपथ २।४।२८ में—

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यंदिनो मनुष्याणाम्।
अपराह्णः पितृणां तस्मादपराह्णे ददति॥

देवताओंका पूर्वाह्ण, मनुष्योंका मध्याह्न और पितरोंका अपराह्ण है, इसलिये अपराह्णमें श्राद्ध करना चाहिये। गरुड़ पुराणमें भी लिखा है—

अमावास्यादिने प्राप्ते गृहद्वारे समाश्रिताः।
वायुभूताः प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम्॥
यावदस्तगतं भानोः क्षुत्पिपासासमाकुलाः।
ततश्चास्तं गते सूर्ये निराशा दुःखसंयुताः॥
निःश्वस्य सुचिरं यान्ति गर्हयन्तः स्ववंशजम्।
तस्माच्छ्राद्धं प्रयत्नेन अमायां कर्त्तुमर्हति॥

अमावस्याके प्राप्त होनेपर पितर वायुरूप होकर श्राद्धकी अभिलाषासे घरके द्वारपर रहते हैं। जबतक सूर्य्य अस्त नहीं होता, तबतक क्षुत्पिपासासे व्याकुल होकर ठहरते हैं। परन्तु सूर्यास्त हो जानेपर निराशासे दुःखी होकर और अपने वंशजोंको शाप देते हुए पीछे चले जाते हैं। इसीलिये अमावस्यामें अवश्यमेव श्राद्ध करना चाहिये।

ऊपर वर्णित नित्य नैमित्तिक पितरोंकी सम्वर्द्धनाके अतिरिक्त श्राद्ध-कृत्यका एक विशेष फल यह है कि, इसके द्वारा प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंका प्रेतत्व नाश होता है। मृत्युके समय किस प्रकारसे काममोहादि भावके द्वारा सूक्ष्म शरीरके आच्छन्न होनेसे अथवा अपघातमृत्यु या अकस्मात मृत्यु आदिके द्वारा जीवको प्रेतयोनि प्राप्त होती है और उस योनिमें क्या क्या क्लेश जीवको भोगना पड़ता है, इसका प्रचुर वर्णन 'परलोक तत्व' में किया जायगा। प्रेतत्व प्राप्ति सूक्ष्मशरीरका एक प्रकार मूर्च्छावस्था विशेष होनेके कारण जिस प्रकार किसी मूर्छित व्यक्तिका मूर्छाभंग औषधि आदिकी शक्तिके द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार प्रेतका भी प्रेतत्व नाश मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति नामक त्रिविध शक्तियोंके यथाविधि प्रयोग द्वारा ही किया जाता है, सो किस प्रकारसे है, नीचे क्रमशः बताया जायगा।

मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरके विशेष दुर्बल तथा मूर्छाभावापन्न हो जानेके कारण मृत्युके अनन्तर समस्त अवयवोंमें परलोकगत आत्माका सहसा क्रिया-शक्तिका उदय नहीं होता है और अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति भी शीघ्र नहीं हुआ करती है। इसलिये विशेष श्राद्धकृत्यसे पहिले दश दिनोंतक अङ्ग प्रत्यङ्गपूर्तिरूपसे दश पूरकपिण्ड देनेकी विधि है, यथा अथर्ववेदीय पिण्डोपनिषद्में—

प्रथमेन तु पिण्डेन कलानां तस्य सम्भवः।
द्वितीयेन तु पिण्डेन मांसत्वकशोणितोद्भवः॥
तृतीयेन तु पिण्डेन मतिस्तस्याभिजायते।
चतुर्थेन तु पिण्डेन अस्थिमज्जा प्रजायते॥
पञ्चमेन तु पिण्डेन हस्तांगुल्य शिरोमुखम्।
षष्ठेन तु पिण्डेन हृत्कण्ठं तालु जायते॥
सप्तमेन तु पिण्डेन दीर्घमायुः प्रजायते।
अष्टमेन तु पिण्डेन वाचं पुष्यति वीर्यवान्॥
नवमेन तु पिण्डेन सर्वेन्द्रियसमाहृतिः।
दशमेन तु पिण्डेन भावानां सवनं तथा॥
पिण्डे पिण्डे शरीरस्य पिण्डदानेन सम्भवः।

प्रथम पिण्डसे कलाविकाश, द्वितीय पिण्डसे मांस त्वचा शोणितकी उत्पत्ति, तृतीय पिण्डसे मति, चतुर्थ पिण्डसे अस्थिमज्जा, पञ्चम पिण्डसे हस्त, अंगुलि, शिर और मुख, षष्ठ पिण्डसे हृदय, कण्ठ, तालु, सप्तम पिण्ड-से आयु, अष्टम पिण्डसे वाक्, नवम पिण्डसे समस्त इन्द्रियां और दशम पिण्डसे नाना भावोंका विकाश होता है। इस प्रकारसे प्रत्येक पूरक पिण्ड-दान द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति तथा श्राद्धकृत्यमें मन, मन्त्र द्रव्यके साथ अधिदैव सम्बन्ध करनेकी योग्यता परलोकगत आत्माकी हो जाती है। इसी-के बाद मनःशक्ति मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिके प्रयोगात्मक क्रियाओंका विधान किया गया है।

शास्त्रमें मनकी शक्ति अति असाधारण करके वर्णित की गई है। मन ही समस्त संसारका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता है। भागवतमें लिखा है—

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टिः ।
पश्चात् प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ॥

आदि कारण मन है, उसीके ही कार्य तथा परिणामरूप संसारबन्धन, संसारका विस्तार तथा संसारसे मुक्ति लाभ है। उपनिषद्में भी कहा है:--

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मनसे बन्धन तथा निर्विषय मनसे मोक्षलाभ होता है। मनके ही बलसे भक्तगण भगवान् तकके दर्शन कर लेते हैं। योगी मनके ही बलसे दूसरेको वशीभूत तथा कठिन कठिन रोगोंको भी आराम कर देते हैं। मनुष्यकी बात ही क्या, जङ्गलके वृहदाकार अजगर सर्पको चलनेकी शक्तिसे रहित होनेपर भी मनके ही बलसे निरन्तर चिन्ता द्वारा मृग आदि आहार्य वस्तुओंको आकर्षण करते हुए देखा गया है। श्राद्धधर्ममें प्रेतात्मापर इसी मनःशक्तिका प्रयोग होता है। प्रथमतः अशौचके दिनोंमें संयम, ब्रह्मचर्य्यरक्षा, स्पृश्यास्पृश्यविचार, सदाचारपालन आदिके द्वारा मनमें यथेष्ट बल संचय किया जाता है। तदनन्तर चिन्ताशक्तिके द्वारा--'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि भावसे परलोकगत आत्मीय जनोंको श्राद्धस्थानमें बुलाया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जहां पर आत्मा तथा मनका स्वाभाविक मेल है, वहां एक मनकी चिन्ताका तरङ्ग अनायास ही अन्य मनपर घात प्रतिघात उत्पन्न कर सकता है। एक घरमें पांच सितार एक सुर मिलाकर एकके बजानेसे और चार बिना बजाये स्वयं ही बजने लगते हैं। क्योंकि सुर मिले रहनेसे एकका कम्पन वायुतरंग द्वारा वाहित होकर अन्य यन्त्रोंपर भी प्रभाव विस्तार कर देता है। जब जड़ यन्त्रोंमें इतनी शक्ति है, तो चेतन मनकी बात ही क्या है। शास्त्रमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा पुत्रको पिताका आत्मा ही कहा गया है। उसमें भी ज्येष्ठ पुत्र धर्मज पुत्र होनेसे पिता माताके साथ उसका विशेष स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस प्रकार पुत्र जब अशौचावस्थामें मनःशक्ति विशेषरूपसे सम्पादन करके परलोकगत पिता-मातादिका चिन्तन तथा आवाहन करेगा, तो उससे परलोकगत आत्माको अवश्य ही

विशेष लाभ पहुँचेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही कारण है कि, श्राद्धमें कुटुम्बभोजन तथा निकटस्थ सद्ब्राह्मणभोजनकी विधि है। यथा—

सम्बन्धिनस्तथा सर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तथा।
भागिनेयं विशेषेण तथा बन्धून् गृहाधिपान्॥
यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतिताद्दते।
दूरस्थं भोजयेन्मूढ़ो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत्॥

सब कुटुम्बी, विशेषकर दौहित्र, भगिनीपति, भागिनेय और गृहस्वामीके बन्धुवर्ग—ये ही सब श्राद्धभोजनमें निमन्त्रण देनेके लिये प्रशस्त हैं। जो निकटस्थ उत्तम ब्राह्मणको छोड़कर दूरस्थ ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह नरकगामी होता है। इसी कारण मनुजीने भी अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥

श्राद्धमें प्रयोजन होनेपर मित्रभोजन भी अच्छा है, किन्तु विद्वान् होनेपर भी शत्रुभोजन श्राद्धमें कभी नहीं कराना चाहिये, क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण उससे परलोकगत आत्माका कोई भी कल्याण नहीं होता है।

कुटुम्बभोजनकी तरह ब्राह्मण-भोजनकी जो बड़ी महिमा श्राद्धकृत्यके अङ्गरूपसे आर्यशास्त्रमें बताई गई है, उसके भी मूलमें मनःशक्ति प्रदानका ही रहस्य भरा हुआ है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

निमन्त्रितान् तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥

परलोकगत पितर या आत्मा निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरोंमें वायुशरीर धारण करके समाविष्ट होते हैं, इनका अनुगमन करते हैं तथा इनके बैठनेपर बैठते हैं। इस प्रकारसे ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणोंके द्वारा परलोकगत आत्माका श्राद्धकालमें भोजन भी मनुजीने बताया है। वेदमें भी—

इदमोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥
४-३४-८,

इस अन्नको मैं ब्राह्मणोंके समीप रखता हूँ, यह विस्तृत है, लोकजित् है, स्वर्गमें पहुंचनेवाला है। जलके द्वारा वृद्धिगत यह अन्न मुझे कामधेनु-तुल्य फल दे। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ३३ में स्पष्ट ही लिखा है कि, भगवान् रामचन्द्र जब पिता दशरथका श्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करा रहे थे, तो सीतामाता ब्राह्मणोंके साथ श्वशुर दशरथको देखकर लज्जिता हो छिप गई थीं।

'पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव।'

इसलिये यह बात निश्चय है कि, श्राद्धभोजी ब्राह्मण यदि तपस्वी और संयमी होंगे तभी प्रेतसमाविष्ट श्राद्धान्नको पचा सकेंगे और भोजनपरितृप्त होकर आशीर्वाद तथा मन्त्रशक्ति और तपःशक्ति प्रदान द्वारा परलोकगत आत्माका कल्याण कर सकेंगे। अन्यथा असंयमी ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन देनेसे पितर या प्रेतका तो कोई कल्याण होता ही नहीं, अधिकन्तु प्रेतसमावेश द्वारा श्राद्धभोजी अधम ब्राह्मणकी और भी अधोगति होती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुजीने बार बार अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है। यथा—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः॥

पूज्यतम श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको ही हव्यकव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि इनको देनेसे ही महाफललाभ होता है। दैव या पितृकर्ममें इस प्रकार एक विद्वान्‌के भोजन करानेपर भी यथेष्ट फल लाभ होता है, किन्तु वेदज्ञानहीन अनेक ब्राह्मणोंको भोजन करानेपर भी कुछ फल नहीं मिलता है। वेदज्ञानहीन दश लक्ष ब्राह्मण जिस श्राद्धमें भोजन करें वहां यदि वेदज्ञ एक ब्राह्मण भी भोजन द्वारा तृप्त किये जायं तो धर्मतः एकसे दश लक्षका काम हो जाता है। चन्द्रलोकवासी पितरोंके साथ मानसिक क्रियाओंका विशेष सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। वेदमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्रके द्वारा विराट् मनके

साथ चन्द्रलोकका नैसर्गिक सम्बन्ध बताया गया है। समस्त व्यष्टि मन समष्टि मनका ही अंशरूप होनेसे श्राद्धकालमें व्यष्टि मनमें उत्पन्न भावतरङ्ग समष्टि मनःसमुद्रमें भी हिल्लोल उत्पन्न करके सुदूर सूक्ष्मलोकमें पितरोंके मनपर प्रभाव विस्तार कर सकेगा, इसमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ भी सन्देह नहीं रह सकता है। अतः श्राद्धकृत्यमें मनः शक्ति प्रयोग विज्ञानसिद्ध है। गृहस्थोंकी तरह संसारत्यागी सन्न्यासी भी मनोबल तथा आत्मबल द्वारा अपने वंशज पितरोंका कल्याण करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेष सहायता करते हैं। किन्तु उनके मन तथा आत्मामें विशेष शक्ति होनेके कारण उन्हें गृहस्थोंकी तरह स्थूल श्राद्धविधियोंका आश्रय लेना नहीं पड़ता है। वे मृत पितरोंको स्मरण करके मनोबल तथा आत्मबल द्वारा सूक्ष्मरूपसे ही सब कुछ कर देते हैं। यही कारण है कि, शास्त्रमें वर्णन देखनेमें आता है कि, जिस वंशमें एक साधुपुत्र उत्पन्न होता है, उसके आगे पीछे चतुर्दश पुरुष या इक्कीस पुरुष उद्धारको पा जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके प्रति नरसिंह भगवान्का वाक्य है—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ! ।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः ॥

हे प्रह्लाद ! केवल तुम्हारा पिता ही नहीं, किन्तु इक्कीस पुरुषतक तुम्हारे वंशके पितृगणका उद्धार हो जायगा, जहां पर तुम जैसे साधु पुत्र उत्पन्न हुए हो। यही सब श्राद्धमें मनःशक्तिका प्रभाव है।

मनःशक्तिकी तरह मन्त्रशक्तिके द्वारा भी परलोकगत आत्माओंको विशेष शान्ति तथा उन्नतिमें सहायता मिलती है और प्रेतोंका प्रेतत्व नाश भी मन्त्रबलसे विशेषरूपसे होता है। मन्त्र क्या वस्तु है, वैराज्यके साथ मन्त्रोंका क्या क्या सम्बन्ध है, आदिमन्त्र प्रणवसे प्राकृतिक क्रम-स्पन्दन द्वारा अन्यान्य समस्त मन्त्रोंका किस प्रकारसे विकाश होता है, इसका यथेष्ट वर्णन पहले ही किया गया है, अतः यहांपर उसकी पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। संसारमें शब्दकी महिमा अपार है। शब्दहीके उपयोग-तारतम्यसे शत्रु भी मित्र होते हैं और मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, लक्षलक्ष मनुष्योंपर विजलीकी तरह शक्तिसंचार तथा प्रभावविस्तार हो जाता है, मनुष्य प्राण देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, और प्राण लेनेके लिये

भी तैयार हो जाते हैं, वनके मृग भी व्याधकी वीणाके शब्दके द्वारा वशीभूत होकर प्राण दे देते हैं और कालसर्प भी डमरूके शब्द प्रभावसे ही वशीभूत हो जाता है। अतः जब स्थूल शब्दका ही इतना प्रत्यक्ष प्रभाव है तो सूक्ष्म दिव्यशब्दरूप मन्त्रोंका असाधारण प्रभाव होगा,इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है, क्योंकि वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ जाया करती है। स्थूल वस्तु पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्वके परिणामरूप सूक्ष्म शरीर तथा मनका विलक्षण ही प्रभाव है। इसी विज्ञानपर ही प्रतिष्ठित होकर अणुविश्लेषण (dilution) द्वारा होमिओपैथिक चिकित्साशास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तिकी औषधि बनाई जाती है और यह भी विज्ञान जगत्ने आजकल प्रमाणित कर दिखाया है कि, जबतक अणु अणुसे मिला रहता है, तभीतक उनमें स्वाभाविक शक्तिका ठीक विकाश नहीं होता है, नहीं तो पृथक् पृथक् एक एक अणुमें समस्त संसारके भीतर प्रलय मचा देनेकी शक्ति विद्यमान है। अतः विचार द्वारा सिद्धान्त हुआ कि, स्थूल शब्दकी अपेक्षा दिव्य शब्द मन्त्रोंके भीतर अधिक तथा असाधारण शक्ति विद्यमान है। इस कारण श्राद्धमें इन मन्त्रोंको श्राद्धकर्त्ता संयत होकर परलोकगत आत्माओंपर जितना ही प्रयोग करेंगे उतना ही उनकी प्रेतत्वमुक्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति या शान्तिके लाभमें सुविधा होगी—इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। शास्त्रमें 'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः' अर्थात् प्रणवको सब मन्त्रोंका चालक कहा गया है। इसलिये प्रणवके साथ अन्यान्य मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे प्रणव उन मन्त्रोंको चालित करके जहांपर जिस लोकमें परलोकगत आत्मा विराजमान हैं वहीं ले जाकर अभीष्ट फल प्रदान करानेमें सहायता कर देगा, इसमें भी संशय नहीं है। यही श्राद्धधर्में मन्त्रशक्ति प्रयोगका उपयोग तथा रहस्य है। इस प्रकारसे मन्त्रकी दिव्यशक्तिके प्रयोगके साथ साथ और भी अनेक दिव्य शक्तिकी सहायता श्राद्धकृत्यमें परलोकगत आत्माको पहुंचायी जाती है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥

अर्थात् श्राद्धकालमें ब्राह्मणोंको वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा श्रीसूक्तादि सुनाने चाहिये। और भी—

'ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितृणामेतदीप्सितम्'

ब्राह्मणभोजनके समय आध्यात्मिक आलाप पितरोंको प्रीतिप्रद होता है। इसके सिवाय कठोपनिषद्का प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है कि, नचिकेताकी कथा श्राद्धकालमें सुनानेसे परलोकगत आत्माकी उन्नति होती है। यही सब श्राद्धकृत्यमें दिव्य शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा पितर तथा प्रेतात्माको सहायता पहुँचानेके उपाय हैं। श्राद्धमें तीर्थ, गया, गंगा और गदाधरकी बड़ी महिमा बताई गई है। काशीखण्डमें लिखा है—

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धं च तर्पणम्।
अविलम्बेन कर्त्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत्॥

कालका विचार कुछ भी न करके तीर्थमें श्राद्ध तर्पण करना चाहिये। महर्षि हारीतने कहा है—

दिवायां यदि वा रात्रौ भुङ्क्ते चोपापितोऽपि वा।
न कालनियमस्तत्र गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥

दिन हो या रात्रि हो, भोजन किये हुए हो या उपवासी हो, प्रधान नदी गंगाको पानेसे कोई भी कालनियम नहीं रखना चाहिये। और भी—

'गयां प्रसंगतो गत्वा मातुः श्राद्धं समाचरेत्'

गया जानेपर अन्यान्य श्राद्धके अतिरिक्त मातृश्राद्धको अवश्य ही करना चाहिये। मत्स्यपुराणमें लिखा है—

एषु तीर्थेषु यच्छ्राद्धं तत् कोटिगुणमिष्यते।
यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन तीर्थे श्राद्धं समाचरेत्॥

तीर्थोंमें श्राद्ध करनेसे कोटिगुण फल लाभ होता है। इस कारण यत्नके साथ तीर्थमें श्राद्ध अवश्य ही करना चाहिये। नित्य तीर्थोंमें दिव्यशक्तिका नित्य विकाश है, नैमित्तिक तीर्थोंमें दैवशक्तिका नैमित्तिक विकाश है, गया धाममें पौराणिक प्रमाणके अनुसार गयासुरके सम्बन्धसे प्रेतादिकल्याणकारी अति दिव्य शक्तिका सदैव विकाश है, गंगा माता अलौकिक ज्ञानशक्ति तथा दिव्य शक्तिधारिणी हैं, विष्णु भगवान् यज्ञेश्वर होनेसे सकल देव कर्मोंमें सफलता देनेवाले हैं। यही कारण है कि, शास्त्रोंमें परलोकगत पितरोंको शान्ति, उन्नति तथा दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति प्रदानके लिये तीर्थ,

गया, गंगा और गदाधरकी विशेष शरण लेनेकी आज्ञा की गई है। यही सब श्राद्धकृत्यमें मन्त्रशक्ति तथा दिव्यशक्ति द्वारा सहायता देनेके दृष्टान्त हैं।

तृतीयतः द्रव्यशक्ति द्वारा भी प्रेतात्मा तथा पितरोंको बहुत कुछ सहायता मिलती है। संसारमें द्रव्यशक्तिकी भी महिमा मन्त्रशक्तिकी तरह अपूर्व है। प्रत्येक द्रव्यके ही भीतर जीवनदानकारी अथवा प्राणस्पन्दनकारी कुछ न कुछ वैद्युतिक शक्ति देखी जाती है। उन सब द्रव्योंके रासायनिक संमिश्रण द्वारा वैद्युतिकशक्तिको प्रकट करके तार द्वारा संबाद भेजना, पंखा चलाना, प्रकाश कर देना, गाड़ी चलाना आदि प्रक्रिया तो आजकल वैज्ञानिक जगत्की विशेष सम्पत्ति ही बन बैठी है। किन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा विशेष विशेष द्रव्योंके भीतर स्थूल शक्तिके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मशक्तिका भी अनुभव किया था और तदनुसार उन शक्तियोंकी सहायतासे पितृलोक, प्रेतलोक और देवलोकसे दैवसम्बन्ध स्थापन कैसे कैसे हो सकता है सो भी बताया था। इस प्रकार द्रव्यान्तर्गत सूक्ष्मशक्तिके प्रभावसे परलोकगत आत्माओंको श्राद्धस्थानमें आकर्षण, उन्हें तृप्ति प्रदान, सहायता प्रदान, प्रेतयोनि प्राप्त जीवोंका प्रेतत्वनाश आदि अनायास ही हो सकता है। और इसी कारण मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें इनके प्रयोगका तथा विशेष विधियों द्वारा इनके परस्पर संमिश्रणका प्रकार बताया गया है। श्राद्धमें कुश, तिल, आदिकी विशेष महिमा तो पहले ही बताई गई है। इसके सिवाय ताम्र, रौप्य आदि विद्युत् शक्तिमय धातुओंकी भी विशेष प्रशंसा की गई है। यथा मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें—

राजतैर्भाजनैरेषामथवा राजतान्वितैः।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥

रौप्यमय पात्र अथवा रौप्ययुक्त ताम्रादि पात्रमें पितरोंको श्रद्धापूर्वक जलदान करनेपर भी वह उनकी अक्षयतृप्तिका कारण होता है। खाद्य पदार्थोंके विषयमें देशकाल पात्र भेदसे आमिषका भी कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है। यथा अथर्ववेद १८।४।४२ में—

यं ते मंथं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युतः॥

इस मन्त्रमें फल, अन्न और मांस किसी एकके द्वारा अपनी रुचि अनुसार श्राद्ध करना बताया है। 'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः' इसी

कारण वेद तथा मनुमें ऐसा विधान है। तथापि निरामिषकी ही सबसे अधिक महिमा बताई गई है। यथा—

यत् किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद्व वर्षासु च मघासु च॥
अपि नः स कुले जायाद्व यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिभ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥

वर्षाकालमें जब मघानक्षत्रके साथ एकादशीका योग हो, उस दिन पितरोंको मधुमिश्रित अन्न प्रदान करनेपर वह उनकी अक्षय तृप्तिका कारण होता है। पितृगण प्रार्थना करते हैं कि, उनके वंशमें कौन ऐसा कुलभूषण उत्पन्न होगा, जो मघात्रयोदशीको या जिस समय हस्तीकी छाया पूर्व दिशाको आवे, उस समय उनको घृत मधु मिश्रित पायसान्न द्वारा परितृप्त करें। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें द्रव्यशक्तिकी पितृलोकतृप्तिकारिणी परममहिमा बताई गई है। यही आर्य्यशास्त्रानुसार प्रेतत्वनाश तथा पितरोंकी तृप्ति और उन्नतिके अर्थ मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिका विविध विधिके अनुसार प्रयोग-रहस्य है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस प्रकार श्राद्धान्न दानका उपयोग तभी तक होना चाहिये, जबतक परलोकगत आत्माका मृत्युलोकमें पुनर्जन्म न हो गया हो। किन्तु जन्म हो जानेपर इन अन्नोंका क्या उपयोग है और ये सब अन्न उनको प्राप्त भी कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, श्राद्ध सङ्कल्प-प्रधान तथा मनःशक्ति-प्रधान होनेसे सूक्ष्मजगत्में सङ्कल्पशक्ति द्वारा पितरोंकी तृप्ति और जन्म हो जानेपर भी उसी जन्ममें आध्यात्मिकादि उन्नतिका कारण बनता है। इस विषयमें हेमाद्रिमें उत्तम प्रमाण मिलता है। यथा—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।

दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ॥
मानुषत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत् ॥

पिताने यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न अमृतरूप होकर उन्हें मिलेगा। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्ष-योनिमें मद्यरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांसरूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे और मनुष्ययोनिमें अन्नादि विविध भोज्यरूपसे श्राद्धान्न प्राप्त होता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, सङ्कल्पित पदार्थ तथा सङ्कल्पशक्तिके द्वारा सभी योनियोंमें जीवोंको शान्ति तथा उन्नति मिल सकती है। वास्तवमें प्रत्येक जन्मकी उन्नति या अवनतिके साथ निजकृत कर्म-सम्बन्धके अतिरिक्त जन्मजन्मान्तरलब्ध आत्मीय जनोंकी सङ्कल्पशक्ति, आशी-र्वादशक्ति तथा क्रियाशक्तिका भी बहुत कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, जिसको सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ही जानकर तत्त्वनिर्णय कर सकते हैं। अतः इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंमें शंका करना निरर्थक है।

पहिले ही कहा गया है कि, श्राद्धकृत्यमें नित्य नैमित्तिक पितरोंकी तृप्ति-साधनके अतिरिक्त समस्त संसारकी तृप्तिसाधन द्वारा व्यष्टि समष्टि सत्ताके एकीकरणके लिये भी अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अब उपसंहारमें उन्हीं सब अनुष्ठानोंके प्रमाणभूत कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। पिण्डदान-प्रकरणके अन्तर्गत षोड़श पिण्डदान प्रयोगमें जो जो मन्त्र पितरोंके आवाहन तथा सम्बर्धनके लिये कहे जाते हैं, उन सभीमें यह उदारव्यापकभाव भरा हुआ है। इसमें प्रथमतः बिछाये हुए कुशाके ऊपर तिलयुक्त जलके द्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा—

ॐ अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥
ॐ मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥
ॐ बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥

इस प्रकारसे अपने कुल, मातामह कुल और बन्धुवर्गके कुलमें जिनकी सद्गति नहीं हुई है, उन पितरोंका आवाहन किया जाता है। तदनन्तर तिल-सहित जलाञ्जलि लेकर नीचेके मन्त्रसे कुशापर देना होता है। यथा—

ओं आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृ-मातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥

इन मन्त्रोंमें समस्त विश्व तथा उसमें अवस्थित देव, मानवादि सकल योनियोंके जीवोंकी तृप्तिके अर्थ प्रार्थना की गई है।

अतः आर्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्य एक सर्वाङ्गीण मंगलमय अति पवित्र तथा महान् कृत्य है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहा। इस कृत्यके द्वारा नियमितरूपसे सम्वर्द्धित होनेपर पितृगण प्रीत होकर गृहस्थोंको क्या क्या देते हैं, इस विषयमें मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है यथा—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥ (३२।३८)

श्राद्धतृप्त पितृगण श्राद्धकर्त्ताको दीर्घायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्षप्रदान करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं नृणां प्रीताः पितामहाः॥ (२७०)

अतः गृहस्थमात्रको इस प्रकार अभ्युदयनिःश्रेयस सहायक पवित्र-कृत्यका नियमित अनुष्ठान करना अवश्य कर्तव्य है। यही आर्य्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्यका संक्षिप्त रहस्यवर्णन है। अतःपर नीचे तर्पणकी संक्षिप्त विधि बतायी जायगी।

'पितृयज्ञस्तु तर्पणम्'

ऐसा कहकर श्रीभगवान् मनुने पितरोंकी तृप्तिके अर्थ मन्त्रसहित जलादि प्रदानको ही तर्पण कहा है। तथापि जिस प्रकार श्राद्धमें भी देवताओंका आवाहन पूजन होता है, उसी प्रकार तर्पणमें भी देवता ऋषि और पितर तीनोंके ही निमित्त तर्पण किये जाते हैं। यथा शातातप—

तर्पणन्तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम् ॥

शुचिताके साथ प्रत्यह स्नातक द्विजको यथाक्रम देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये।

विशेषतस्तु जाह्नव्यां सर्वदा तर्पयेत् पितॄन्।
न कालनियमस्तत्र क्रियते सर्वकर्मसु ॥
तिथितीर्थविशेषे च गयायां पितृपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम् ॥

विशेषतः गंगामें सर्वदा पितरोंका तर्पण करना चाहिये। उसमें काल-का नियम नहीं है। विशेष तिथिमें, विशेष तीर्थमें, पितृपक्ष आनेपर गयामें निषिद्ध दिनमें भी तिलमिश्रित तर्पण करना चाहिये। अब नीचे संक्षेपसे तर्पणोंकी विधियां बताई जाती हैं।

तर्पण करनेवाला स्नान संध्या आदिसे निवृत्त हो, दो वस्त्र धारणकर, मृत्तिका या भस्म लगा तीन आचमन या प्राणायामके अनन्तर कुश तथा जल लेकर—

अमुकगोत्रोऽमुकशर्माहं वेदवोधितपञ्चमहा-
यज्ञान्तर्गतदेवर्षिपितृतर्पणमहं करिष्ये।

इस प्रकारसे संकल्प करे। फिर पवित्र मोटक हाथमें लेकर हाथ जोड़ नीचे लिखे मन्त्रसे देवताओंका आवाहन करे। यथा—

ओं विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्। इदंवर्हिर्निषीदत।

अनन्तर एक तांबेके पात्रमें पूर्वाग्र कुश धर, पूर्वाभिमुख हो देवतीर्थसे चावलसहित जलकी प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें एक एक अंजलि छोड़ता जाय।

ओं ब्रह्मा तृप्यताम्, ओं विष्णुस्तृप्यताम्, ओं रुद्रस्तृप्यताम्, ओं प्रजापतिस्तृप्यताम्, ओं देवास्तृप्यन्ताम्, ओं छन्दांसि तृप्यन्ताम्, ओं वेदास्तृप्यन्ताम्,··· ओं पर्वतास्तृप्यन्ताम्,··· ओं ओषधयस्तृप्यन्ताम्, ओं भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम्।

अनन्तर हाथ जोड़कर उत्तराभिमुख बैठ नीचे लिखे मन्त्रसे ऋषियोंका आवाहन करे।

ओं सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतोलोकमीयु तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्ररुदौ च देवौ॥

फिर यज्ञोपवीतको कण्ठमें कर जलमें यव मिला एक एक ऋषिको दो दो अंजलि अगले मन्त्रोंसे उत्तरको मुखकर देवे। यथा—

ॐ सनकस्तृप्यताम्, ॐ सनन्दनस्तृप्यताम्, ॐ सनातनस्तृप्यताम्, ॐ कपिलस्तृप्यताम्, ॐ आसुरिस्तृप्यताम्, ॐ वोढुस्तृप्यताम्, ॐ पञ्चशिखस्तृप्यताम्।

फिर अपसव्य हो अर्थात् यज्ञोपवीतको दक्षिण स्कन्धके ऊपर तथा वाम बाहुके नीचे करके दक्षिणाभिमुख हो निम्नलिखित मन्त्रसे पितरोंका आवाहन करे। यथा—

आयन्तु नः पितरः सोमयासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

तदनन्तर जलमें तिल मिला पितरोंको तीन तीन अञ्जलि देवें। यथा—

ॐ कव्यवाडनलस्तृप्यताम्, ॐ सोमपास्तृप्यन्ताम्, ओं यमस्तृप्यताम्, ओं अर्यमा तृप्यताम्, ओं अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं यमाय नमः, ओं धर्मराजाय नमः, ओं मृत्यवे नमः, ओं अन्तकाय नमः, ओं वैवस्वताय नमः, ओं कालाय नमः, ओं सर्वभूतक्षयाय नमः, ओं औदुम्बराय नमः, ओं दध्नाय नमः, ओं नीलाय नमः, ओं परमेष्ठिने नमः, ओं वृकोदराय नमः, ओं चित्राय नमः, ओं चित्रगुप्ताय नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पिता तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पितामहस्तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा प्रपितामहः तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

अनन्तर ऊपरलिखित रीतिके अनुसार माता, पितामही और प्रपितामहीको तीन तीन अञ्जलि देवे।

अनन्तर तीन तीन अञ्जलि मातामह, प्रमातामह, तथा वृद्ध प्रमातामहको देवे और मातामही, प्रमातामही, वृद्धप्रमातामहीको एक एक अञ्जलि देवे, उसमें मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमातामहके अञ्जलिदानमें एक बार मन्त्र पढ़े दो बार वाक्यमात्र पढ़े।

इसके अनन्तर और सम्बन्धियोंको जिनको जलदान करना उचित हो, उनका गोत्र और नाम लेकर एक एक अञ्जलि देनी चाहिये। यह सब कृत्य हो जानेपर स्नान वस्त्रको वाम भागमें—

ये के चास्मत् कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम्॥

इस मन्त्रसे निचोड़ कर, सव्य हो, आचमन करके, चन्दन अक्षत पुष्प जलमें मिलाकर अर्घपात्रमें या अञ्जलिमें लेः—

ओं नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने॥

इस मन्त्रसे सूर्य्यनारायणको अर्घ देकर तीन प्रदक्षिणा और नमस्कार करकेः—

'ओं देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमितः'

इस मन्त्रसे विसर्जन करना होता है। यही कात्यायनप्रोक्त तर्पण-विधि है।

जिस प्रकार श्राद्धकृत्यके भीतर व्यापक भाव भरा हुआ है, उसी प्रकार तर्पणमें विश्वतृप्तिका अमोघ सम्बन्ध देखनेमें आता है। इस कारण अपने निकटस्थ तथा दूरस्थ आत्मीयोंके तर्पणके अनन्तर निम्नलिखित नामसे भी तर्पण किये जाते हैं। यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धा कुष्माण्डास्तरवः खगाः॥

जलेचरा भूमिलया वायुधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥

इस मन्त्रके द्वारा पूर्वमुख होकर देवता, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कुष्माण्ड, तरु, पक्षी तथा जलचर, स्थलचर, व्योमचर सभी जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। तदनन्तर—

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्द् दीयते सलिलं मया॥

इस मन्त्रसे दक्षिणाभिमुख होकर नरकस्थ समस्त जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर—

येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलं यान्तु यश्चास्मत्तोऽम्बु वाञ्छति॥

इस मन्त्रसे अबान्धव, बान्धव, जन्मान्तरके बान्धव तथा हरेक जल चाहनेवालेकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर आदित्यपुराणमें अवसानाञ्जलिरूपसे भी दो मन्त्र कहे गये हैं यथा—

यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृषोपहतात्मनाम्।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।
तेषां तु दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥

यह अञ्जलि जहां कहीं कोई क्षुधा तृष्णासे पीड़ित जीव हो तथा अपने ही कुलमें लुप्तपिण्ड पुत्रदारवर्जित हो उसकी अक्षय तृप्तिके लिये दी जाती है। अवसानाञ्जलिके अन्तमें पितामह भीष्मदेवके लिये भी तर्पण किया जाता है यथाः—

वैयाघ्रपादगोत्राय सांकृत्यप्रवराय च।
गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम्॥
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे॥

भीष्मदेवने नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेके कारण प्रजातन्तुका विस्तार नहीं

किया था, इस कारण उनके नताहूप संसारके सभी जीव उनकी तृप्तिके लिये तर्पण करते हैं, यही सब विस्तारित तर्पणविधि है। जो इसके करनेमें असमर्थ हो, उसके लिये निम्नलिखित मन्त्रोंसे संक्षिप्त तर्पणविधि भी आर्यशास्त्रमें बताई गई है यथा—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥
एकं जलाञ्जलिं दद्यात्कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

और भी विष्णुपुराणमें—

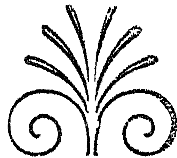
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन्।
क्षिपेत्पयोऽञ्जलीं स्त्रींस्तु कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

इस मन्त्रसे आब्रह्मस्तपर्यन्त समस्त विश्वके निखिल प्राणियोंकी तृप्तिके लिये एक अञ्जलि या तीन अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। यही संक्षिप्त तर्पण है। इन सब तर्पणोंका फल क्या है सो भी शास्त्रमें लिखा है यथा—

एवं यः सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्त्तिमनामयम्॥

सकल जीवोंकी तृप्तिके लिये नित्य नियमित रूपसे जो तर्पण करते हैं उनको अनामय, तेजोमय, परमधाम प्राप्त होता है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्ध तथा तर्पणका रहस्य वर्णन है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे सप्तमकिरणः।



अष्टम किरण

सदाचार।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको सदाचार कहते हैं। केवल शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा व्यायामादि अङ्गसञ्चालनमात्र है। उससे स्थूल शरीर पुष्ट तथा सबल होनेपर भी आत्मोन्नतिके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इस कारण कोरे शारीरिक व्यापारको आचार या सदाचार नहीं कह सकते। शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा जब धर्मानुकूल तथा किसी प्रकार धर्मलक्ष्यको लेकर होता है तभी उसके द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंकी उन्नति और साथ ही साथ आत्माकी भी उन्नति होती है। इसी कारण धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको आचार कहा गया है। आचारके साथ धर्मका एतादृश सम्बन्ध रहनेके कारण ही आर्यशास्त्रमें आचारको 'प्रथमधर्म' भी कहा है और 'परमधर्म' भी कहा है। यथा मनुसंहितामें—

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

श्रुति स्मृतिमें उपदिष्ट आचार प्रथम धर्म है। द्विजगणको सदा आचारयुक्त होकर आत्मोन्नतिशील होना चाहिये। इसी प्रकार काशीखण्डमें भी लिखा है यथा—

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।
आचाराद्‌ वर्द्धते ह्यायुराचारात् पापसंक्षयः॥

आचार परमधर्म है, आचार परमतप है, आचारसे आयुर्वृद्धि तथा पापनाश होता है। जीवके अस्तित्वमें भौतिक स्थूलशरीर प्रथम है और आचारका साक्षात् सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ ही है तथा इसीके पवित्र होनेसे ही सूक्ष्मशरीर आदिका आध्यात्मिक पवित्रतासाधन होता है, इसलिये श्रीभगवान् मनुने आचारको प्रथम धर्म कहा है। बिना आचारवान् हुए कोई भी आत्मोन्नति फलवती नहीं होती है, इस कारण आचारको आर्यशास्त्रमें 'परमधर्म' भी कहा है, यथा मनुसंहितामें—

आचाराद्द विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेदका फललाभ नहीं कर सकते हैं, केवल आचारवान् होकर ही सम्पूर्ण वेदके फलभोगी होते हैं। इस तरहसे आचार द्वारा धर्मप्राप्तिको जानकर मुनियोंने आचारको ही सकल तपस्याका मूल तथा परम धर्म करके ग्रहण किया है। अतः सिद्ध हुआ कि, आचार प्रथम धर्म भी है और परमधर्म भी है।

अब द्विजमात्रके सेवनीय कुछ दैनन्दिन सदाचारोंका वर्णन किया जाता है। सदाचारोंमें प्रथम कृत्य ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या-त्याग है। ब्राह्ममुहूर्त्तके विषयमें शास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं।

ढाई घड़ीका एक घण्टा होता है। रात्रिके अन्तकी चार घड़ियोंमेंसे पहली दो घड़ियोंको ब्राह्ममुहूर्त्त और पिछली दो घड़ियोंको रौद्रमुहूर्त कहते हैं। इसी ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या-त्याग देनी चाहिये। आर्य्यशास्त्रोंमें ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग करनेकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। इसका कारण यह है कि, ब्राह्ममुहूर्तमें श्रीसूर्य्यभगवान् समस्त रात्रिके पश्चात् अपनी ज्योति और शक्तिका विस्तार करते हैं, अतः उसी समय जागनेपर श्रीसूर्य्यभगवान्‌की शक्तिसे अपनी क्षुद्रशक्ति बहुत बढ़ जाती है और उनकी ज्योतिके प्रभावसे मन और बुद्धि आलोकित होती है, तथा मन, बुद्धि और शरीरमें रात्रिके प्रभावसे जो कुछ जड़ता आगई थी, सूर्य्यकी शक्ति और ज्योतिके प्रभावसे वह हटकर नवजीवन प्राप्त होता है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेको उपदेश करनेमें महर्षियोंका यही अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणीके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें जाग्रत होना स्वाभाविक और ईश्वरकी आज्ञाके अनुकूल है। पशुपक्षी भी इसी समय जागकर मधुर कलरव करते हैं। अतः ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या-त्याग देना उचित है। प्राणकी देवता श्रीसूर्य्यभगवान् हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें उनके महाप्राणके साथ अपने प्राणोंको मिलाकर मन ही मन उनको प्रणाम करते हुए 'ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी' आदि स्तोत्रपाठ करना चाहिये।

इन सब स्तोत्रोंका पाठ तथा अर्थचिन्तन और मनन द्वारा कैसे मनुष्य-

शरीरकी समस्त चेष्टा भगवत्कार्य्यरूपमें परिणत हो आध्यात्मिक उन्नतिप्रद हो जाती है सो स्तवोंके अर्थपर विचार करनेसे सभीको प्रतीत हो सकता है।

अतः ब्राह्ममुहूर्तमें शय्यात्यागपूर्वक ऊपर कथितरूपसे स्तवपाठ करना विशेष लाभजनक है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे और भी कतिपय लाभ हैं। सारी रात चन्द्र और नक्षत्रोंके किरणोंके साथ जो अमृत बरसता रहता है, उषाकालमें उसीको लेकर वायु प्रवाहित होता है। उस अमृत भरे वायुको 'वीरवायु' कहते हैं। वह वीरवायु शरीरमें लगनेसे शरीरके बलकी वृद्धि होती है, मुखकी कान्ति बढ़ती है, बुद्धि सतेज होती है, मन प्रफुल्ल और शरीर नीरोग होता है। हमारे सांसारिक पिताको छोड़कर पितृलोकमें अनेक प्रकारके पितृगण होते हैं। प्रातःकालमें पितृगण प्रसन्न होते और उनके बलकी वृद्धि होती है। वही बल वे संसारमें प्रचारित करते हैं। इस कारण ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेपर पितृगणका बल प्राप्त होता है, जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और शक्ति बढ़ती है। यही सब शीघ्र शय्या-त्यागकी महिमा है।

उपर्युक्त नियमानुसार शय्यात्याग करनेके बाद 'प्रियदत्तायै भुवे नमः' इस मन्त्रसे पृथिवीदेवीको नमस्कार करना चाहिये और तदनन्तर मुख-प्रक्षालन करके मलमूत्र विसर्जनार्थ जाना चाहिये। 'जब मलमूत्रका वेग होगा, तभी उनका विसर्जन करेंगे, प्रातःकालमें ही क्योंकर किया जाय' इस प्रकारकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रातःकालमें ही मलमूत्र त्याग करनेसे शरीर अधिक नीरोग रह सकता है। जीवशरीरका यह स्वभाव है कि, भीतर चेष्टा होते ही शारीरिक रसका शोषण होने लगता है। अतः यदि प्रातःकालमें पहिले शौच न कर कोई दूसरे काममें लग जाय, तो मलका दूषित रस रक्तमें मिल जायगा, जिससे मल कठिन होकर अनेक प्रकारकी पीड़ाएं उत्पन्न होंगी, मलका दूषित रस रक्तमें मिलनेसे रक्त विकार होंगे, रक्त दूषित होनेसे फोड़े, खुजली आदि रोग होंगे और शरीर तथा मुख दुर्गन्धयुक्त बना रहेगा, इसलिये शय्या-त्याग करते ही मलमूत्र विसर्जन करना आवश्यक है। मनुष्य अभ्यासका दास होता है। थोड़ी चेष्टा करनेसे ही इस प्रकारका अभ्यास हो जायगा। पहिलेसे अभ्यास न हो, तो प्रारम्भमें कुछ दिन योंहीं यथासमय शौचगृहमें जा बैठना चाहिये। क्रमशः अभ्यास हो जायगा। जो

मनुष्य मलमूत्रके वेगको रोकते हैं, उनको नाना प्रकारके रोग होते हैं। अतः कभी मलमूत्रके वेगको रोकना न चाहिये। मलमूत्र त्यागका नियम यह है कि, प्रथम मूत्र त्याग कर, फिर मल त्याग करे। मलमूत्र त्यागके सम्बन्धमें हिन्दुशास्त्रोंमें कुछ नियम हैं, यथाः—

(१) 'वाच्यं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः' अर्थात् शौचाचारके समय बोलना, थू-थू करना अथवा हांपना न चाहिये।

(२) 'वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यन् तथैव च' अर्थात् अग्नि, जल, सूर्य्य, वायु और पूजनीय लोगोंके आगे मलमूत्र त्याग करना निषिद्ध है।

(३) 'तिष्ठेन्नातिचिरं तस्मिन्' जहां मलमूत्र त्याग करे, वहां अधिक समय तक न ठहरे। इन नियमोंमें विज्ञान भरा हुआ है। शरीरके ऊपरी भागमें जो स्नायु हैं, उनसे यदि क्रिया उत्पन्न हो, तो शरीरके नीचेके भागके स्नायु और पेशीके कार्य भलीभांति हो नहीं सकेंगे। मलमूत्र—त्यागके समय यदि नीचेके स्नायु और पेशी अच्छा कार्य न कर सकें तो कोष्ठ किसी प्रकारसे विशुद्ध न हो सकेगा। कोठा शुद्ध न रहनेसे सब तरहके रोग शरीरपर आक्रमण कर सकेंगे। मलमूत्र त्यागके समय बोलने, थू थू करने अथवा हांपनेसे शरीरके ऊपरिभागके स्नायु कार्य करने लगेंगे और निम्न भागकी पेशियां, स्नायु आदि कार्य्यक्षम नहीं रहेंगे। कोठा शुद्ध न होनेसे अनेक प्रकारका रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, जल, सूर्य आदिके आगे शौच करनेसे आप ही आप शरीरके ऊपर भागके स्नायु कार्य करने लगेंगे, क्योंकि अत्युज्ज्वल, चञ्चल अथवा सबल वस्तुके दर्शन-स्पर्शनसे स्वभावतः स्नायु उद्दीपित होते हैं, इससे कोष्ठशुद्धिमें बाधा होकर रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, सूर्य, जल आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। उनके सामने मलमूत्र-त्याग जैसे घृणाजनक कार्य करनेसे तेज और शक्तिकी अवश्य ही हानि होगी। इसी विचारसे शास्त्रोंमें उक्त आज्ञाओंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रोंमें निवासस्थानसे कुछ दूर नगर या ग्रामके बाहर जाकर एकान्त स्थानमें मलमूत्र त्याग करना चाहिये इत्यादि अनेक आज्ञाएं मिलती हैं। श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते॥

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।
न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु न गच्छन्नापि न स्थितः॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा॥

रास्तेके ऊपर, भस्मपर, गोचारणभूमि, कर्षितभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देवमन्दिर या वल्मीकके ऊपर, प्राणियुक्त गर्त्तमें, चलते चलते या खड़े होकर कदापि मलमूत्रत्याग नहीं करना चाहिये। दिनमें उत्तरमुख होकर, रात्रिको दक्षिण मुख होकर और दोनों सन्धियोंमें उत्तरमुख होकर मलमूत्र-त्याग करना चाहिये।

ग्राम वा नगरके बाहर मलमूत्रादिका त्याग करनेसे देशमें रोगोत्पत्ति होनेकी सम्भावना कम रहती है। आजकल नगरोंमें इस नियमका पालन होना कठिन हो गया है, ग्रामोंमें हो सकता है। इसी कारण नगर निवासियोंकी अपेक्षा ग्रामवासियोंका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रक्रियासे प्रातःकालको वीरवायुका अनायास सेवन हो जाता है। हिन्दुशास्त्रोंमें ओससे भींगी हुई घासपरसे खाली पैर चलनेका माहात्म्य बताया गया है, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहकर चक्षुरोग दूर होते हैं और नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। बाल्यावस्थामें ही चश्मा चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं होती। केवल मलत्यागकी विधिमें ही इतने काम अनायास बन जाते हैं।

मलत्यागानन्तर शौचक्रियामें मिट्टी और निर्मल जलका व्यवहार करना चाहिये। मन्वादिसंहिताओंमें लिखा है:—

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविन्नखाः।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥
आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति॥

चर्बि, शुक्र, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णमल, नख, श्लेष्मा, अश्रु अक्षिमल और स्वेद—मनुष्यशरीरमें ये बारह प्रकारके मल होते हैं। इनमेंसे पहले छः मलोंके लिये मिट्टी तथा जल दोनोंसे ही शौच करने होते हैं, और

दूसरे छः मलोंके लिये केवल जलसे ही शुद्धि हो सकती है। इसी कारण मल त्यागानन्तर मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये।

मिट्टीसे जैसे हाथ साफ होते हैं वैसे साबुन आदि द्रव्योंसे नहीं होते, क्योंकि पृथिवी गन्धवती है। हाथोंकी दुर्गन्धि पृथिवीकी मिट्टीसे जैसी दूर होगी, वैसी और किसी वस्तुसे नहीं हो सकती। पित्तके संयोगसे विष्ठामें तेलकी तरह एक प्रकारका लसीला पदार्थ रहता है, वह केवल मिट्टीसे ही छूटता है, अतः शौचकर लेनेपर हाथ मिट्टीसे ही धोने चाहिये। तीन बार मिट्टी लगाकर फिर शुद्ध जलसे हाथ पैर धो डालने चाहिये।

मूत्रत्यागके अनन्तर भी पैर धोना उचित है। इससे शरीर स्निग्ध और स्वस्थ रहता है। लघुशङ्का कर लेनेपर मूत्रयन्त्रको ठण्डे जलसे धो देना चाहिये, क्योंकि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होता है और उसमें कितनी ही विषैली वस्तुएं रहती हैं। इन्द्रियमें अथवा धोतीमें मूत्र लगा रहनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं, अतः इन्द्रियको धोना आवश्यक है। उपस्थ इन्द्रियमें विशेषतया उसके अग्रभागमें कितने ही ऐसे स्नायु रहते हैं, जिन्हें थोड़ी उत्तेजना मिलते ही वे उत्तेजित हो जाते हैं। मूत्रत्यागके समयमें उष्ण और दूषित मूत्रद्रव्योंके संस्पर्शसे उन स्नायुओंमें उत्तेजना आ जाती है। शीतल जलसे धोनेसे वह भय नहीं रहता। प्रायः देखा जाता है कि, स्कूलोंमें या अन्यत्र भी एक ही स्थानमें अनेक मनुष्य लघुशङ्का करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि मूत्रत्यागके साथ दूसरोंके रोग उसी इन्द्रियके द्वारा संक्रामित हो जाते हैं। अन्ततः एक व्यक्ति जहां मूत्रत्याग करे, वहीं दूसरेको नहीं करना चाहिये। यदि मूत्रत्यागका एक ही स्थान बना हो, तो वहां पहिले जल छोड़कर तब लघुशङ्का करे। उपदंशादि विकार पैतृक भी होते हैं। जिस मनुष्यके माता-पिताको यह रोग हो गया हो उसने जहां लघुशङ्का की है, वहीं यदि दूसरा लघुशङ्का करे, तो पहिलेका रोग दूसरेमें संक्रामित हो जायगा। इसलिये यदि हर एक मनुष्य लघुशङ्काके समय जल लेनेका अभ्यास करे, तो आप ही इस रोगभयसे दूर रहेगा।

मिट्टीसे हाथ धोकर मुख-आंखें धोनी चाहिये। मुंहमें ठण्डे पानीका कुल्ला भरकर शुद्ध जलसे आंखें धोई जायं, तो नेत्रोंकी शिराएं अधिक सतेज होंगी और आंखें शीघ्र नहीं बिगड़ेंगी। मुंह धोकर दन्तधावन करना चाहिये। दन्तधावनके लिये शास्त्रमें लिखा है कि:—

तिक्तं कषायं कटुकं सुगन्धि कण्टकान्वितम्।
क्षीरिणो वृक्षगुल्मानां भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

तिक्त, कषाय, कटु, सुगन्धयुक्त, कण्टकयुक्त और दुग्धविशिष्ट वृक्ष तथा गुल्म आदिका काष्ठ दतून बनानेमें प्रशस्त है। तदनुसार दन्तधावनके लिये शास्त्रोंमें खैर, कदम्ब, आम, नीम, बेल, ऊमर, बकुल आदिकी टेहुनी प्रशस्त कही गई है। बकुल (मौलसरी) की दतौनका प्रभाव तो:—

"दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः"

दांत वज्रके समान दृढ़ बन जाते हैं, ऐसा लिखा है। दन्तधावनके बाद स्नान करना चाहिये। इस विषयमें लिखा है—

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करं परम्॥

स्नानक्रिया पवित्रताजनक, आयुको बढ़ानेवाला, श्रमनाशक, स्वेद-निवारक, मलनाशक, शारीरिक बलवर्द्धक, केशवर्द्धक तथा परम तेजस्कर है। इसलिये स्नान करना चाहिये। स्नानके विषयमें निम्नलिखित नियम अवश्य पालन करने योग्य हैं, यथाः—

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥

भोजनके पश्चात्, शरीरमें पीड़ा हो तो, रात्रिके दूसरे और तीसरे प्रहरमें तथा अधिक कपड़े पहिनकर स्नान करना उचित नहीं है। छोटे वा अपरिचित जलाशयमें स्नान न करे। नदी हो तो उसमें नहाना बहुत उत्तम है, परन्तु वर्षाकालकी बाढ़में नदीमें नहानेसे बचना चाहिये। प्रवाह-के जलमें नहाना हो, तो जिस ओरसे प्रवाह आ रहा हो, उस ओर मुंह करके और घरमें नहाना हो, तो सूर्याभिमुख होकर नहावे। स्नान करते समय बकवाद करना अथवा पहिरे हुए कपड़ोंसे देह मलना अच्छा नहीं। शरीर अच्छा हो, तो ठण्ढे जलसे स्नान करना उत्तम है। शास्त्रोंमें समुद्र-स्नानकी बड़ी प्रशंसा की है, यथाः—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं कुरुते नरः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्नात्वा क्षारार्णवे सकृत्॥

अर्थात् समुद्रस्नानसे जन्मजन्मान्तरके पातक नष्ट होते हैं। कुछ भी हो स्नान बड़ी ही पवित्र वस्तु है। स्नानके द्वारा अशुचि शरीर शुचि होकर भगवान्‌की पूजाके योग्य बनता है, इसीसे स्नान पवित्र कार्योंमें समझा गया है। स्नानमें भी प्रातःस्नानकी बड़ी महिमा है। प्रातःस्नानका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये,
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं,
दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा॥

प्रातःस्नान करनेसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्ननाश, तप और मेधा, इन दश गुणोंका लाभ होता है, अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको सवेरे ही नहीं लेना चाहिये।

स्नानके बाद चन्दन, भस्म, तिलक आदि धारण करना चाहिये क्योंकि जो जिस देवताके भक्त होते हैं, वे अपने उपास्यके चिन्ह धारण करें, तो उनके हृदयमें भक्ति और पूजाके भाव स्वतः उन्मेषित होने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध शरीर और पवित्र अन्तःकरण कर, पिता, माता, गुरुजन तथा घरमें जो कुल देवता इष्ट देवता हों, उनको भक्तिभावसे प्रणाम, सन्ध्योपासना, पुष्पचयन तथा इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये।

आर्य्य शास्त्रमें पिता माता ज्येष्ठ भ्राता तथा आचार्यकी सेवा और इष्टदेवपूजाकी बड़ी महिमा बताई गई है। वेदमें तो पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, इस प्रकारके मन्त्र ही मिलते हैं। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥
यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः ॥
तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।
तत्तन्निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥
त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

आचार्य ब्रह्माकी मूर्त्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्त्ति, माता वसुमतीकी मूर्त्ति, और भ्राता अपनी ही मूर्त्ति है। इसलिये इनके द्वारा पीड़ित होनेपर भी कदापि इनकी अवमानना किसीको विशेषतः ब्राह्मणको नहीं करना चाहिये। अपत्यजननमें पिता माताको जो क्लेश सहना पड़ता है, पुत्र शत-शत वर्षमें भी उसका शोध नहीं कर सकता है। प्रति दिन पिता माता तथा आचार्यका प्रियानुष्ठान करना चाहिये। इन तीनोंके प्रसन्न रहनेसे सकल तपस्या पूर्ण होती है। इनकी शुश्रूषा ही परम तप है, अतः बिना इनकी आज्ञाके कोई धर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिये। मातृभक्ति द्वारा भूर्लोक, पितृभक्ति द्वारा मध्यमलोक और गुरुभक्ति द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं इन तीनोंकी आदर करनेपर धर्मकी आदर होती है। इनकी अनादरसे सभी धर्मकर्म वृथा होता है। जबतक वे जीवित हैं, तबतक स्वतन्त्ररूपमें कोई धर्म-कर्मकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल इनकी शुश्रूषासे ही सब कुछ लाभ होता है। पारलौकिक हितसाधनार्थ इनकी सम्मतिके अनुसार कुछ धर्मचर्या करनेपर भी

वह सब इन्हींमें निवेदन करना चाहिये। इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका इतिकर्तव्य समाप्त होता है, यही साक्षात् परमधर्म है और सब उपधर्ममात्र है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें पितृमातृसेवा तथा गुरुसेवाकी महिमा बताई गई है।

पिता-मातादिके प्रणामके अनन्तर सन्ध्योपासना, पुष्पचयन और इष्टदेवपूजा करनी चाहिये। पुष्पचयन तथा तुलसी दुर्वादिचयनकी बड़ी महिमा शास्त्रमें कही गई है। समस्त रात्रि चन्द्रामृत पान करके कुसुमसमूह अमृतमय बने रहते हैं, इसलिये उनके स्पर्शसे भी शरीर मन दोनोंका स्वास्थ्य तथा शक्तिलाभ होता है। प्रातःकालकी हरियाली नेत्रोंको प्रफुल्लित तथा नीरोग बनाती है। मैलेरिया आदि रोगनाशिनी शक्ति तुलसी, दुर्वा, विल्लपत्र आदिमें यथेष्ट है, यह बात आधुनिक पश्चिमी विज्ञानके द्वारा भी प्रतिपादित हो चुकी है। अतः प्रातःकाल भी पुष्पचयन, तुलसीवायुसेवन, तुलसीचयन आदि शरीर मन आत्मा सभीके लिये उन्नतिप्रद है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इस प्रकारसे पुष्पचयनादिके अनन्तर इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। इतनेहीमें पूर्वाह्णकृत्य समाप्त होता है।

पूर्वाह्णकृत्यके अनन्तर मध्याह्नकृत्य करनेकी विधि है। उसमें भोजन ही प्रधान कृत्य है। किन्तु सबको खिलाये बिना गृहस्थोंका स्वयं भोजन करना शास्त्रविरुद्ध है। इस कारण होम, वैश्यदेव, वलि, अतिथिसेवन, नित्यश्राद्ध, गोग्रासदान और पञ्चमहायज्ञके बाद तब भोजन करनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है। होमके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य
होमावलयश्च स्वस्वपुष्टिसंयुक्ताः।

गृहीके जो खाद्य हैं, उन्हींसे हवन करना होता है। असमर्थपक्षमें 'जुहुयादम्बुनापि च' जलमें जलसे भी हवन हो सकता है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। हवनसे देवतागण तृप्त होते हैं। वैश्यदेवके विषयमें शास्त्रमें लिखा है:—

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च।
अनश्नतापि कर्त्तव्यमन्यथा किल्विषी भवेत्॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल भोजनसे पहले बलिवैश्वदेव करना चाहिये। अन्यथा गृहस्थको पाप स्पर्श करता है। वैश्वदेवकी पूजा 'सप्रणव विश्वदेवाय नमः' इतने ही मन्त्रसे की जाती है। जिस प्रकार हवनसे देवतागण प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही वैश्वदेवसे श्रीभगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। वैश्वदेवके बाद बलि दी जाती है। इसमें समस्त प्राणियोंको लक्ष्य करके अन्न दिया जाता है यथा—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसंघाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं मुदिता भवन्तु ॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न यथान्नमस्ति ।
तत् तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत् प्रयान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु ॥

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, उरग, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, पिपीलिका, कीट, पतङ्ग आदि सभी जो अन्न चाहते हैं, या बुभुक्षित हैं, सब मेरे प्रदत्त अन्नसे तृप्त हो जायं। जिनके पिता माता या बान्धव नहीं हैं या अन्नसंस्थान नहीं हैं उन सबकी तृप्तिके लिये यह अन्न देता हूँ। यही सब बलिप्रदानके मन्त्र हैं। इस प्रकार उदार मन्त्रका रहस्य यह है।—

भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ।
श्वचण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात् ततो नरः ॥

क्योंकि गृहस्थ ही सकल जीवोंका आश्रय है, इसलिये स्वयं भोजनसे पहले सबको भोजन देकर तब गृहस्थको भोजन करना चाहिये। बलिप्रदानके बाद अतिथिसेवा गृहस्थका प्रधान कार्य है। उसके लिये शास्त्रमें लिखा है—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।
संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति ।
न स तत्फलमाप्नोति दत्वा स्वर्गं न गच्छति ॥

प्रिय, द्वेष्य, मूर्ख, पण्डित जो कोई हो, वैश्वदेवके अन्तमें जो गृहस्थके मकानपर आवे, वही अतिथि और उनकी सेवा स्वर्गप्रद है। अतिथिका देश, नाम, कुल विद्या पूछ कर अन्नदान करनेसे वह सेवा स्वर्गप्रद नहीं होती है। इसलिये

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही।'

अतिथिको हिरण्यगर्भ भगवानका रूप मानकर इसी भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। यही गृहस्थाश्रमका प्रधान कर्त्तव्य अतिथि सत्कार है। इसके अनन्तर नित्यश्राद्धविधि है। नित्य श्राद्धमें इस प्रकार विधिकी आवश्यकता नहीं होती है। इसमें केवल पितृपक्षके तीन और मातृपक्षके तीन व्यक्तियोंका स्मरण करके उनके उद्देश्यसे कुछ कुछ अन्नदान किया जाता है और अभावपक्षमें—

'अशक्तावुदकेन तु'

इस आज्ञाके अनुसार थोड़ा जल देनेपर भी नित्यश्राद्धकृत्य सम्पादित हो सकता है। इसके अनन्तर गो ग्रास है। इसमें सकल भूतोंसे विशेषताके कारण गो माताको ग्रास दिया जाता है। उसका मन्त्र यह है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

सकलहितकारिणी, पवित्रा, पुण्यराशिमयी, त्रैलोक्यजननी, सुरभी सन्तान गौवें मेरे दिये इस ग्रासको ग्रहण करें। यही गोग्रास है। इसके अनन्तर पञ्च महायज्ञ करके मध्याह्नकृत्य भोजन होता है।

आर्यशास्त्रमें अन्यान्य यज्ञोंकी तरह भोजन व्यापारको भी एक नित्ययज्ञ कहा गया है। इस नित्ययज्ञके यज्ञेश्वर भगवान् वैश्वानर कहे गये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥"

श्रीभगवान् वैश्वानर (जठराग्नि) रूपसे प्रत्येक प्राणीमें बैठकर प्राण और अपान वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकारके भोज्य अन्नोंको भक्षण करते हैं। अन्ततः आर्यभोजनसे केवल उदर-पूर्ति ही नहीं होती, किन्तु श्रीभगवान्की पूजा भी होती है; इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें

सबसे प्रथम स्थानका विचार करना चाहिये; अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े खड़े भोजन करना ठीक नहीं; क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, भगवान् असन्तुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त और गोमय जल आदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करें; क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता। तृतीयतः जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये, क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा कलुषित होना सम्भव है। अन्ततः खाद्य द्रव्य शुद्ध और सात्त्विक होना आवश्यक है। चतुर्थतः पूजाकी वस्तु जिसमें संग्रहकी जाय, वह पात्र अच्छा परिष्कृत होना चाहिये और वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे छुआ हुआ न हो; क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्य आदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जानेपर पूजाके योग्य नहीं रहते; इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नही, किन्तु उनका छुआ अन्न भी ग्रहण न करना चाहिये। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहारपर बहुत बिचार कर आहार सम्बन्धीय नाना प्रकारके आचारोंका निर्णय किया है।

भोजनके विषयमें भगवान् मनुने लिखा हैः -

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्वं दक्षिणामुखः'

आयु चाहनेवालेको पूर्वमुख और यश चाहनेवालेको दक्षिणमुख हो भोजन करना चाहिये।

पूर्वदिशासे प्राण और शक्तिका उदय होता है। प्राणस्वरूप सूर्य्यदेव पूर्वसे ही उदित होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार यश देनेवाले पितरोंका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ रहनेके कारण दक्षिणमुख भोजनसे यशोलाभ होता है। स्नान, पूजादिमे शरीर मनकी पवित्रता बढ़ती है, इसलिये शास्त्रमें कहा है।

'अस्नात्वाशी मलं भुंक्ते अजपी पूयशोणितम्'

नीरोग शरीर होनेपर भी विना स्नान खानेसे मलभोजन और विना जपपूजा खानेसे पूय शोणित भोजनका दोष होता है। इसलिये स्नानके बाद भोजन करना चाहिये।

शास्त्रोंमें लिखा है:—

"पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता॥"

दोनों हाथ, दोनों पाँव और मुंह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बन कर भोजन करे। मनुने कहा है कि:—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

भींगे पैर भोजन करे, परन्तु शयन न करे। भींगे पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है कि, भोजन करते करते बकवाद करनेसे लाला (लार) कम उत्पन्न होगी, जिससे मुह सूखकर बीच बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुंह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचनक्रियामें बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है, "एकवस्त्रो न भुञ्जीत" केवल एक वस्त्र-धारण कर भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये; वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीरयन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुंचा सके, इसीलिये यह व्यवस्था है। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है कि, रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार पवित्रभावसे भोजन करना चाहिये। स्नानके पश्चात् ही भोजन करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा बिना स्नान किये नहीं कि जाती और पूजा किये बिना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहनेपर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान कर ले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु भगवान्‌का स्मरण कर 'स्वर्गसे गङ्गाकी धारा आई और उसमें स्नानकर मैं पवित्र हुआ' ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्म-स्नान शिवमन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है।

भोजनके पहिले भोज्य पदार्थोंका भगवान्‌को नैवेद्य दिखाकर, तब प्रसाद समझकर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आसक्ति न रहेगी। जब कि संसारकी सब वस्तुएं भगवान्‌को उत्पन्न

की हुई हैं, तब उन्हें पकाकर भगवान्‌को विना अर्पणकर खानेसे निस्सन्देह पाप होगा । गीतामें कहा है: -

"तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।"

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें विना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है । अतः भगवान्‌को समर्पण करके ही अन्नग्रहण करना चाहिये ।

खाद्य वस्तुएं पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये । इसका कारण श्रुतिमें बताया गया है ।

'दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स
ऊद्ध्र्वः समुदीपति तत् सर्पिर्भवति। एवमेव खलु
सौम्यान्नस्य योऽणिमा स ऊद्ध्र्वः समुद्रीपति,
तन्मनो भवति ।'

'अन्नमयं हि खलु सौम्येदं मनः'

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिशुद्धौ
सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।"

जिस प्रकार दधिके मथनेपर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांशसे मन बनता है । मन अन्नमय ही है । आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे संसार ग्रन्थियोंका मोचन होता है । अतः सिद्ध हुआ कि, अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा । साधारणतः देखा जाता है कि, अन्न न खानेसे मन दुर्बल हो जाता है, चिन्ताशक्ति नष्ट होने लगती है, और अन्न खानेसे मन सबल तथा चिन्ताशक्ति बढ़ने लगती है । अतः यही अन्न तामसिक हो, तो मन, बुद्धि प्राण और शरीर तामसिक होगा; जिससे ब्रह्मचर्य्यधारण और साधना आदि असम्भव हो जायगी । इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और बुद्धि चञ्चल होती है, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये । खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंमें जिस प्रणालीसे विचार किया है, वह सर्वाङ्गदृष्टिपूर्ण नहीं है । उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है कि, किस वस्तुमें कौनसा रासायनिक द्रव्य कितना है । 'यवक्षारजान' जिसमें न्यून हो, वह अखाद्य और जिसमें अधिक हो, वह खाद्य,

इतना ही मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौनसी वस्तु, किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये, किस प्रकारसे सेवन की जाय, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित हो, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अतः एकसी ही वस्तुओंके बारहों मास सेवन करनेसे तद्देशवासियोंका काम बन जाता है; परन्तु इस देशमें छहों ऋतु एकसे ही बलवान् हैं। ऋतुभेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी वे अबतक चेष्टा नहीं करते। द्वितीयतः पश्चिमी देशोंकी यह निर्णयविधि बड़ी ही जटिल है। वहांके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं हैं। तृतीयतः उदरमें जाकर इन सब खाद्य द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है, और उससे शरीर पोषणकारी कौनसे गुण उत्पन्न होते हैं, साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा उसका निरूपण नहीं हो सकता। चतुर्थतः इस देशके खाद्यद्रव्योंके साथ उस देशके खाद्यद्रव्योंके गुणावगुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है कि, खाद्यद्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अतः हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे खाद्यद्रव्योंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा—

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदय-ग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और उग्र आहार राजसिकहै, और बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक है। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और

प्रीतिकी वृद्धि होती है। और चित्तमें सत्त्व गुणवृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। राजसिक आहारसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं, और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अतः राजसिक और तामसिक खाद्यद्रव्योंका परित्याग कर सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें पियाज, लशुन, आदि राजसिक तामसिक वस्तुओंका भोजन निषिद्ध है, यथा—

लशुनं गृञ्जनश्चैव पलाण्डु करकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च॥

लशुन, गाजर, पियाज, छुला आदि तथा विष्ठादि अपवित्र वस्तुसे उत्पन्न शाकादि द्विजातियोंको सर्वथा अभक्ष्य है। इन वस्तुओंके खानेसे मन, बुद्धि, शरीर, प्राण, आत्मा सभी मलिन हो जाते हैं, और ब्रह्मचर्य्यनाश, पशुभाववृद्धि, कामवृद्धि, चित्तचाञ्चल्य आदि उत्पन्न होकर आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग एक वार ही बन्द हो जाता है।

पहिले ही कह चुके हैं कि, स्पर्शास्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रामित होते हैं। केवल रोग ही नहीं, किन्तु स्पर्शास्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंमें हेरफेर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युत् शक्ति रहती है, जो मनुष्यकी प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमें विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोंमें रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वमयी विद्युत् विराजमान है। अन्ततः जिस वृत्तिके लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न सेवन किया जाय, उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियों अथवा अन्न ग्रहण करनेवालोंमें संक्रामित होगी। भिन्न भिन्न प्रकारकी विद्युतका प्रकृतिपरिणाम एक दूसरेपर हुए बिना न रहेगा। अतः चाहे जिसका भी हो, छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिये। हिन्दुशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डालादिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका जो निषेध है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको अलग अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन करनेकी जो आज्ञा है, इसका कारण भी यही कि, प्रत्येक वर्णकी विद्युत् (प्रकृति) जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है, और उसका अन्य प्रकृतिमें संक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी

उच्चगुणविशिष्ट विद्युत् मलिन हो जाती है। अथवा नाना जातिकी बिजलीके विपरीत संघर्षसे किसीका भी भोजन परिपक्क नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अपने वर्णके लोगोंके साथ भोजन करनेके सम्बन्धमें भी शास्त्रोंमें बहुत कुछ विचार किया गया है, जैसा कि—

"अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि"

इत्यादि प्रमाणके द्वारा पहले ही बताया गया है। भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है। एक वर्णमें पंक्तिभोजनके समय यह भी नियम अवश्य रखना चाहिये कि, जितने एक साथ बैठें, सब भोजनका प्रारम्भ तथा समाप्ति एक ही साथ करके उठें। क्योंकि पंक्तिभोजनके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ बैठनेके कारण सभोंके भीतर एक वैद्युतिक शृङ्खला (Electric line or circle) बन जाती है। उसीमेंसे जो आगे उठ जायगा, वह यदि दुर्बल है, तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठनेवाले खींच लेंगे, जिससे उस पहले उठनेवालेके पेटमें भोजन पचेगा नहीं वह और दुर्बल हो जायगा। द्वितीयतः उठनेवाला यदि अधिक शक्तिशाली है, तो सारे बैठनेवालेकी विद्युत् शक्तिको वह खिंचकर उठेगा, जिससे बाकी सबके पेटमें विकार हो सकता है। अतः पंक्तिभोजनमें साथ ही बैठने उठनेका नियम अवश्य पालना चाहिये। द्वितीयतः यदि किसीसे अन्न लेना हो, तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंका अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी संक्रमित होगा। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नहीं कर सके थे। जब इतने बड़े महात्माकी भी पापान्नके ग्रहण करनेसे बुद्धि पलटती है, तो साधारण जीवोंकी कथा ही क्या है? सारांश यह है कि, सत्पात्रके यहांका भोजनार्थ निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करना चाहिये।

भोजनमें स्पर्शदोषकी तरह दृष्टिदोषगुणका भी विचार आर्यशास्त्रमें किया गया है। यथा—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्धंसबर्हिणाम्।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा॥

पिता, माता, बन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस, और चकवेकी

दृष्टि भोजनमें उत्तम है। इनकी दृष्टिसे अन्नका दोष दूर होता है। चकवेके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, 'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् ।' अन्नमें विष आदि दोष रहनेपर चकवे आंखें मूंद लेते हैं, जिससे विषाक्त अन्नका पता लग जाता है। दृष्टिदोषके विषयमें लिखा है—

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पाषण्डस्त्रैणरोगिणाम् ।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना ॥

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्तेकी दृष्टि भोजनमें ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्नमें संक्रमित होनेसे अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं, यदि कभी इनमेंसे किसीकी दृष्टि अन्नमें पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढ़ कर उसकी अर्थ चिन्ता करते करते भोजन करना चाहिये, यथा—

अन्नं ब्रह्मरसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते ॥
अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम् ।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम् ॥

अन्न ब्रह्मरूप है। अन्नरस विष्णुरूप है, भोक्ता महेश्वर है, ऐसी चिन्ता करते करते भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता है। अञ्जनीकुमार ब्रह्मचारी-हनुमानको दृष्टिदोषनाशार्थ मैं स्मरण करता हूं, यही सब भोजनके विषयके नियम हैं।

दिनमें एकवार ही भोजन करना चाहिये। यथा आपस्तम्बमें 'दिवा पुनर्न भुञ्जीत नान्यत्र फलमूलयोः' दिनमें एकवार ही भोजन करना चाहिये। क्षुधाबोध होनेपर फलमूलादि आहार कर सकते हैं। और भी स्मृतिमें—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

दिवा और रात्रिमें दोनों वार भोजन ही श्रुतिसम्मत है। बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भोजनविधि आदि करना चाहिये। माथा लपेट कर या जूता पहिन कर खाना उचित नहीं है। यथा—

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः ।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥

माथा लपेट कर, निषिद्धमुख होकर या जूता पहन कर खाना आसुरी प्रकृतिका लक्षण है। दिनकी तरह रात्रिमें भी लघु (हलका) भोजन करे। रात्रिमें निद्रावस्थामें स्नायुशक्ति दुर्बल रहती है, उस समय गुरु (भारी) भोजनका ठीक परिपाक (पचन) नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो पचनेमें जड़ हो। जड़ भोजनसे शरीर और मन दोनों बिगड़ते हैं। अतः सहज पचनेवाले हलके पदार्थ ही भोजनार्थ प्रस्तुत किये जांय। सन्ध्याके समय भोजन न करे; क्योंकि सन्ध्याके समय भूत प्रेतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्न ग्रहण करनेवालोंके अन्नपरिपाकमें सन्देह रहेगा। इसी तरह अधिक रात बीत जानेपर भी भोजन न करे; क्योंकि भोजनोत्तर कमसे कम दो घण्टे जागकर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा नहीं लगेगी। अच्छी नींद न होनेसे नाना प्रकारके स्वप्न देख पड़ेंगे और निद्राभङ्ग होगा; जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन करलेनेके कुछ समयके पश्चात् जलपान करना चाहिये। पीनेके जलमें सात गुण अवश्य हों। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णानिवारक हो। जलके विषयमें महर्षि यमने कहा है—

दिवार्करश्मिसंस्पृष्टं रात्रौ नक्षत्रभासितैः ।
सन्ध्ययोश्च तथोभाभ्यां पवित्रं जलमुच्यते ॥

दिनमें सूर्यकिरण, रात्रिको चन्द्र-नक्षत्र किरण और सन्ध्याओंमें दोनों किरणोंसे युक्त, वायुप्रवाहमय जल ही उत्तम है। जिस जलपर सूर्यकिरण नहीं पड़ते अथवा जिस जलको वायु नहीं सोखती, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है। उस जलको गरम करके ठंढा होनेपर पिवे। ऐसा सिद्धजल काश, श्वास, ज्वर, कफ, बात, आम और अजीर्णका नाश करता है। नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक होता है। लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनका ही गुण है। सोडावाटर, लेमनेड आदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार विहार और जल वायुके लिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है।

जल पीनेके विषयमें ऐसा भी भावप्रकाशमें लिखा है—

अत्यम्बुपानाश्च विपच्यतेऽन्नं, अनम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिवेद्भूरि ॥

बहुत जल पीनेसे या एकबार ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता है। इसलिये पाकाग्निके बढ़ानेके लिये बार बार थोड़ा थोड़ा जल पीना चाहिये, और भी—

आदौ वारि हरेत् पित्तं, मध्ये वारि कफापहम् ।
अन्ते वारि पचेदन्नं सर्वं वार्य्यमृतोपमम् ॥

भोजनके प्रथमभागमें जलपान पित्तनाशक, मध्यभागमें जलपान कफनाशक और अन्तभागमें जलपान अन्नपाचक होता है। अतः सभी जलपान अमृततुल्य है। आर्य्यशास्त्रमें मिताहारकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। यथा—

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते,
आरोग्यमायुश्च बलं सुखञ्च ।
अनाविलश्चास्य भवत्यपत्यं,
न चैनमाद्युर्नमिति क्षिपन्ति ॥

मिताहारमें छः गुण हैं। उससे रोग नहीं होता है आयु बढ़ती है, बल तथा सुखलाभ होता है। मिताहारीके पुत्र आलस्यपरायण नहीं होते हैं और लोग उनको औदरिक भी नहीं कहते हैं। अमिताहारके विषयमें शास्त्रमें लिखा है-

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥

अमिताहारसे रोग होता है, आयु घटती है, स्वर्ग नष्ट होता है, पुण्य नष्ट होता है और यह लोकविद्विष्ट भी है, अतः अतिभोजन त्यागना चाहिये। मिताहारके लक्षणके विषयमें लिखा है—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

उदरका दो भाग अन्नसे पूर्ण किया जाय, एक भाग जलसे पूर्ण किया जाय और वायु सञ्चारके लिये एक भाग खाली रक्खा जाय, यही मिताहारका लक्षण है। इसके बाद—

भुक्त्वा पाणितले घृष्ट्वा चक्षुषोर्दीयते यदि ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥
स्वर्यातिश्च सुकन्याञ्च च्यवनं शक्रमश्विनौ ।
भोजनान्ते स्मरेद् यस्तु तस्य चक्षुर्न हीयते ॥

भोजनके बाद मुखप्रक्षालन करना चाहिये । जिससे मुखमें उच्छिष्ट न रहे । तदनन्तर 'स्वर्याति' आदि मन्त्रपाठ करते हुए आर्द्र हस्तद्वय घर्षणपूर्वक दोनों चक्षुओंमें तीन बार लगानेपर दृष्टिशक्ति अच्छी होती है । तदनन्तर क्या करना चाहिये, उसके लिये लिखा है—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विकृतिं गतः ।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥
एवञ्चाधोगतश्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति ॥

भोजनके बाद प्रथमतः वीरासनमें बैठना चाहिये । पश्चात् शतपद घूम कर वामपार्श्वमें सोना चाहिये । यथा—भावप्रकाशमें—

वामदिशायामन्नं नाभेरूर्द्धेऽस्ति जन्तूनाम् ।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम् ॥

नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अन्न रहता है, इसलिये वामपार्श्वमें सोनेपर अन्नपरिपाक अच्छा होता है ।

भोजनके बाद कठिन परिश्रम कदापि नहीं करना चाहिये, उससे रक्त-सञ्चालन अधिक होनेपर पाकक्रियामें बाधा होती है । इसलिये लिखा है—

'अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः'

जिससे परिश्रम न हो, इस प्रकारके हलके काम कर सकते हैं । और भी वैद्यशास्त्रमें लिखा है—

भुक्तोपविशतस्तुन्दं शयानस्य वपुर्महत् ।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः ॥

भोजनके बाद बैठे रहनेसे पेट बढ़ जाता है, सोये रहनेसे शरीर अच्छा रहता है, थोड़ी देर पादचारण करनेसे आयु बढ़ती है, और खाते ही दौड़नेसे मृत्यु भी पीछे पीछे जाती है ।

यही सब आहार विषयक नियम है।

अब आहारके विषयमें कुछ निषेध बताये जाते हैं—

घी, शहद और मूली एक साथ न खाय। ठण्डा भात पुनः गरम करके खाना वर्जित है। अमड़ा, निम्बू, केलेका फूल, अमरूद, नारियल, अनार, आंवला या और कोई वस्तु दूधमें मिलाकर न खानी चाहिये। शहदको गरम करके न खाय, कांसेके पात्रमें दश दिन घी रक्खा रहे, तो वह न खाना चाहिये, जो मिठाई कुछ दिन पड़ी रहनेसे खट्टी हो जाय, वह खाना अनुचित है। जुआं आदि घृणित कृमि-संसृष्ट, व्यभिचारिणी स्त्री या स्त्रैण पुरुषका, पैरोंसे कुचला या जूठा, चोरका, वेश्याका या सूतक लगा हो उस व्यक्तिका अन्न ग्रहण न करे। बेर कुपथ्यकी वस्तु है, उसे न खाना ही अच्छा है। लहसुन, प्याज, गाजर और कोबी नितान्त अखाद्य हैं। इन तामसिक चीजोंको कभी न खाना चाहिये। इनसे इन्द्रियकी उत्तेजना अत्यन्त बढ़ती है, मन चञ्चल और काम-परायण होता है तथा अन्तःकरण श्रीभगवान्‌की ओरसे हटकर विषयकी ओर आकृष्ट होता है। लहसुन, प्याज आदिकी तरह मांस, मछली, अण्डे आदिके भक्षणसे भी सत्त्वगुण नष्ट होकर रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है तथा बुद्धि विषयासक्त, अन्ततः भ्रष्ट हो जाती है। मांसभोजी कभी सत्त्वगुणी नहीं देख पड़ेगा। मांसखानेवाले व्याघ्र आदि और तृणभोजी गौ आदि पशु इसके प्रमाण हैं। मांसाशी पशुपक्षियोंकी जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है, मांस-भोजी मनुष्योंकी वैसी ही प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है। श्वान आदि मांसभोजी हैं, इसीसे अतिकामुक और अस्पृश्य हैं। जैसा भक्ष्य रहेगा, वैसी बुद्धि होगी। पशु पक्षियोंमें देख पड़ता है कि, जिनका आहार सात्त्विक, वे शान्त, जिनका राजस, वे विलासी और जिनका तामस, वे क्रूर होते हैं। मनुष्योंको भी इन ईश्वरीय उदाहरणोंको देख अपना आहार सात्त्विक रखना उचित है। मांस खानेसे कुष्ठ, कैनसर (गलेके घाव) आदि रोग होते हैं, अतः मांस न खाना ही उचित है। मांसकी तरह मछली भी दुर्गुणकारी है। यद्यपि मछली राजसिक है, तथापि उसके खानेसे सात्त्विकताका नाश होता है। सारांश यह कि, किसी सजीव और सुख दुःखका अनुभव करनेवाले प्राणीको मारकर खानेकी इच्छा ही मनुष्यमें हिंसावृत्ति और पाशविकभाव उत्पन्न करती है, अतः जो जीवनमें आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उन्हें मांस मछली आदिका त्याग कर ही देना चाहिये। कितने लोग यह समझ

बैठे हैं कि, मत्स्य मांस न खानेसे आयु घटती है, आंखें बिगड़ती हैं और अम्ल पित्तादि रोग होते हैं। उनको यह समझ निरी भ्रममूलक है। निरामिषाहारी पञ्चद्राविड़ और बङ्ग या अन्य प्रान्तोंकी विधवायें—जो मत्स्य मांस खाना छोड़ देती हैं; देखिये कैसी नीरोग, दीर्घायु और सशक्त हुआ करती हैं। खानेके पदार्थोंमें अधिक मिर्चा झोंक देना उचित नहीं है। मिर्चा अत्यन्त उष्ण, गुरु और वीर्यनाशक वस्तु है। मिर्चाकी जगह मिरच छोड़ना उपकारी होगा।

इन बातोंके अतिरिक्त हमारे शास्त्रोंमें वार और तिथिभेदके अनुसार भी खाद्याखाद्यका विचार किया गया है। सूर्य, चन्द्र, मंगल, शनि आदिका आकर्षण तारतम्य ही इस विचारके मूलमें है। अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमाको पृथ्वीपर चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव बहुत होता है। जल तरल पदार्थ है; इस कारण उक्त तिथियोंमें समुद्रका जल उछलने लगता है, जिससे ज्वार-भाटा होता है। शरीरमें भी कफ, रक्त, मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त तिथियोंमें उनका उछलना भी स्वाभाविक है। चन्द्रके इस प्रकारके आकर्षणसे ही अमावस्या और पूर्णिमाको वातरोग और कफादिकी वृद्धि होती है, अतः इन तिथियोंमें कम खाना, नीरस शुष्क वस्तु खाना या दिन रात न खाना, कमसे कम रातको न खाना अच्छा है। उपवाससे देहका रस शुष्क होकर उसपर चन्द्रके आकर्षणका परिणाम नहीं होता और उससे रसाधिक्यसे होनेवाले कोई रोग शरीरमें उत्पन्न नहीं होते। चन्द्रमा मनका देवता होनेसे इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर पड़कर वह चंचल हो उठता है। उक्त तिथियोंमें उपवास कर अथवा एकभुक्त रहकर भगवान्‌में ध्यान लगानेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेसे मन शान्त रहेगा और आहार कम करनेसे विषयवासनाएँ कम होगीं।

अतः हिन्दुशास्त्रोक्त तिथियोंमें उपवास और उपासना करनेसे उन तिथियोंमें जो वातादि रोग, चित्तकी चञ्चलता और भगवद्भजनविमुखता आदि दोषोंके उद्भव होनेका भय है वह मिट जायगा। उपर्युक्त ग्रह-विज्ञानके विचारसे ही भिन्न भिन्न तिथियोंमें विभिन्न खाद्याखाद्यका निर्णय ऋषियोंने किया है यथा-चातुर्मास्यमें श्वेत सेम, परवल, नारीकी शाक,बैंगन,माघमें मूली रविवारको लौकी, मसूर, नीम, आदी, मङ्गलवारको उर्द तथा एकादशीको भात न खाना चाहिये इत्यादि। यही संक्षेपसे शास्त्रसम्मत खाद्याखाद्यका नियम है।

मध्याह्नकृत्यके बाद अपराह्नकृत्य प्रारम्भ होता है, उसके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

इतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत् ।
वृथा विवादवाक्यानि परीवादश्च वर्जयेत् ॥

इतिहास पुराण तथा धर्म्मशास्त्रचर्चा द्वारा मध्याह्नोत्तर कर्म्म करना चाहिये। वृथा-कलह या परनिन्दादिमें रत नहीं होना चाहिये। और भी –

इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत् ।
अष्टमे लोकयात्रा च बहिः सन्ध्या ततःपरम् ॥

दिनका षष्ठ तथा सप्तम भाग इतिहास पुराणादिकी चर्चामें बिता कर अष्टम भागमें बाहर भ्रमण लौकिक व्यवहार आदिमें बितावें और तदनन्तर सायं सन्ध्या करें। आर्य्यशास्त्रमें मध्याह्नभोजनके बाद दिवानिद्राका निषेध किया गया है। यथा—

दिवा स्वप्नं न कुर्वीत स्त्रियञ्चैव परित्यजेत् ।
आयुःक्षीणा दिवा निद्रा दिवा स्त्री पुण्यनाशिनी ॥

दिवा निद्रा और दिनमें स्त्रीसम्बन्ध वर्जनीय है। दिवा निद्रासे आयु क्षीण होती है और दिवा रतिसे पुण्यनाश होता है। भोजनोत्तर वामपार्श्वमें विश्रामार्थ सोनेके विषयमें लिखा है—

'निद्रायां ये गुणाः प्रोक्तास्ते गुणा नेत्रमीलने'

भोजनोत्तर निद्रा न लेकर केवल आंखें बन्दकर विश्राम करनेसे परिपाकादिमें सुविधा हो सकती है। इस प्रकारसे मध्याह्नोत्तरकाल बिताकर—

'अहःशेषं समासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः'

सन्ध्यासे कुछ पहिले भ्रमण तथा आत्मीय जनोंसे सदालाप करके सायंकाल सायंसंध्यादिकृत करना चाहिये। यही सब संक्षेपसे वर्णित मध्याह्नोत्तर कृत्य है। तदनन्तर सायंकृत्यमें सायं संध्या, इष्टोपासनादि विहित है। सन्ध्या समय निषिद्ध चार कर्म हैं यथा मनुसंहितामें—

चत्वारि खलु कर्माणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥

सन्ध्याकालमें भोजन, रतिक्रिया, निद्रा और स्वाध्याय निषिद्ध है। सायं कृत्यके बाद रात्रि कृत्यमें रात्रिभोजन मुख्य है। गृहस्थको रात्रिभोजन अवश्य करना चाहिये यथा—

'रात्रावभोजनं यस्य क्षीयन्ते तस्य धातवः'

रात्रिमें भोजन न करनेसे मांसादि सप्त धातु क्षीण होते हैं। रात्रि-भोजनका काल चार दण्ड रात्रिके बाद तथा एक प्रहर रात्रिके भीतर है। तद-नन्तर शयनादि कृत्य हैं।

अब शयन तथा निद्रादि कृत्यपर विचार किया जाता है।

शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वह चल नहीं सकता। निद्रावस्थामें उन्हें वैसी विश्रान्ति मिल जाती है, अतः निद्रा प्राणि मात्रके लिये आवश्यक है। पशुपक्षी भी सो जाते हैं। मनुष्योंमें भी परिश्रम-के तारतम्यानुसार निद्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता है। बच्चे दिनभर खेला कूदा करते हैं, इस कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायु बहुत थक जाते हैं। उन्हें अधिक निद्रा लगना स्वाभाविक है। वृद्धावस्थामें दौड़ धूप, परिश्रम और मस्तिष्कके कार्य थोड़े होते हैं, इस कारण वृद्धोंको नींद कम आती है। विद्यार्थी और युवक जैसे परिश्रम करते हैं, वैसी उनको निद्रा भी आती है। साधारणतः छः घण्टा सोनेसे शरीरकी थकावट मिट जाती है। आवश्यकता-से अधिक सोनेसे अधिक निःश्वास व्यर्थ निकल जाते हैं, जिससे आयु क्षीण होती है। अतिनिद्रा भी एक रोग है।

किस प्रकार तथा किस समय सोना चाहिये, इसका भी हमारे शास्त्रोंमें विचार किया गया है। हिन्दुशास्त्रकारोंने दिनमें सोनेका बड़ा निषेध किया है। वेदोंमें भी लिखा है:—"मा दिवा स्वाप्सीः" अर्थात् दिनमें नींद न लो, दिनमें सोनेसे कफ, आलस्य और जड़ता बढ़ती है। एवं आयु क्षीण होती है। पहले कहा गया है कि, समस्त ब्रह्माण्डमें सूर्य्य ही प्राणस्वरूप और शक्तिका निधान है इसलिये ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर सन्ध्या समय पर्य्यन्त जबतक सूर्य्यशक्ति पृथ्वीपर फैली हो, तबतक निद्रावस्थामें न रहकर जाग्रतभावसे सूर्य्यके साथ सम्पर्क रखना चाहिये। ऐसा करनेसे जीवके क्षुद्र प्राणमें सूर्य्यका महाप्राण सञ्चरित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु हो सकेगा। शास्त्रकारोंने दिनमें और सन्ध्या समयमें सोना इसी विचारसे निषिद्ध माना

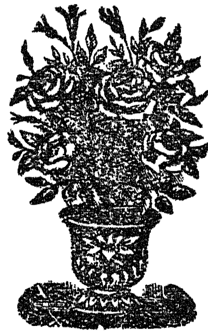
है। ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताधिक्यसे रातभर नींद नहीं आती और दिनमें भी बेचैनी बनी रहती है, इस कारण शास्त्रोंमें आवश्यकतानुसार कभी दिनमें थोड़ा सो ले, तो उसका निषेध नहीं किया है। अन्य ऋतुओंमें तो दिवानिद्रा सर्वथा त्याज्य है।

किस दिशाकी ओर सिर करके निद्रा करनी चाहिये, इसका विचार करते हुए शास्त्र कहते हैं,—पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोना प्रशस्त है। इस शास्त्रीय आज्ञामें वैज्ञानिक रहस्य है। समस्त ब्रह्माण्डकी गति ध्रुवकी ओर होनेके कारण और ध्रुवकी स्थिति उत्तर दिशामें होनेके कारण ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी ग्रहके भीतर जो विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, उसकी भी गति दक्षिण दिशासे उत्तरकी ओर है। इसी कारण जहाजके कम्पासके बीचका चुम्बकका कांटा सदा उत्तरकी ओर ही रहता है। समुद्रमें दिग्ज्ञानका यही कांटा एक मात्र साधन है। यदि हम उत्तरकी ओर सिर करके सो जायं, तो वह पार्थिव विद्युत् हमारे पैरोंसे होकर सिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरोव्यथा या ऐसे ही सिरके अन्य रोग उत्पन्न होंगे और स्नायुपुञ्जोंमें अस्वाभाविक उत्तेजना बढ़कर प्रकृति अस्वस्थ हो रहेगी। सब दिन परिश्रम करनेसे स्नायु और मस्तिष्क आप ही दुर्बल हो जाते हैं, तिसपर निद्रावस्थामें विद्युत्तेज यदि उलटा ग्रहण किया जाय, तो शरीर अधिक अस्वस्थ होगा इसमें सन्देह ही क्या है? यदि दक्षिणकी ओर सिर करके सोवे, तो विद्युत सिरसे पैरोंकी ओर जायगी, जो स्वाभाविक है। इससे किसी प्रकारकी पीड़ा होनेकी सम्भावना नहीं है। पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी वही हानि है, जो उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे, क्योंकि जिस प्रकार पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार सूर्यदेवकी प्राणमयी विद्युत् शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है। उपर्युक्त विज्ञानानुसार पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी मस्तिष्क और स्नायुमण्डलमें पीड़ा उत्पन्न होगी, अतः पूर्व या दक्षिण सिर सोना ही उचित है। आर्यशास्त्रोंमें उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख बैठकर पूजा पाठ, ध्यानधारणा आदि देवकार्य करनेका आदेश है, इसका कारण भी यही है कि, सौर और पार्थिव विद्युत् शक्तिका सम्बन्ध शरीरके साथ बना रहे जिससे शरीर शक्ति-सम्पन्न हो।

शयनके पहिले श्रीभगवान्‌का स्मरणकर उन्हींका गुणानुवाद करते

करते सो जाना चाहिये। ऐसा करनेसे सुखनिद्रा होती है और सुस्वप्न देख पड़ते हैं। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें सदाचाररूपसे प्रतिपालन करने योग्य आह्निक कृत्य बताये गये हैं, जिनके नियमित अनुष्ठान द्वारा मनुष्य निश्चय ही स्वास्थ्य, आयु तथा उन्नत धर्मके अधिकारी हो सकते हैं।

इति श्रीधर्मसुधाकरे अष्टमकिरणः।



नवम किरण ।



षोड़श संस्कार ।

आर्यशास्त्रमें संस्कारोंकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। षोड़श कला-पुष्ट चन्द्रदेवकी पूर्णताके सदृश षोड़श संस्कार द्वारा पूर्णता लाभ करके जीव जीवत्व छोड़ ब्रह्मत्व पदपर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। शास्त्रमें लिखा है—

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

लेखनीके बार बार फेरनेसे जिस प्रकार चित्र सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठान द्वारा ब्राह्मणगुण विकसित होता है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (२ य अध्याय)

वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्म द्वारा द्विजगणका शरीरसंस्कार करना चाहिये, जो कि इहलोक तथा परलोकमें पवित्रकारी है। गर्भसमयके तीनों संस्कारोंमें तथा जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयनादि संस्कारोंमें अनुष्ठित होमोंसे बीज तथा गर्भवासजन्य प्राप्त अपवित्रता नष्ट हो जाती है और वेद-मन्त्रोंके प्रभावसे अन्तःकरणमें शुभ संस्कारोंका उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदोंके स्वाध्याय, व्रत तथा होमोंसे, त्रयी विद्याके ज्ञानसे, योगानुष्ठानसे, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्तिसे और पञ्च महायज्ञ तथा अग्नि-

होमादि यज्ञोंसे द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तियोग्य बनाया जाता है। इस प्रकारके संस्कारोंका साधारण फल मन्वादि स्मृतिकारोंने बताया है। इनके पृथक् पृथक् फल स्मृतिसंग्रहमें विशेषरूपसे बताये गये हैं। यथा—

निषेकाद्व बैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥
गर्भाद्व भवेच्च पुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः॥
गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः।
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद्व ध्रुवा॥
निष्क्रमादायुः श्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूड़ाकर्मफलं स्मृतम्।
उपनीतेः फलं त्वेतद्व द्विजतासिद्धिपूर्विका॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिः ऋषिभिरीरिता।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम्॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितृणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतद्व व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

गर्भाधान संस्कारसे बीज तथा गर्भसम्बन्धीय समस्त मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्ररूपी स्त्रीका संस्कार भी इसका फल है। गर्भके अनन्तर कन्याशरीर न बनकर पुत्र शरीर बनना पुंसवन संस्कारका फल है। सीमन्तोन्नयन और गर्भाधानका फल एक ही प्रकार है। गर्भमें माताके आहार रसके पीनेका सब दोष जातकर्म संस्कारसे नष्ट हो जाता है। आयु तथा तेजकी वृद्धि और नाम व्यवहारकी सिद्धि नामकरण संस्कारका फल है। निष्क्रमणमें सूर्यनारायणका समन्त्रक दर्शन करानेसे आयुकी वृद्धि होती है और इस संस्कार द्वारा आयु तथा लक्ष्मीकी भी वृद्धि मानी गई है। माताके गर्भमें

मलिनताभक्षणका जो दोष लगता है. वह अन्नप्राशन द्वारा शुद्ध हो जाता है। बल, आयु और तेजकी वृद्धि होना चूड़ाकर्म संस्कारका फल है। द्विजत्व-सिद्धिपूर्वक वेदाध्ययनका अधिकारी होना उपनयनका फल है। विवाहके अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि योगानुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है और ब्राह्मादि उत्तम विवाहके फलसे सुपुत्र उत्पन्न होकर पितरोंका त्राण करता है, यह सब विवाहका फल है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें संस्कारोंकी परम-महिमा बताई गई है।

इस प्रकार संस्कारकार्यमें अधिकार किसका है?

इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

चार वर्णोंमेंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त क्रिया इनकी वैदिकविधिसे समन्त्रक होती है। शूद्रवर्णकी समस्त क्रिया अमन्त्रक होती है। यथा यमसंहितामें—

'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।

शूद्रवर्णके भी ये सब संस्कार विना वैदिक मन्त्रके होने चाहिये। वेदमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कारका निषेध है।

संस्कार कितने हैं, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें मतभेद पाये जाते हैं। कहींपर ४० संस्कार, कहींपर २५ और कहीं १६ संस्कार बताये गये हैं। गौतम-स्मृतिमें ४० संस्कारोंका वर्णन है यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विवाह, पञ्चमहायज्ञ, अष्टकाश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध इत्यादि। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार बताये हैं।

इसी प्रकार व्यास स्मृतिमें १६ संस्कार कहे गये हैं। यथा—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण इत्यादि। इस प्रकार षोड़श संस्कारके विषयमें महर्षियोंके मतभेद रहनेपर भी निम्नलिखित सोलह संस्कारोंमें सभीका अन्तर्निवेश हो जाता है। यथा—

आधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तोन्नयनम्।
जातकर्म, नामकरणम्, अन्नप्राशनम्, चौलम्, उपनयनम्॥

ब्रह्मव्रतम्, वेदव्रतम्, समावर्त्तनम्, उद्वाहः।
अग्न्याधानम्, दीक्षा, महाव्रतम्, सन्न्यासः॥

ये ही मीमांसादर्शनके अनुसार षोड़श संस्कार हैं। इनमेंसे प्रथम ८ संस्कार प्रवृत्ति सम्बन्धीय और दूसरे ८ संस्कार निवृत्ति सम्बन्धीय हैं। क्योंकि, श्रीभगवान् मनुजीने 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संस्कारका लक्ष्य जीवशरीरको ब्रह्मत्वलाभ योग्य बनाना कहा है और यह ब्रह्मत्वप्राप्ति 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा निवृत्तिकी पराकाष्ठामें ही होना सम्भव है, इस कारण मीमांसादर्शनोक्त षोड़श संस्कारविभाग जो कि, प्रवृत्तिनिरोध और निवृत्ति पोषणके विचारसे किया गया है वही जीवात्माकी पूर्णता प्राप्तिके लिये समीचीन जान पड़ता है।

अब नीचे षोड़श संस्कारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है—

(१) प्रथम संस्कारका नाम गर्भाधान है। पहले ही कहा गया है कि संस्कारका लक्ष्य ब्राह्मणत्वगुणका क्रमविकाश है। गर्भाधान संस्कार इस लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। सन्तान पितामाताके आत्मा, हृदय तथा शरीरसे उत्पन्न होती है इस कारण पितामाताके स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीरमें जो दोष रहेंगे, सन्तानमें भी वे दोष संक्रामित होंगे। इसी तथ्यको निश्चित करके गर्भग्रहणयोग्यता तथा उपयुक्त कालके निर्णय पूर्वक सन्तानके जन्मके समय जिसमें पितामाताका मन या शरीर पशुभाव युक्त न होकर सात्विक देवभावमें भावित हो इस लिये ही गर्भाधान संस्कारका विधान है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

मनुष्यमें धर्मसे अविरुद्ध काम भगवान्की विभूति है। पितामाता यदि धर्मभावसे भावित होकर केवल धार्मिक प्रजोत्पत्तिके लक्ष्यसे कामक्रियाका अनुष्ठान करेंगे तभी वह काम धर्माविरुद्ध होगा और उससे संसारका कल्याण होगा। सन्तानोत्पत्तिके समय मातापिताके चित्तमें जिस प्रकार भावका उदय होता है सन्तानका शरीर तथा मन उस भावसे गठित हो जाता है। कामभावके द्वारा कामुक सन्तान उत्पन्न होती है, वीरभाव तथा वीर पुरुषोंके स्मरण या वीरताकी अधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा वीर सन्तान उत्पन्न होती है, धर्माधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है इत्यादि।

इसलिये आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि पितामाता गर्भाधानके समय अपनेको देवभावमें भावित करें, पति अपनेको प्रजापतिका अंश समझें, पत्नी अपनेको वसुमतीकी रूप समझे और देवताओंका चिन्तन पूर्वक गर्भाधान कर्मको सम्पादित करें। गर्भाधानके समय पतिको चाहिये कि पत्नीको इन कई एक मन्त्रोंका अर्थ बतावे। यथा व्यापक विष्णु गर्भ ग्रहणका स्थान दें, देवशिल्पी त्वष्टा रूपका मिश्रण करें, प्रजापति सिञ्चन करें, सृष्टिकर्त्ता गर्भका संगठन करें, चन्द्रकलाकी देवी गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें, अश्विनीकुमार-गण जिनके अधिष्ठान द्वारा सन्तान आयुः प्राप्त, विनयशील सत्त्वगुणसम्पन्न होती है, वे गर्भाधान करें, इस प्रकारसे देवभाव युक्त होने पर सन्तान अवश्य ही सुलक्षणयुक्त तथा धार्मिक होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही गर्भा-धान संस्कारका संक्षिप्त रहस्य है। कालके कुटिल प्रभावसे यह उत्तम संस्कार अब नामशेष रह गया है। इस संस्कारमें पशुभावका ही प्रादुर्भाव देखा जाता है।

(२) द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन है। यह संस्कार तथा परवर्ती सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भरक्षाके लिये उपयोगी है। इसलिये गर्भावस्थामें ही ये दो संस्कार किये जाते हैं। मानवी गर्भके विनष्ट होनेके दो समय अति प्रबल होते हैं, यथा—गर्भधारणके अनन्तर तीसरे महीनेसे लेकर चौथे महीनेके बीचमें और दूसरा छठे महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीचमें। अतः इन दोनों समयोंमें विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीके गर्भरक्षाकी आवश्यकता होती है। इसीलिये शिशुके गर्भमें रहते समय इन दोनों संस्कारोंका विधान है।

पुंसवन संस्कार सीमन्तोन्नयनसे पहले किया जाता है। इसका समय गर्भग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है, पुरुषसन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इसका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होगा; क्योंकि साधार-णतः चौथे महीनेके पहले स्त्री या पुरुषका चिह्न नहीं होता इस कारण स्त्री या पुरुषका चिह्न प्रकट होनेके पहले पुंसवन संस्कारका विधान है। साधारणतः सभी देशकी स्त्रियाँ कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं; विशेषतः भारतकी स्त्रियां पुत्र सन्तान की बहुत ही इच्छा करती है, इसलिये पितरोंके तृप्त्यर्थ वृद्धिश्राद्ध तथा माङ्गलिक हवनादि समाप्त करके जब पति मन्त्रपाठ पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि –"मित्रावरुण नामक दोनों देवता

पुरुष हैं, अश्विनी कुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अग्निवायु ये भी दोनों पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है।" तब गर्भिणीका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समयका अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद एवं भीति और आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है और गर्भपोषणका बल फिरसे आ जाता है। पुंसवनमें दो वटके फलोंको उर्द और यवके साथ गर्भिणीकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी व्यवस्था है। सुश्रुतादि आयुर्वेद शास्त्रमें उसमें योनिदोषनाश तथा गर्भरक्षाकी शक्ति बताई गई है।

(३) तीसरे संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। इसका भी प्रयोजन गर्भ रक्षा करना है। गर्भग्रहणके बाद छठे या आठवें महीनेमें यह संस्कार किया जाता है। इसका मुख्यकर्म गर्भिणीके सीमन्तको उखाड़ देना है। सीमन्तके कुछ केश उखाड़ देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको शृङ्गार या सुगन्धादि सेवन नहीं करना चाहिये और पुष्पमाला आदिका धारण तथा पतिसहवास नहीं करना चाहिये।

इस संस्कारमें पति वृद्धिश्राद्ध, चरुपाक आदि कर चुकनेपर एकवृन्त स्थित दो पके हुए उदुम्बरके फल तथा अन्यान्य कई एक मांगलिक पदार्थोंको रेशमी वस्त्रसे गर्भिणीके गलेमें बाँधकर पहले यह मन्त्र सुनाते हैं--"तुम इस ऊर्जस्वल उदुम्बर वृक्षसे ऊर्जस्वला बनो। हे वनस्पते! जैसे पत्तेकी उत्पत्तिसे तुम्हारी समृद्धि होती है, वैसेही इसमें पुत्ररूप परम धन उत्पन्न हो।" तदनन्तर कुशगुच्छ द्वारा गर्भिणीके सीमन्तभागके केश उखाड़ते समय पति कहते हैं--"जिस प्रकार प्रजापतिने देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिको मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।" तदनन्तर पौर्णमासी देवता आदिसे भी इसी प्रकार प्रार्थना, सघृत चरु प्रदर्शन आदि कई एक क्रियायें हैं जिनसे गर्भपोषण, भावी सन्तानका कल्याण तथा गर्भदोष नाश होता है।

(४) चतुर्थ संस्कारका नाम जातकर्म है। यह सन्तानके भूमिष्ठ होते ही किया जाता है। इसका कार्य यह है कि पिता पहले यव और चावलके चूर्ण द्वारा और तत्पश्चात् सुवर्ण द्वारा घिसे हुए मधु और घृतको लेकर सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें लगाता है। इस समय पढ़नेका मन्त्र यह है—"यह अन्न

ही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है, तुमको ये सब प्राप्त हो! मित्रावरुण तुम्हे मेधा दें। अश्विनीकुमार तुम्हे मेधा दें। बृहस्पति तुम्हे मेधा दें"।

इस मन्त्रमें अन्नके लिये एकवार प्रार्थना है और उसीका सूचक चावल और यवका चूर्ण चखाना है; क्योंकि अन्नके द्वारा ही शरीरकी रक्षा होती है और शरीर रक्षा ही प्रथम धर्मसाधन है। तदनन्तर मेधाके लिये देवताओंसे बार बार प्रार्थना है क्योंकि इसीसे जीव आगेके जीवनमें सब प्रकारकी उन्नतिका अधिकारी हो सकता है।

सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको सन्तानकी जिह्वापर लगानेमें अनेक गुण हैं। सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है, मुत्रको साफ करता है और रक्तकी उर्द्धगतिके दोषको शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, वज्रकी रक्षा करता है और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें 'लार' का सञ्चार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफदोषको दूर करता है; अर्थात् यह क्रिया वायुदोषकी शान्तिका, गलनालिका, उदर और आंतोंको सरस बनानेका तथा मलमूत्र निकलने और कफके कम करनेकी क्रिया है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक हो जाता है और उसकी आंतोंमें एक प्रकारका काला काला मल सञ्चित रहता है; उसी मलके न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उपजती हैं। इसलिये डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेड़ीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतैलकी अपेक्षा अधिक उपकारी होता है। इसी लिये आर्यशास्त्रमें ऐसी व्यवस्था है। इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ मातृ शरीरज कई एक दोषोंका भी नाश होता है ऐसा आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

(५) पञ्चम संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके अनन्तर दस रात्रियां बीतनेपर उसका नाम रखना होता है। दस रात्रि छोड़ कर नामकरणका तात्पर्य यह है कि सूतिकागृहमें जितने लड़की लड़के मरते हैं उनमेंसे लगभग तीन भाग प्रथम दस रात्रियोंमें ही मर जाते हैं। इसी लिये प्रथम दस रात्रि छोड़ दी गई है। नामकरण संस्कारमें शिशुके जन्मग्रह, नक्षत्र तथा अन्यान्य देवताओंके उद्देश्यसे हवनकर पिताको बालकका नाम कह देना चाहिये। उसमें निम्न लिखित अर्थका मन्त्र है—"तुम कौन हो? तुम्हारी क्या जाति है? तुम अमृत हो। हे अमृत! तुम सूर्य्य सम्बन्धीय मासमें

प्रवेश करो। हे अमृत! सूर्य तुमको दिनसे दिनमें प्राप्त करावें। दिन, रात्रिमें प्राप्त करावे। दिन और रात्रि, पक्षमें प्राप्त करावें। पक्ष, पूर्णमासमें प्रवेश करावें। मास, ऋतुमें प्रवेश करावें। ऋतु सम्वत्सरमें और सम्वत्सर शतवर्षकी सीमा तक पहुँचावें।" इस प्रकारसे दृढ़ मंत्रद्वारा आत्माका अमृतत्व प्रतिपादन करके सन्तानके लिये अति दीर्घजीवनकी आशा तथा प्रार्थना की गई है। नामकरण संस्कार द्वारा नामकी भिन्नतानुसार जातिका भी निर्णय हो जाता है।

(६) षष्ठ संस्कारका नाम अन्नप्राशन है। पुत्र हो तो छठे या आठवें महीने और कन्या हो तो पांचवें या सातवें महीने यह संस्कार करना चाहिये। इसके द्वारा खाद्य पदार्थके निर्दिष्ट हो जानेसे अन्नसङ्करता दोषका निराकरण होता है। अन्नप्राशनके लिये शुभ दिन देखना होता है। वृद्धिश्राद्ध कर चुकनेपर पिता सन्तानको गोदमें लेकर बैठे और माता वाम भागमें बैठे। तब पिता मन्त्र पढ़ता हुआ हवन करे और फिर सन्तानके मुखमें अन्नका ग्रास दे। "अन्न ही सकल जीवोंका रक्षक है, अन्नपति सूर्यदेव अन्नदान तथा मङ्गलदान करें।" इत्यादि इत्यादि भावार्थबोधक मन्त्र इसमें पढ़े जाते हैं। माताके गर्भमें मलिनता भक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनसे शुद्ध हो जाता है।

(७) सप्तम संस्कारका नाम चूड़ाकरण है। इसका मुख्य समय शिशुका तीसरा वर्ष है और इसमें प्रधान कार्य केशमुण्डन है। गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं उन सबको दूर कर चूड़ाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि चूड़ाकरण द्वारा अपात्रीकरण दोषका निराकरण होता है।

श्राद्ध, हवनादि करनेके बाद सूर्यका ध्यान करते हुए निम्न लिखित भावके मंत्र इस संस्कारमें पढ़ने होते हैं, यथा—"जिस क्षुधिति अर्थात् क्षुरेके द्वारा सूर्यने वृहस्पतिका केशमुण्डन किया था, वायुने इन्द्रका मुण्डन किया था उसी ब्रह्मरूपी क्षुधिति द्वारा मैं तुम्हारा केशमुण्डन करता हूं। तुम्हे आयु, तेज, बल आदि प्राप्त हो। इत्यादि।

(८) अष्टम संस्कारका नाम उपनयन है। द्विजातिके बालक इसी संस्कारके द्वारा ज्ञानशिक्षाके उद्देश्यसे शिक्षक आचार्यके समीप उपनीत होते हैं, इसलिये इसका नाम उपनयन है। द्विजगण इसी संस्कारके द्वारा द्विजत्व प्राप्त करते हैं, यथा याज्ञवल्क्य स्मृतिमें—

मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौंजिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका प्रथम जन्म मातृगर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार द्वारा होता है, इसलिये वे द्विज कहलाते हैं। उपनयन कालके विषयमें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रमें लिखा है—

'वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्, गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम्।'

वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालकका, ग्रीष्म ऋतुमें क्षत्रिय बालकका और शरद ऋतुमें वैश्य बालकका उपनयन कराना चाहिये। गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मण बालकका, ग्यारह वर्षमें क्षत्रिय बालकका और बारहवें वर्षमें वैश्य बालकका उपनयन होना चाहिये। शूद्र वर्णका इस संस्कारमें अधिकार नहीं है।

उपनयन अच्छे आचार्यके द्वारा कराना होता है, उसके लक्षण शास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बताये गये हैं, यथा धर्मसूत्रमें—

'यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः'।

जिनसे धर्मोपदेश यथाशास्त्र प्राप्त हो वे ही आचार्य शब्दवाच्य हैं। महर्षि बृहस्पतिने भी कहा है—

आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते॥

जो वेदादि शास्त्रका उपदेश करें, शिष्यको आचारवान् बनावें तथा स्वयं आचारशील हों उन्हींको आचार्य कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।

द्विजबालकका उपनयन कराकर वेदकी शिक्षा देनेवाला आचार्य कहलाता है। इस प्रकार आचार्यपद यदि पिता पितामहादि ग्रहण कर सकें तो अच्छा ही है। यथो वृद्धगर्ग—

पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः।
उपनायेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥
पितैवोपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥

पिता, पितामह, पितृव्य, ज्ञाति या ज्येष्ठभ्राता ये सब श्रेष्ठानुक्रमसे पर पर उपनेता हो सकते हैं। पिताहीको पुत्रका उपनयन करना चाहिये, उनकी अयोग्यता या अभावमें पितामह कर सकते हैं, उनके अभावमें पितृव्य और उनके भी अभामें सहोदर ज्येष्ठ भ्राता कर सकते हैं। यदि इनमेंसे कोई भी आचार्य बननेकी योग्यता न रखता हो, तो महर्षि शौनक कहते हैं—

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद्द्विजोत्तमः॥

कुलीन, श्रुतिशास्त्रज्ञ, सदाचारसम्पन्न, तपःप्रभावसे निष्पाप ब्राह्मण द्विजकुमारका उपनयन करा सकते हैं। अब इस प्रकार योग्य ब्राह्मण आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार कार्य कैसे अनुष्ठित होना चाहिये उसकी संक्षेप विधि क्रमशः नीचे बतायी जाती है।

उपनयनके पूर्व दिन यजमान तथा यजमान पत्नी बालकके साथ मंगल स्नान करके प्रथमतः संकल्प, गोदान और ब्राह्मण द्वारा गायत्री जप करावे, तद्-नन्तर गणपतिपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन और नान्दीश्राद्धादि विधिपूर्वक करने होते हैं। उसके बाद उपनयनके दिन प्रथमतः बालकका क्षौर कर्म कराकर स्नानानन्तर आचार्यके पास लाना होता है। वहांपर ब्राह्मणोंके द्वारा 'आब्रह्मन्' इत्यादि मन्त्रोंसे आशीर्वाद हो जानेके बाद आचार्य अपनी दक्षिण दिशामें स्थित बालकसे 'ब्रह्मचार्यसानि' इस वाक्यको कहलावे और स्वयं 'ओं येनेन्द्राय वृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्। तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घा-युत्वाय बलाय वर्चसे।' इस मन्त्रको पढ़कर बालकको कटिसूत्र तथा कौपिन वस्त्र पहनावे, ब्राह्मण ब्रह्मचारीको शणके, क्षत्रियको अतसीके और वैश्यको ऊनके वस्त्र देने होते हैं और वेही वस्त्र ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हैं। तदनन्तर आच-मन कराके आचार्य-ओं-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनतीम आगात्। इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्मचारीके जितने प्रवर हो उतनी गांठवाली मूंज आदिकी मेखलाको ब्रह्मचारीके कटि भागमें प्रदक्षिण क्रमसे तीन बार लपेटकर बांधे और तत्पश्चात् देशाचारानुकूल यज्ञोपवीतका एक एक जोड़ा और अन्नादि दक्षिणा सहित चौवीस जलपात्र संकल्प करके ब्राह्मणोंको देवे। इसके बाद निम्नलिखित प्रकारसे यज्ञोपवीतका संस्कार करे। प्रथम 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे उपवीत पर जलसेचन करके 'ब्रह्मजज्ञानं' इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ता

हुआ उस पर अङ्गुष्ठ घुमावे, पुनः नौ तन्तुओंमें ओंकारादि नौ देवताओंका विन्यास करके यज्ञोपवीतको देखता हुआ दस बार 'तत्सवितुः' आदि गायत्री मन्त्र पढ़े, और उपयाम मन्त्र पढ़कर सूर्यनारायणको उपवीत दिखावे। तब आचार्य अपने हाथसे ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देवे और बालक यज्ञोपवीतको

ओं—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनापनह्यामि।

अपने हाथमें लेकर—

इस मन्त्रको पढ़कर यज्ञोपवीतको पहने। तत्पश्चात् चीरेदार कपासका वस्त्र 'ओं युवा सुवासाः' आदि मन्त्र पढ़ते हुए यज्ञोपवीतके तुल्य ब्रह्मचारीको धारण कराना होता है। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको ऊपरसे ओढ़नेके लिये मृगचर्म देवे और—

'ओं मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्विस्थविरं समिद्धम् अनाहनस्य वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम्॥'

इस मन्त्रसे ब्राह्मणादिके बालक मृग आदिके चर्मको धारण करे। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको बिल्व या पलाशादिका दण्ड देवे और वह ब्रह्मचारी 'ॐ यो मे दण्डः' इत्यादि मन्त्रको पढ़कर आचार्यके हाथसे दण्डको लेवे। दण्ड लेनेके बाद आचार्य अपनी अञ्जलिको जलसे भरकर ब्रह्मचारीकी अञ्जलिको उसी जलसे 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे तीन बार भरे और आचार्यके पठित प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें शिष्य सूर्यनारायणको अपने अञ्जलिजलसे तीन बार अर्घ्य देवै। तदनन्तर 'सूर्यमुदीक्षस्व' कहकर आचार्य ब्रह्मचारीको सूर्य देखने कहे और ब्रह्मचारी—

'ॐ—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्' इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ सूर्यनारायणका दर्शन करे। तब आचार्य बालकके दहिने कन्धेके ऊपरसे हाथ ले जाकर—

'ॐ—मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

इस मन्त्रसे उसके हृदयका स्पर्श करे। फिर आचार्य बालकके दहिने हाथको अंगुष्ठसहित पकड़कर कहे—को नामासि—और ब्रह्मचारी—अमुकशर्मा-

ऽहं भोः- ऐसा प्रत्युत्तर देवे। इसी प्रकार तीन बार दोनों उक्त प्रकारसे कहें। फिर ब्रह्मचारीसे आचार्य कहे--'कस्य ब्रह्मचार्य्यसि' उसपर 'भवतः' ऐसा उत्तर बालक कहे। तब आचार्य—'ॐ-इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ - इस मन्त्रको पढ़े। मन्त्रके अन्तमें 'आचार्यस्तव देवशर्मन्' इत्यादि प्रकार असौके स्थानमें शर्माद्यन्त ब्रह्मचारीका नाम लेवे। तदनन्तर आचार्य—

ॐ प्रजापतये त्वा परिददामि। ॐ—देवाय त्वा सवित्रे परिददामि।

इत्यादि मन्त्रोंसे हाथ जोड़े हुए बालकको पूर्वादि दिशाओंमें उपस्थान करावें, मन्त्रोंको आचार्य स्वयं पढ़ें। पश्चात् कुमार बालक अग्निको प्रदक्षिणा क्रमसे पर्युक्षण करके आचार्यसे उत्तरमें बैठकर पुष्प चन्दन ताम्बूल और वस्त्रोंको लेकर 'ॐ अद्य' इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्माका वरण करे और पुष्पादि ब्रह्माके हाथमें देवे। ब्रह्मा पुष्पादिको लेकर 'वृतोऽस्मि' कहे। इसके बाद उपनयन संस्कारमें अनेक कृत्य किये जाते हैं, जो विस्तारभयसे यहांपर नहीं दिया गया, वे सब संस्कारसम्बन्धीय ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं। संस्कारकी समाप्ति होनेपर आचार्यके लिये ब्रह्मचारीको—तुम ब्रह्मचारी हो, अबसे तुम वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी हुए हो, तुम स्नान, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, भिक्षाचर्यादि अपने शास्त्रोक्त कर्म करोगे, तुम दिनमें नहीं सोया करोगे इत्यादि इत्यादि उपदेश देनेका और ब्रह्मचारीके लिये प्रतिज्ञापूर्वक उन सबको स्वीकार करनेका नियम है। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारीको सावित्री मन्त्रका उपदेश देते हैं। इसमें आचार्य प्रथमावृत्तिमें प्रणव और व्याहृतियों सहित एक एक पादका उपदेश करते हैं। द्वितीयावृत्तिमें ऊपर लिखे अनुसार प्रथम आधी ऋचाके साथ प्रणव व्याहृति लगाकर कहलावे, द्वितीयतः ऐसे ही तृतीय पादका उच्चारण करावे और तृतीयावृत्तिमें प्रणव व्याहृतियों सहित पूरे मन्त्रका उच्चारण आचार्य करावे, शिष्य साथ साथ कहता जावे। ऐसा तीन बार कहलाकर आचार्य और शिष्य दोनों-'ओं स्वस्तिः' कहें। इसके अनन्तर कुछ हवनादि कृत्य किये जाते हैं और सबके अन्तमें प्रथमतः ईश्वर, देवता, वैश्वानर तथा सूर्यनारायणको अभिवादन करके पश्चात् आचार्यको और तदनन्तर क्रमशः माता-पिता तथा अन्यान्य मान्य स्त्री-पुरुषोंको अभिवादन करनेकी विधि है। इसके पश्चात् भिक्षापात्र लेकर ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो तो 'भवति! भिक्षां देहि' क्षत्रिय हो तो 'भिक्षां भवति! देहि' और वैश्य हो तो 'भिक्षां देहि

भवति!' ऐसा कहकर गृहस्थ स्त्रियोंसे भिक्षा मांग लावे और आचार्यके आगे उस भिक्षान्नको धरकर उनकी आज्ञानुसार भोजन करे। भोजनकालसे लेकर सूर्यास्त होनेतक मौन रहे, उपनयन संस्कार समयके अग्निको ब्रह्मचारी तीन दिन अवश्य रक्खें, बुतने न देवें। यही सब संक्षिप्त उपनयन विधि है।

उपनयन संस्कार बहुत ही गूढ़ रहस्यमय है। इसमें ब्रह्मज्ञानके मूल-स्वरूप ब्रह्मचर्यलाभ, सत्यज्ञान तथा सदाचारलाभ, सत्शिक्षालाभ और आध्यात्मिक उन्नतिका सारा तत्व भरा हुआ है। नीचे संक्षेपसे इस तत्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

प्रथम अग्निदेवता, वायुदेवता, सूर्यदेवता, चन्द्रदेवता और इन्द्रदेवतासे सत्य वचन, सत्य सिद्धि, अध्ययन समृद्धि तथा सदाचार लाभके लिये प्रार्थना और प्रतिज्ञा की जाती है। तदनन्तर आचार्य शिष्यके प्रति दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—'हे पञ्चदेव! तुम इस सुन्दर माणवकको मुझसे मिला दो। हम दोनों बिना किसी विघ्नके परस्पर मिल सकें। गुरु-शिष्यका सम्मिलित होना ही शिक्षाका प्रथम तथा प्रधान अनुष्ठान है, इस कारण ऐसा विधान है। तदनन्तर माणवक आचार्यसे कहता है-'मैं ब्रह्मचारी-अर्थात् मैथुनरहित हुआ हूं। मुझे उपनीत कीजिये, अपने समीप ग्रहण कीजिये'। तदनन्तर दोनों अपने अपने हाथोंमें तृप्तिसूचक जलाञ्जलि भरकर और आचार्य शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही अञ्जलिके जलको एक ही स्थानमें छोड़ देते हैं। जल जैसे जलके साथ मिल जाता है ऐसा ही मानों गुरु-शिष्यका मिलन हो गया। फिर आचार्य अपने दहिने हाथसे शिष्यके दहिने हाथको पकड़ते हैं। शिष्य समझता है उसके हाथको जगत प्रसविता सूर्य, स्वास्थ विधायक अश्विनी कुमार और पोषणकारी पूषण देवताने ही अपने हाथमें लिया है। ऐसी दशामें आचार्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्यविधायक और पोषक हैं यह स्पष्ट होगा। फिर आचार्य कहते हैं-'अग्नि, सविता और अर्यमाने पहले ही हस्तधारण कर तुम्हें ग्रहण किया है। अग्निदेव ही तुम्हारे आचार्य हैं, तुम मेरे अति प्रियकारी मित्र हो। इस समय सूर्यके आवर्तनके अनुरूप तुम मेरी प्रदक्षिणा करते हो'। शिष्य जब आचार्यकी प्रदक्षिणा करके उपस्थित होता है, तब आचार्य उसकी नाभिको स्पर्श कर कहता है-'हे नाभि! तू विस्रष्ट न होना अर्थात् स्थिर रहना। हे अन्तक! इस ब्रह्मचारीको मैंने तुमको सौंपा है। (नाभिके ऊपरी भागको छूकर) हे

वायो! (वाम भागको छूकर) हे सूर्य ! (वक्षः स्थलको छूकर) हे अग्नि ! (दक्षिण अङ्गको छूकर) हे प्रजापति! यह मेरा मैं तुमको सौंपता हूं, यह जरा-मरणादि किसी दोषको न प्राप्त हो। फिर आचार्य कहते हैं-तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकड़ी लाओगे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे, गुरु शुश्रूषा करोगे, दिनमें शयन न करोगे इत्यादि इत्यादि। ब्रह्मचारीको इन सबके पालनका स्वीकार करना होता है। तदनन्तर ब्रह्मचारी यथार्थ-ब्रह्मचारीका वेषधारण करता है अर्थात् अङ्गोंके वलय आदि अलङ्कारोंको त्यागकर मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन धारण करके गायत्री पाठको ग्रहण करता है। गायत्री पाठके उपरान्त भिक्षाचर्या, गुरुको भिक्षान्न समर्पण और गुरु आज्ञासे स्वयं भोजन आदि कर्तव्य विहित है।

ऊपरके सभी कृत्य गूढ़रहस्यमय हैं। (१) जलमें जल मिलनेकी तरह गुरु शिष्यका मधुमय सम्मिलन कैसा मधुर तथा शिष्यके लिये सर्वोन्नतिप्रद है। (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकड़कर कैसे सुन्दररूपसे जनकत्व, स्वास्थ्यविधायकत्व तथा पोषकत्वका परिचय दिया। (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंको स्वीकार करने पर भी स्वयं अभिमानी नहीं हुए, शिष्यके यथार्थ गुरु अग्निदेव हैं, सो स्पष्ट कह दिया और शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र समझा। गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना चाहिये अर्थात् मिलनसार, पितृतुल्य तथा निरभिमान मित्रभावापन्न सो ही प्रकट हुआ। तदनन्तर शिष्यका कर्त्तव्य जो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहना है, सो तत्कर्तृक सूर्यावर्त्तन द्वारा प्रकाशित हुआ। और यह भी प्रकाशित हुआ कि, शिष्य जैसे वेदोदय सूर्यके स्थानापन्न है वैसे ही गुरु भी सूर्यके आवर्त्तनीय विश्वमूर्त्ति परमेश्वरके रूप हैं। उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनमें प्रवृत्त होकर नाभिदेशमें यमको, नाभिके ऊर्द्ध्वभागमें वायुको, वामभागमें सूर्यको, मध्यभागमें अग्निको और दक्षिण भागमें प्रजापतिको स्थापन किया अर्थात् शिष्यके देहमें ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ और ऐसा होनेसे ही उपनयन संस्कार पूर्ण हो गया। उसी समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ और ब्रह्मचारीका वेष धारण कर शास्त्रविहित अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो गया। जो संस्कार क्षुद्रदेहको विश्वदेह बनाकर जीवत्वको शिवत्वकी ओर ले जानेमें परम सहायक बनता है, वह कितना महान् तथा रहस्यमय है, सो बुद्धिमान्गण अवश्य ही समझ सकेंगे।

यज्ञोपवीतमें जो नव तन्तु और तीन दण्ड होते हैं, उनके भी अतिगूढ़ तात्पर्य हैं। यथा—

ओंकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः।
ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्॥
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम्॥

यज्ञोपवीतके नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान है। उनके नौ पृथक् पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विजबालक भूषित हो सकते हैं। प्रथम देवता ओंकार-गुण ब्रह्मज्ञान, द्वितीय देवता अग्नि-गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त-गुण धैर्य्य, चतुर्थ देवता चन्द्र-गुण सर्वप्रियता, पञ्चम देवता पितृगण-गुण स्नेहशीलता, षष्ठ देवता प्रजापति-गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु-गुण बलशालिता, अष्टम देवता सूर्य-गुण प्रकाश और नवम देवता सर्व-देवता-गुण सात्त्विकता। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा इन देवताओंका नित्य स्मरण तथा हृदयमें गुणाधान होता है। इसी कारण नवतन्तु धारण विधि है। ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया है, विष्णुने त्रिगुणित किया है, रुद्रने ग्रन्थि दी है और सावित्री देवीने अभिमन्त्रित किया है, ग्रन्थि देते समय इनके स्मरण द्वारा भी शक्तिलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। इसके सिवाय तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बतायी गयी है। काय–संयमके द्वारा ब्रह्मचर्य्यधारण, तपस्यादि, वाक्‌संयम द्वारा वृथावाक्य या मिथ्यावाक्यपरिहार और मनःसंयम द्वारा विषयोंसे मनको हटाना यही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार उपनयनसंस्कार द्वारा द्विजगणको महान् लाभ होते हैं।

(९) उपनयनके बाद नवम संस्कार ब्रह्मव्रत कहलाता है। इसमें उपनीत अर्थात् आचार्य्यगृहमें आचार्यान्तेवासी द्विज ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण करके ब्रह्म अर्थात् परमात्माके पथमें अग्रसर होनेके लिये प्रतिज्ञा तथा पुरुषार्थ करते हैं, इसी लिये इस संस्कारका नाम ब्रह्मव्रत है। इसमें ब्रह्मचारीका प्रधान कर्तव्य

आचार्य्यसेवा तथा ब्रह्मचर्य्य-धारण है। बिना गुरुसेवाके कोई भी विद्या फलीभूत नहीं होती है, इसलिये आर्य्यशास्त्रमें गुरुसेवाकी इतनी महिमा बताई गयी है, यथा सनत् सुजातमें—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य,
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम्॥

आचार्यके समीप जाकर उनकी सेवा द्वारा जो ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, वे इहलोकमें सुपण्डित तथा मरणान्तर परम पदको प्राप्त होते हैं। और भी

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम्॥

पिता माता केवल स्थूल शरीरको उत्पन्न करते हैं, किन्तु आचार्यके द्वारा जो आध्यात्मिक देह उत्पन्न होता है, वही सत्य तथा अमृत है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

परमात्मा तथा गुरुमें जिसकी पूरी भक्ति है, उसीके हृदयमें तत्त्व ज्ञानका स्फुरण हो सकता है। इस प्रकार आचार्यके चरणोंमें रहकर जो ब्रह्मव्रत पालन किया जाता है, शास्त्रमें उसके चार पाद कहे गये हैं। यथा सनत्-सुजातमें—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥

भीतर बाहर शुचिता अवलम्बन करके शिष्यवृत्ति द्वारा आचार्यसे जो विद्यार्जन करना है वही ब्रह्मव्रतका प्रथम पाद है।

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथा चरेत्।
तत् पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते॥

गुरुके समान गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्रमें भी सद्वृत्तिका पालन करना ब्रह्मव्रतका द्वितीय पाद है।

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ,
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः,
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः ॥

आचार्यके द्वारा अपने प्रति उपकारको समझकर तथा उनके द्वारा प्राप्त वेदविद्यासे अपनेको सम्भावित जानकर, जो हृदयकी हृष्टता और कृतार्थता है, वही ब्रह्मव्रतका तृतीय पाद है।

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥

प्राण, धन, मन, वाणी तथा कर्मके द्वारा आचार्यका प्रियानुष्ठान ही ब्रह्मव्रतका चतुर्थ पाद है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रतके चार पोद बताये गये हैं।

ऊपर कथित चार पादोंकी पूर्त्तिके लिये आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रत संस्कारके भीतर उपनीत ब्रह्मचारीके कर्त्तव्यरूपसे अनेक उपदेश किये गये हैं। अब नीचे उनमेंसे कुछ कुछ उपदेश उद्धृत किये जाते हैं। महर्षि यमने कहा है—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च सर्वदा ।
कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत् ॥
अग्नीन्धनं भैक्षचर्य्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥

उपनीत ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कौपीन और कटिसूत्र सदा धारण करें और इस प्रकारसे समावर्त्तनकालपर्यन्त अग्निसेवा, भिक्षाचर्या, भूमिशय्या और गुरुका हितानुष्ठान करें।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥

वेदयज्ञशील तथा वर्णाश्रमोचित कर्ममें निष्ठावान् सदाचारसम्पन्न द्विजगणके गृहमें ही ब्रह्मचारी भिक्षाटन करें। महर्षि यमने कहा है—

आहारमात्रादधिकं न क्वचिद्भैक्षमाहरेत्।
युज्यते स हि दोषेण कामतोऽधिकमाहरन्॥

आहारके लिये जितना प्रयोजन हो उससे अधिक भिक्षान्न संग्रह नहीं करना चाहिये। इच्छाके वशवर्त्ती होकर अधिक संग्रहकारी ब्रह्मचारीको दोष लगता है। महर्षि दक्षने कहा है—

न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।
एतैः सर्वैः सुनिष्णातो यतिर्भवति नान्यथा॥

ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमें न चिन्ता करनी चाहिये, न बोलना चाहिये और न सुनना चाहिये। ऐसा होनेसे ही यति हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यही सब संक्षेपसे वर्णित ब्रह्मव्रतकी विधियां हैं। इसका विस्तारित वर्णन आश्रमधर्म नामक प्रबन्धमें पहले ही किया गया है, इस कारण पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

(१०) षोड़श संस्कारोंमें दशम संस्कारका नाम वेदव्रत है। इसको वेदारम्भ संस्कार भी कहते हैं। ज्योतिषोक्त शुभ दिनमें अपनी शाखाका आरम्भ करके इस संस्कारका अनुष्ठान होता है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥

जिस कुलमें जो शाखा तथा गृह्यसूत्र व्यवहारपरम्परासे चला आता है, उस कुलमें उसी शाखासे वेदारम्भ होना चाहिये। महर्षि पराशरने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि।
अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा॥

साङ्गवेद तथा धर्मशास्त्रोंको अर्थसहित पढ़ना चाहिये। अर्थ न समझकर पाठमात्र पढ़ना भूसी कूटनेके समान निष्फल है।

अब वेदव्रतकालीन शास्त्रोल्लिखित कुछ कर्त्तव्योंके निर्देश किये जाते हैं। शास्त्रमें वेदपाठ तथा अर्थसहित वेदाभ्यासकी भूरि भूरि प्रशंसा पाई जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।
यं यं क्रतुमधीयीत तस्य तस्याऽऽप्नुयात् फलम् ॥

वेद ही द्विजातिका परम मुक्तिदायक शास्त्र है। प्रतिशाखाके पाठसे अमोघ फलकी उत्पत्ति होती है। स्मृतिसारसमुच्चयमें लिखा है—

वेदो यस्य शरीरस्थो न स पापेन लिप्यते ।
वेदात्मा स तु विज्ञेयः शरीरैः किं प्रयोजनम् ॥

वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः ।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः ॥

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं यच्चान्यत्कर्म वैदिकम् ।
अनधीतस्य विप्रस्य सर्वं भवति निष्फलम् ॥

अनधीतो द्विजो यस्तु शास्त्राणि तु बहून्यपि ।
शृणोत्याब्रह्मणो नाशं नरकं स प्रपद्यते ॥

नाधीतवेदो यो विप्र आचारेभ्यः प्रवर्त्तते ।
नाऽऽचारफलमाप्नोति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥

जिसके शरीरमें वेद है वह पापसे लिप्त नहीं होता है, वह वेदात्मा है, उसके शरीरका क्या प्रयोजन है? वेदके जितने अक्षर द्विज पढ़े, उतना हरि-नाम ही उसने कीर्त्तन किया इसमें सन्देह नहीं। जिस कुलमें तीन पुरुषतक वेदपाठ नहीं हुआ या कोई वेदज्ञ उत्पन्न नहीं हुए, उसको कर्महीन कुब्राह्मण कुल जानना चाहिये। वेदस्वाध्यायविहीन ब्राह्मणका नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्म्म निष्फल होता है। जो द्विज अन्यान्य अनेक शास्त्र पढ़नेपर भी वेदका स्वाध्याय नहीं करता है, उसको अधोगति मिलती है। वेदपाठ न करके जो विप्र आचारका अनुष्ठान करता है, उसको उस अनुष्ठानका फल नहीं मिलता है, वह शूद्रतुल्य ही है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें वेदपाठकी परम-महिमा वर्णित की गई है।

वेद्पाठमें कई एक अनध्याय दिन माने जाते हैं, जिनमें वेदपाठ करनेसे विद्यानाश, मेधानाश आदि अनेक हानियां शास्त्रोंमें बताई गई हैं।

अब ऐसे अनध्याय कौन कौन हैं, सो मनुसंहितासे उद्धृत किये जाते हैं:-

इमान् नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्॥
नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः।
अमावस्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥
अमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माष्टका पौर्णमास्यौ तस्मात् ताः परिवर्जयेत्॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांशुसमूहने।
एतौ वर्षास्वनध्यायवध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥
विद्युत् स्तनितवर्षेषु महोल्कानाञ्च संप्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषाञ्चोपसर्जने।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च॥
उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत्॥
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्त्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु॥
नाधीयीताश्वमारूढ़ो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम्॥
द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिञ्चाशुद्धामात्मानञ्चाशुचिं द्विजः॥ (४ अध्याय)

वेदाध्यापक गुरु और वेदपाठी शिष्य इनको निम्नलिखित अनध्यायोंको अवश्य मानना चाहिये। कोहर, बाणका शब्द, अमावस्या, चतुर्दशी, पौर्णमासी, अष्टमी और प्रातः सायं सन्ध्याकाल—इनमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। अमावस्यापाठमें गुरुका नाश, चतुर्दशीमें शिष्यका नाश, अष्टमी और पौर्णमासीमें वेदविस्मरण होता है। अतः इन तिथियोंमें वेदपाठ सर्वथा वर्जनीय है। वर्षाके दिनोंमें यदि रात्रिके समय उत्कट वायुप्रवाह हो या दिनमें धूलिका प्रवाह होने लगे, तो अनध्याय जानना चाहिये। विद्युत् तथा मेघगर्जनके साथ वर्षा या उल्कापात होनेपर उस समयसे दूसरे दिन उस समयतक अनध्याय जानना चाहिये। अस्वाभाविक शब्दके साथ भूकम्प होनेपर अथवा चन्द्रसूर्यादि ज्योतिःपदार्थपर किसी प्रकार उपसर्ग आजानेपर आकालिक अनध्याय हो जाता है। शवयुक्त स्थानमें, अधार्मिक जनोंके पास, रोदन शब्द होनेपर तथा बहुजन समागममें अनध्याय जानना चाहिये। जलके भीतर, मध्यरात्रिमें, विष्ठामूत्रत्यागके समय, उच्छिष्ट मुखसे या श्राद्धभोजनान्तर मनसे भी वेदचिन्तन नहीं करना चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण श्राद्धमें निमन्त्रण ग्रहण करनेपर तीन दिन वेदाध्ययन न करे। राजाको पुत्र होनेपर अथवा चन्द्रसूर्य्यपर राहुग्रास होनेपर तीन दिन वेदका अनध्याय होता है। उपाकर्म या उत्सर्ग नामक कर्मके अनन्तर त्रिरात्र अनध्याय होता है। मार्गशीर्ष पौर्णमासीके बाद अष्टका नामक जो तीन कृष्णाष्टमी हैं उसमें अहोरात्र अनध्याय तथा ऋतुके अवसान दिनमें भी अनध्याय जानना चाहिये। अश्व, वृक्ष, हस्ती, नाव, गर्दभ, ऊंट या शकटादि यानपर चढ़कर तथा ऊषर देशमें रहते समय वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। गौ आदि पशु, भेक, बिड़ाल, श्वान, सर्प, नकुल अथवा मूषिक इनमेंसे कोई भी यदि वेदपाठके समय गुरु और शिष्यके बीचमेंसे चला जाय तो एक अहोरात्र अनध्याय होता है। स्वाध्यायके स्थानका अशुचि रहना तथा स्वयं अशुचि रहना ये दोनों अनध्यायके नित्य कारण हैं, अतः द्विजगणको यत्नपूर्वक इन अनध्याय हेतुओंको नहीं आने

देना चाहिये। इस प्रकारसे श्रीभगवान् मनुने अनध्यायके और भी अनेक समय निर्देश किये हैं। मनुजीकी तरह अन्यान्य स्मृतिकारोंने भी अनध्याय-लक्षण अनेक बताये हैं। यथा हारीतसंहितामें—

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः।
श्वोऽनध्यायेऽद्य शर्वर्यां नाधीयीत कदाचन॥

दोनों प्रतिपदा, चतुर्दशी तथा अष्टमीमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये। जिस दिन अनध्याय होनेवाला है, उसके पूर्वदिन रात्रिकालमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये।

इन विधियोंके साथ कुछ अपवादविधि भी है यथा कूर्मपुराणमें—

नैत्यके नास्त्यनध्यायः सन्ध्योपासन एव च।
उपाकर्मणि कर्मान्ते होममन्त्रेषु चैव हि॥
अनध्यायस्तु नाङ्गेषु नेतिहासपुराणयोः।
न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानि वर्जयेत्॥
अधीयीत सदा सर्वां ब्रह्मविद्यां समाहितः।
सावित्रीं शतरुद्रीयं वेदान्तांश्च विशेषतः॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है, सन्ध्योपासन, उपाकर्म या होममन्त्रपाठमें भी अनध्याय नहीं माना जाता है। वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण या धर्मशास्त्र-पाठमें भी अनध्याय नहीं है। अन्यत्र इन पर्वोंका वर्जन होना चाहिये। ब्रह्मविद्या, वेदान्त, गायत्री तथा शतरुद्रीपाठमें कदापि अनध्याय नहीं होता है। यही सब अनध्यायप्रकरणमें अपवादविधि हैं। इस प्रकारसे वेदादि शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार वेदव्रत संस्कारका पूर्ण परिपालन होनेपर ब्रह्मचारी वेदव्रती, अखिलशास्त्र, पारंगत तथा इहलोक परलोकमें परम कल्याणका अधि-कारी हो सकता है।

शास्त्रमें वेदपाठके विषयमें इतने अनध्याय क्यों माने गये हैं, इसके वैज्ञानिक तथ्यपर विचार करनेसे साधारणतः तीन मुख्य हेतु जान पड़ते हैं। यथा—चन्द्रादि ग्रहोपग्रहोंका आकर्षण, उत्तम या अधम शकुन तथा शारीरिक या मानसिक अशुचिता। वेद श्रीभगवान्का वाक्य है, इस कारण आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक विविध शक्ति वैदिक मन्त्रोंमें पूर्णरूपसे विद्यमान

है। अतः देशकाल या स्वाध्यायकारी छात्रकी शारीरिक मानसिक स्थिति जबतक उसकी अनुकूल न हो तबतक वेदपाठ, और स्वरादि हस्तचालनादिके साथ वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे नाना प्रकार आधि व्याधि या दैवी विपत्तियां हो सकती हैं। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें ऊपर लिखित निषेध बताये गये हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावास्या या उसके आस पासकी तिथियोंमें सूर्यचन्द्रादि ग्रहोंका आकर्षण और तज्जन्य शारीरिक मानसिक प्रतिकूलता प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्वान, शृगाल, गर्दभ, हस्ती आदि जन्तुओंके साथ अपशकुनका विशेष सम्बन्ध शकुनशास्त्रसे स्पष्ट है और तज्जन्य दैवी असुविधायें सभी मनुष्योंपर होनी भी शास्त्रसिद्ध हैं। राहुग्रासादिजन्य सूतक, प्रेतश्राद्ध आदि भोजनजन्य तपोनाश और अशुचिता, कृतघ्न, पापी आदिके सान्निध्यजन्य अपवित्रता इत्यादि इत्यादि सब शारीरिक मानसिक अशुचिताके दृष्टान्त हैं। अतः इन सब आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाधाओंके समय त्रिविध शक्तिपूर्ण वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करना हानिजनक होनेसे शास्त्रोंमें अनध्यायका निर्देश किया गया है। वेदान्तादि शास्त्रोंके साथ आध्यात्मिक सम्बन्धकी प्रधानता और दैवीशक्ति सम्पर्ककी न्यूनता रहनेसे उनके स्वाध्याय अनध्यायमें विधिनिषेधका इतना प्राबल्य नहीं माना गया है। यही अनध्यायनिर्देशके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य है।

(११) ग्यारहवें संस्कारका नाम समावर्त्तन है। आचार्य्यगृहमें विद्या समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेशार्थ गृहप्रत्यागमनके समय समावर्तन संस्कारका अनुष्ठान होता है। श्रुतिमें लिखा है—

'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

आचार्य्यको दक्षिणारूपसे यथेप्सित धन देकर प्रजातन्तुकी रक्षाके लिये स्नातक द्विजको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जो विद्या आचार्य्यसे मिलती है, धन द्वारा उसका परिशोध तो हो नहीं सकता है जैसा कि हारीत महर्षिने लिखा है—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नियोजयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वाऽप्यनृणी भवेत्॥

जो एक भी अक्षर गुरु शिष्यको प्रदान करते हैं, पृथ्वीमें ऐसा कोई धन नहीं है, जिसको देकर शिष्य उस ऋणसे उऋण हो सकता है। तथापि लौकिक

विधिके अनुसार व्रतसमाप्तिरूपसे गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा है। कूर्मपुराणमें भी लिखा है।—

वेदान् वेदांस्तथा वेदौ वेदं वाऽपि समाहितः ।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्द्विजोत्तमः ॥

समाहितचित्त होकर चार वेद, तीन वेद, दो या एक वेद पढ़कर तथा उसमें जानने योग्य विषयोंको जानकर पश्चात् द्विजको समावर्त्तन स्नान करना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है—

वेद व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥

(१२) बारहवें संस्कारका नाम विवाह है। इसके विषयमें 'नारीधर्म' तथा 'आश्रमधर्म' नामक अध्यायोंमें पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। तथापि प्रसङ्गानुरोधसे और कुछ कहा जाता है। उद्वाहसंस्कारमें जो कुछ वैदिक कृत्य किये जाते हैं उनका विस्तारित वर्णन यहां पर करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इस कारण समस्त विधियोंका वर्णन न करके उनमें अन्तर्निहित भावोंका वर्णन किया जाता है। उन भावोंपर संयम करनेसे विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकेंगे कि, अन्य देशीय विवाहपद्धतिके साथ आर्यजातीय विवाहपद्धतिका आकाश पाताल जैसा अन्तर है। अर्थात् अन्यदेशीय विवाह केवल स्थूल इन्द्रियसेवाके लिये स्त्रीपुरुषका स्वल्पकाल स्थायी लौकिक सम्बन्ध मात्र है, किन्तु आर्यजातीय विवाह दम्पतिके आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभीके पारस्परिक प्रगाढ़ आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा दोनोंहीके मोक्षलाभार्थ चिरस्थायी प्रयत्न है। दृष्टान्तरूपसे अन्य देशीय विवाह रीतिके कुछ दिग्दर्शन कराये जाते हैं।

(१) एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे स्त्रीपुरुष दोनोंके भोजन करनेसेही ब्रह्मदेशीय लोग उनके पति पत्नीभावको स्वीकृत करते हैं, एक नीबू या अन्य किसी फलको काटकर उसका आधा भाग पति पत्नीके मुखमें और दूसरा आधा भाग पत्नी पतिके मुखमें खिलानेके लिये देनेसे ही चीन और जापानके लोग उनका विवाह हो जाना स्वीकृत करते हैं।

(२) मुसलमानोंमें भी एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे पति और पत्नी परस्पर एक दूसरेको खानेकी सामग्री खिलाते हैं और तभी विवाहकार्य

सम्पन्न समझा जाता है। किन्तु मुसलमानोंमें कन्याकी स्वीकृति ही विवाहका मूलमन्त्र है।

(३) खीष्टानोंमें भी स्वीकृति, पुरोहितका मन्त्र पढ़ना और मुखमें मुख लगाना—इन्हींके द्वारा वैवाहिक सम्बन्धका प्रकाश होता है। अतः स्त्रीपुरुषका परस्पर उच्छिष्ट भोजनरूपी एक अति क्षुद्र व्यापार ही अन्य जातियोंमें विवाहका प्रधान अङ्ग समझा जाता है, ऐसा सिद्ध हुआ। इसके साथ आर्यजातीय शुभ विवाहका धर्मजगत्में कैसा महान् प्रभेद है, सो पूर्व अध्यायोंके वर्णनसे तथा निम्नलिखित दिग्दर्शनसे अनायास ही मालूम हो जायगा।

उद्वाह संस्कारमें अन्यान्य कृत्योंके अनन्तर कन्यादान सङ्कल्पके समय समस्त देवताओंसे आशीर्वाद लेकर विवाहकार्यको शुभभावमय बनाया जाता है यथा—

ब्रह्मा देवपतिःशिवः पशुपतिः सूर्यो ग्रहाणां पतिः।
शक्रो देवपतिर्हविर्हुतपतिः स्कन्दश्च सेनापतिः॥
विष्णुर्यज्ञपतिर्यमः पितृपतिः शक्तिः पतीनां पतिः।
सर्वे ते पतयः सुमेरुसहिताः कुर्वन्तु वो मङ्गलम्॥

इस प्रकार मङ्गलसूचक ब्रह्मादि देवताओंके नामोच्चारणके बाद दशमहादान किये जाते हैं, जिनके भीतर भी विशेष पवित्रता तथा आस्तिकता पायी जाती है यथा सुवर्णदानमें—

हिरण्यगर्भसंभूतं सौवर्णं चांगुलीयकम्।
सर्वप्रदं प्रयच्छामि प्रीणातु कमलापतिः॥

यह कमलापति विष्णुके प्रीत्यर्थ स्वर्णदान है। तदनन्तर धेनुदानमें—

यज्ञसाधनभूता या विश्वस्याघौघनाशिनी।
विश्वरूपधरो देवः प्रीयतामनया गवा॥

गोमाता यज्ञकी साधनरूपिणी तथा संसारकी पापनाशिनी है। विश्वरूपधारी देवताके प्रीत्यर्थ इनका दान होता है। तदनन्तर पृथिवीदानमें-

सर्वेषामाश्रया देवी वराहेण समुद्धृता।
अनन्तशस्यफलदा अतः शान्ति प्रयच्छ मे॥

वसुमती देवी वराह भगवान्के द्वारा उद्धृता, सकलजीवोंकी आश्रय-

दात्री तथा अनन्तशस्यफलदायिनी है। उनके दान द्वारा देवीसे शान्ति मांगी जाती है, यही सब विवाहविधिमें दान माहात्म्य है। तदनन्तर वर कन्या दोनोंके एक आसनपर बैठकर एक साथ आज्याहुति देते समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनके भी बड़े ही पवित्र तथा महान् भाव हैं।

(१) देवताओंमें श्रेष्ठ अग्नि यहां आगमन करें। वह इस कन्याके भविष्यत् सन्तानोंको मृत्युभयसे बचावें और आवरण देवता ऐसी आज्ञा करें कि, यह स्त्री पुत्रसम्बन्धीय व्यसनसे पीड़ित न हो।

(२) गार्हपत्य अग्नि इसकी रक्षा करते रहें, इसके पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहें, यह जीवित पुत्रवती होकर पतिके साथ निवास करे, और सत् पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करे।

(३) हे कन्ये! द्युलोक तेरे पृष्ठ देशकी रक्षा करें, वायु और अश्विनीकुमार दोनों ऊरुओंकी रक्षा करें, सूर्यदेव तेरे दुधमुंहे पुत्रोंको रक्षा करें, इत्यादि।

इस प्रकार आज्याहुतिके बाद लाजाहुति दी जाती है, जिसमें पत्नीकी ओरसे पतिके शतायु होनेकी प्रार्थना और पतिकी ओरसे अभिन्न दाम्पत्य प्रेमकी प्रार्थना है। लाजाहुतिके साथ साथ जो लौकिक गाथा कहनेकी विधि है, वह भी अपूर्व रसपूर्ण है। यथा—

राघवेन्द्रे यथा सीता विनता कश्यपे यथा।
पावके च यथा स्वाहा तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
सुदक्षिणा दिलीपेषु वसुदेवे च देवकी।
लोपामुद्रा यथाऽगस्त्ये तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
अत्रौ यथाऽनसूया च जमदग्नौ च रेणुका।
श्रीकृष्णे रुक्मिणी यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥ इत्यादि॥

जिस प्रकार रामके प्रति सीताका, कश्यपके प्रति विनताका, अग्निके प्रति स्वाहाका, दिलीपके प्रति सुदक्षिणाका, वसुदेवके प्रति देवकीका, अगस्त्यके प्रति लोपामुद्राका, अत्रिके प्रति अनसूयाका, जमदग्निके प्रति रेणुकाका और श्रीकृष्णके प्रति रुक्मिणीका पवित्र भाव है, ऐसा ही वरकन्यामें मधुर पवित्र दाम्पत्य भावके लिये यह प्रार्थना है।

लाजाहुतिके समाप्त होनेपर सप्तपदी गमन होता है। पति एक एक

वाक्य कहता है और कन्या एक एक बार पदनिक्षेप करती हुई कुछ कहती है। ये सब वाक्य निम्नलिखित हैं, वरके कहने योग्य वाक्य यथा-ओं एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। ओं द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-चत्वारि मायो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-पंच पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु॥

हे कन्ये! विष्णुने अन्नलाभके लिये एक पद, बललाभके लिये द्वितीय पद, पञ्चमहायज्ञादि नित्यकर्मके लिये तृतीय पद, सौख्यके लिये चतुर्थ पद, पशुलाभके लिये पञ्चम पद, धनरक्षाके लिये षष्ठ पद, और ऋत्विक् लाभके लिये सप्तम पदका अतिक्रमण कराया। इस समय प्रति पदक्षेपमें कन्या एक एक श्लोक कहती है यथा—

धनं धान्य च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद्गृहे।
मदधीनं च कर्त्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद् वचः॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीडिष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साऽब्रवीदिदम्॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत्॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥
यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत्॥

धन धान्य मिष्टान्न व्यञ्जन आदि जो कुछ घरमें हैं सो सब मेरे अधीन रहेगा। मैं मिष्टभाषिणी, कुटुम्बियोंकी रक्षिका, दुःखमें धीर तथा सुखमें हृष्ट

रहूंगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे साथ विहार करूंगी, अन्य किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन न करूंगी। गन्ध, माल्य, लेपन, भूषण आदिके द्वारा तुम्हारा सदा आदर सत्कार करूंगी। मैं तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी तथा सुखदुःखकी अंशभागिनी होकर सदा तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी। यज्ञ होम दानादिमें तथा सकल प्रकार धर्मार्थकामकार्यमें तुम्हारी साथी बनूंगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हें वञ्चना नहीं करूंगी। यही सब सप्तपदीगमनकालमें स्त्रीकी ओरकी प्रतिज्ञा है, जिसके द्वारा स्त्री अपना गोत्र बदलकर पतिकी ही हो जाती है और विवाहसम्बन्ध दृढ़बद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर वरके द्वारा वधूके सिरपर अभिषेक और वधूके द्वारा ध्रुवदर्शनके बाद वर वधूके दहिने कन्धेपरसे हाथ ले जाकर—

ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अर्थात् अपना हृदय मेरे काममें लगाओ, अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो। तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनकी सेवा करो। बृहस्पति तुमको मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें, इस मन्त्रको पढ़कर वधूके हृदयका स्पर्श करें। तदनन्तर वधूकी ओर देखता हुआः—

ओं सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

इस मन्त्रको पढ़े। तदनन्तर देशाचारानुसार वधूको वरके वामांगमें बैठाना होता है। वरके वामांग हुई वधू तदनन्तर सात श्लोकके द्वारा प्रतिज्ञा वचन कहती है। यथा—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं मया सह त्वं यदि किन्न कुर्य्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥
हव्यप्रदानैरमरानपितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्॥
कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं कुर्याः पशूनां परिपालनं च।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं तृतीयम्॥

इत्यादि।

में तीर्थ व्रत उद्यापन यज्ञ दान आदि सभी धर्मकार्यमें तुम्हारी वामांग-रूपिणी रहूँगी। हव्यदान द्वारा देवपूजन अथवा कव्यदान द्वारा पितृपूजनमें तुम्हारी वामांगी रहूंगी। कुटुम्ब रक्षा, पशुपालन आदि सभी कार्योंमें तुम्हारी वामाङ्गरूपिणी रहूँगी। इत्यादि इत्यादि प्रतिज्ञा करनेपर वर उन प्रतिज्ञाओंके स्वीकाररूपसे कहे—

मदीयचित्तानुगतं च चित्तं सदा मदाज्ञापरिपालनञ्च।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम्॥

तुम पातिव्रत्यधर्मपरायण होकर सदा मद्गतचित्ता, मदाज्ञाकारिणी और प्रतिज्ञानुरूप कार्य करनेमें तत्परा रहो। इस प्रकारसे परस्पर प्रतिज्ञा होनेके बाद 'ओं वाममुद्य सवितर्व्वाममश्वो, इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए वर वधूके सीमन्तमें सिन्दूर लगावे। इसके अनन्तर और कुछ मांगलिक कृत्य होनेके बाद उद्वाह संस्कार समाप्त हो जाता है। यही सब इहलोक परलोकमें तथा निःश्रेयस लाभपर्यन्त धर्मजीवनलाभके श्रेष्ठकारणरूप उद्वाहसंस्कारका परमपवित्रतामय निगूढ़ रहस्य है, जिसके ऊपर सामान्य चिन्तासे ही विचारवान् पुरुष समझ सकेंगे कि, आर्यजातीय विवाहविधिके साथ अन्यजातीय विवाहविधिका कितना अन्तर है और किस महान् लक्ष्यको सामने रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने विवाहविधिका प्रवर्त्तन किया है।

यह विषय आश्रमधर्मनामक अध्यायमें पहले ही बताया गया है कि, मन्वादि स्मृतिकारोंने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकारके विवाह बताकर प्रथम चार विवाहकी प्रशंसा और अन्तिम चार विवाहोंकी निन्दा की है। ब्राह्मविवाहमें वस्त्रालंकारभूषित कन्याका वरको बुलाकर दान, दैवविवाहमें ऋत्विकको कन्यादान, आर्ष-विवाहमें वरपक्षसे गौ मिथुन लेकर कन्यादान, आसुर विवाहमें धन लेकर कन्यादान, गान्धर्व विवाहमें परस्पर प्रणय द्वारा परिणय, राक्षस विवाहमें हनन आघात आदिके बीचमेंसे कन्याग्रहण इत्यादि इत्यादि सब पहले ही बताये गये हैं। अब कालप्रभावसे अन्य सब विवाहप्रथा नष्ट होकर केवल ब्राह्मविवाहकी रीति ही अधिक प्रचलित देखनेमें आती है और कहीं कहीं आसुर विवाहकी रीति रहनेपर भी उसकी प्रशंसा न होकर निन्दा ही होती है। मनु कश्यपादि ऋषियोंने तो आसुर विवाहकी बहुत ही निन्दा की है यथा:—

क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते ।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः ॥

(कश्यप)

मूल्य देकर जो स्त्री लायी जाती है उसको पत्नी नहीं कहा जा सकता है । उसके द्वारा दैवकार्य या पितृकार्य कुछ भी नहीं हो सकता है । उसको विद्वान्‌गण पत्नी न कहकर दासी ही कहते हैं । और भी—

कन्याविक्रयिणो मूर्खा रहः किल्विषकारिणः ।
पतन्ति नरके घोरे दहन्त्यासप्तमं कुलम् ॥

कन्याविक्रयकारी लोग मूर्ख तथा प्रच्छन्न पापकारी हैं । उनको घोर नरक तथा सात कुल दग्ध होता है । इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें आसुर विवाहकी निन्दा की गयी है । राक्षस, पैशाच आदि विवाहकी निन्दा तो शास्त्रमें है ही । किन्तु इतना होनेपर भी 'नाभावो विद्यते सतः' वस्तुसत्ताका नाश न होकर केवल रूपान्तरमात्र होता है, इस सिद्धान्तके अनुसार गौणरूपसे ब्राह्मविवाहके भीतर भी देशाचार लोकाचार आदि परम्परासे अन्य सब विवाहके भी कुछ कुछ लक्षण देखनेमें आते हैं । आजकल विवाहकालमें ऋत्विकके समान जो वरपूजाकी विधि प्रचलित है, उसे ब्राह्मविवाहमें दैव-विवाहका अन्तर्निवेश कह सकते हैं । ब्राह्मविवाहके अर्हणभागमें विवाहके स्थानमें जो एक गऊ बांध रखनेकी आज्ञा है, उसे आर्ष विवाहका अन्तर्निवेश जानना चाहिये । उसी प्रकार स्थूल उपहास, गाली देना, पत्थर मारना आदि रीति राक्षसविवाहका ही कंकालमात्र है । शुभदृष्टि, स्त्री-आचार, वासर-जागरण, आमोद प्रमोद आदि गान्धर्वविवाहका लक्षण है और पितृपक्षसे कन्याके लिये आभूषणादि लेनेकी चेष्टा आसुरविवाहका लक्षण है । इत्यादि रूपसे अष्ट विवाहविधि किसी न किसी प्रकारसे अनुष्ठित हुआ करती है और ब्राह्मविवाहविधि ही सर्वोत्तम है, जिसके लिये उद्वाहसंस्कारके अपूर्व रहस्यका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया ।

(१३) तेरहवें संस्कारका नाम अग्न्याधान है । इसमें सस्त्रीक सायं प्रातः श्रौताग्नि या स्मार्त्ताग्निमें हवनादि करनेकी विधि है । पहले ही कहा है कि, हवन, संस्कार, यज्ञ आदिके नित्यानुष्ठान द्वारा 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' अर्थात् यह शरीर ब्रह्मबोधानुकूल गुणयुक्त हो जाता है । अग्नि परमपवित्र

ऊर्ध्वशिखायुक्त तथा देवताओंमें ब्राह्मण है। अत: इसी अग्निकी सेवा करनेसे 'ब्राह्मीतनु' प्राप्तिकी विशेष सम्भावना रहनेके कारण आर्यशास्त्रमें द्विजोंके लिये सस्त्रीक अग्निपरिचर्याका विधान किया गया है। अग्नि परम पवित्र तथा तेजोमय है। इधर विवाहके अनन्तर कामिनीसंसर्गसे विषयवृत्ति बलवती होकर आध्यात्मिक अधोगतिकी सम्भावना भी बलवती हो सकती है। इसी कारण उसी कामिनीके साथ तेजोमय भगवान् पावककी सेवा, सङ्ग तथा आराधनाकी आज्ञा आर्य्यशास्त्रमें दी गई है, जिससे विषयसङ्ग द्वारा विषयस्पृहा बलवती न होकर प्रवृत्तिक्षय द्वारा दिन ब दिन निवृत्ति संस्कारकी ही पुष्टि हो सके। प्रवृत्ति मार्गमें धनसम्पत्ति, अन्न, सन्तान, शक्ति, सुख, स्वास्थ्य, वीर्य आदिकी विशेष आवश्यकता रहती है। इन सब वस्तुओंकी प्राप्तिमें देवताओंकी कृपा सापेक्ष है। यथा गीता में—

'इष्टान् भोगान् वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

यज्ञके द्वारा सम्वर्द्धित होकर देवतागण प्रार्थित भोगोंको प्रदान करते हैं, जिनसे गृहस्थाश्रमका अनायास निर्वाह होता है। शास्त्रमें 'अग्निमुखा वै देवाः' अर्थात् अग्नि ही देवताओंके मुख हैं, अग्निमें आहुति देनेसे ही वह आहुति देवताओंको पहुंच कर मेघ, वृष्टि, अन्न, प्रजा आदि सम्पत्तियोंकी उत्पत्तिकारण बनती है, ऐसा कहा गया है। श्रीभगवान् मनुने भी—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है और उससे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहकर 'अग्नि-मुखा वै देवाः' इस सिद्धान्तकी ही पुष्टि की है। अतः अग्न्याधान संस्कारके साथ प्रवृत्तिमार्गमें सुविधा, निवृत्तिमार्गकी पोषकता तथा निःश्रेयसका परम्परा सम्बन्ध रहनेके कारण विवाहके अनन्तर ही इस संस्कारका विधान किया गया है।

(१४-१५) षोड़श संस्कारान्तर्गत चौदहवें तथा पन्द्रहवें संस्कारोंके नाम दीक्षा और महादीक्षा है। गृहस्थाश्रमके नित्य नैमित्तिक कर्म, भावशुद्धि-पूर्वक विषयसेवा तथा सस्त्रीक अग्निपरिचर्याके द्वारा प्रवृत्तिसंस्कार जितना जितना समाप्त होता जाता है, उतना ही गृहस्थाश्रमीके चित्तमें मुमुक्षुताका

उदय, निवृत्तिमार्गके प्रति स्पृहा तथा परमात्मभावकी प्रबलता होने लगती है। उस समय यही आवश्यकता होती है कि, कोई सद्गुरु प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारको समझकर दीक्षा प्रदान करें, जिससे साधक क्रमशः निवृत्ति-पथका पथिक बनकर नित्यानन्दमय ब्रह्मराज्यमें प्रवेश कर सके। इसी कारण अग्न्याधानके अनन्तर प्रथमतः दीक्षा और परिपक्व दशामें महादीक्षा नामक दोनों संस्कारोंका विधान आर्यशास्त्रमें किया गया है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश देते हैं, तब उस प्रक्रियाको दीक्षा कहते हैं। और दीक्षाके अनन्तर जब साधकको उत्तम अधिकारी जानकर श्रीगुरु-देव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त विशेष विशेष योगक्रियाओंका उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं, तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहलाता है। इस प्रकारसे दीक्षा तथा महादीक्षा लाभ करके आध्यात्मिक राज्यमें द्रुतपद अग्रसर होते होते अन्तमें जब साधक निवृत्तिकी पराकाष्ठा तथा योगारूढ़ पदवीपर प्रतिष्ठित होने लगता है, तभी सोलहवें अर्थात् अन्तिम संस्कार संन्यासका अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। दीक्षा और महादीक्षाके विषय सब साधनसम्बन्धीय होनेसे बहुत ही गोपनीय तथा केवलमात्र गुरुमुखवेद्य होते हैं, इस कारण यहांपर इनके विस्ता-रित वर्णन नहीं किये गये।

(१६) अन्तिम अर्थात् सोलहवें संस्कारका नाम संन्यास है। श्रुतिमें लिखा है—'पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लोकैषणाया व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरंति।' सन्तानादि वासना, सम्पत्तिकामना तथा यशोलिप्साके आमूल नाशको प्राप्त होनेपर साधकमें संन्यासकी योग्यता होती है। पहले ही कहा गया है कि, षोड़श संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ प्रवृत्तिरोधक और द्वितीय आठ निवृत्तिपोषक हैं। निवृत्तिपोषकताकी पराकाष्ठामें ही संन्यास है। यथा श्रुतिमें—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः। सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक साधकोंने अमृतपद प्राप्त कर लिया है। संन्यासकी सिद्धिमें इसी अमृतपदकी प्राप्ति होती है। सो कैसे होता है, इसके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है। यथा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (५ म अध्याय)

पुण्यसंस्कारोंके उदयसे पाप संस्कार क्षीण हो जाते हैं। इन्द्रिय तथा मनके संयमसे अन्तःकरण आत्मामें तल्लीन हो जाता है। भूतकल्याण-में रति रहनेसे स्वार्थनाश, उदारताकी वृद्धि और जीवसेवारूपस व्यापक ब्रह्मकी पूजा द्वारा अन्तःकरण भी व्यापक परमात्मामें प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकारसे हृदयका द्विधाभाव नाश होकर अद्वैत भावमें साधककी चिर-प्रतिष्ठा जब हो जाती है, तभी योगारूढ़ जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मनिर्वाणपदको लाभ करते हैं। यही श्रीगीतामें भगवान्का उपदेश है। संन्यास दशामें अवाङ्मनसोगोचर अव्यक्त अनिर्वचनीय निर्गुण निराकार देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न सर्वतो व्याप्त ब्रह्मकी ही राजयोगोक्त उपासना है और क्रमशः उपास्य उपासकभावके एकीकरण द्वारा, ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटिके लयसाधन द्वारा निर्विकल्पसमाधिमें स्थिति है। वह कैसे सम्भव हो सकता है, इसका रहस्य वर्णन गीताके द्वादशाध्यायमें किया गया है—यथा—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो साधक निर्देशसे अतीत, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापक, अव्यक्त, कूटस्थ, निश्चल, ध्रुव, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी उन्हींको पाते हैं। किन्तु उनकी उपलब्धिके लिये इन्द्रियोंका विशेष निरोध, चित्तवृत्ति-निरोध, सर्वत्र समबुद्धिता और सकल जीवोंके हितमें रतिकी आवश्यकता होती है। उपासना अर्थात् योगके द्वारा इन्द्रियनिरोध तथा चित्तवृत्ति-निरोध होता है, ज्ञान द्वारा समबुद्धिता उत्पन्न होती है और निष्काम कर्म-योग द्वारा भूतसेवा तथा ब्रह्मपूजा होती है। अतः कर्म उपासना ज्ञान तीनोंके सामञ्जस्यानुसार प्रयोग द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि, निर्विकल्प पदवी-पर आत्यन्तिकी स्थिति तथा शिवपदप्राप्ति श्रीभगवान्के वचनानुसार सिद्ध हुई। यही संन्याससंस्कारका अन्तिम लक्ष्य तथा मनुष्यजीवनका भी अंतिम लक्ष्य है। 'आश्रमधर्म' नामक पूर्ववर्णित अध्यायमें संन्यासाश्रमके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है, इसलिये यहांपर पुनरुक्ति नहीं की गई। संन्यास

संस्कारके अन्तर्गत विरजांहोम आदि विधियां बहुत ही गुप्त तथा गुरुमुखवेद्य होनेके कारण इनका भी वर्णन नहीं किया गया।

यही जीवत्वविलय द्वारा क्रमशः शिवत्वलाभ करानेके लिये श्रुतिस्मृति आदि आर्यशास्त्रोंमें वर्णित षोड़श संस्कारका रहस्य है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे नवमकिरणः।



दशम किरण।

उपासना विज्ञान।

अभावकी पूर्त्ति करनेके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जिसके पास धन नहीं है वह धन कमाकर धनाभावकी पूर्ति करना चाहता है, जिसके पास ज्ञान नहीं है वह ज्ञानी बनकर ज्ञानाभावको मिटाना चाहता है इत्यादि। यही जब जीवका स्वभाव है, तो अल्पायु जीव चिरायु बनना अवश्य ही चाहेगा, अज्ञानी जीव ज्ञानी बनना अवश्य ही चाहेगा, शक्तिहीन जीव शक्तिमान बनना अवश्य ही चाहेगा और दुःखी जीव आनन्दी बनना अवश्य ही चाहेगा। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परमात्मामें ये सभी वस्तु पूर्णरूपसे विद्यमान् हैं। परमात्माकी आयु अनन्त है, शक्ति अनन्त है, ज्ञान अनन्त है और आनन्द अनन्त है। इस कारण परमात्मासे मिलकर, उनके पास पहुंच कर इन वस्तुओंके लाभ करनेकी लालसा मनुष्योंको लगती है। यह जो उनके पास पहुंचनेकी लालसा है इसीको उपासना कहते हैं। 'उप' अर्थात् समीप, और 'आस्' धातुका अर्थ प्राप्त होना है। अर्थात् परमात्माके समीप जाने या उनके सामीप्य लाभ करनेके उपायोंका नाम उपासना या साधना है।

भक्ति सकल साधनाका प्राण है और योग सकल साधनाका शरीर है, अर्थात् जिस प्रकार प्राणके विना शरीर जीवित नहीं कहलाता उसी प्रकार भक्तिके विना उपासना निर्जीवसी रहती है और जिस प्रकार शरीरके पुष्ट होनेपर ही उसकी सुन्दरता होती है उसी प्रकार योगके द्वारा ही उपासना पुष्ट हो सकती है। अतः भक्ति उपासनाका प्राण और योग शरीर है। इस-लिये उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्तिके विषयमें प्रथमतः कुछ कह कर पश्चात् योगके विषयमें कहा जायगा।

भक्तिका लक्षण क्या है इस विषय पर विचार करते हुए अद्वैतसिद्धि-कार मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि "द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदा-कारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति" अर्थात् भगवद्भावसे द्रव होकर

भगवान्‌के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्तिका लक्षण है। इसी तदाकार भावका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें वर्णित किया गया है। यथा-

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

गुणगान सुनते ही भगवान्‌के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाकी अविराम धाराकी नाईं चित्तकी जो अहेतुक, अनवच्छिन्न गति है उसीको भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति साधककी चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है, जिसके भूरि भूरि दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें मिलते हैं। भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान्‌के पास इसी पवित्र प्रेमकी प्रार्थना की थी। यथा विष्णुपुराणमें—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

प्रह्लादकी प्रार्थना यह है कि अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार विषयके प्रति एकतान होकर प्रीति करते हैं उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान्‌के प्रति हो। भगवान्‌के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्तिका लक्षण है। भक्ति-दर्शनके सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य आदिने इसी सिद्धान्तको लेकर अपने अपने दर्शनोंमें भक्तिका लक्षण निर्णय किया है। यथा नारद-सूत्रमें—

"सा कस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च"

परमेश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीवको नित्यानन्दका अधिकारी भी कर देती है। शांडिल्यसूत्रमें लिखा है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्"

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। क्योंकि उनके प्रति प्रेम होनेसे ही जीव अमृतरूप हो जाता है।

भक्ति भगवान्‌के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकारके हैं यथा स्नेह, प्रेम और श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें अनुराग स्नेह, समान समानमें

अनुराग प्रेम और श्रेष्ठोंमें अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकारके प्रेम ही लौकिक तथा नश्वर हैं। परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वरके प्रति जो अविनश्वर तथा अलौकिक अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं।

भक्तिके लक्षणको और भी स्पष्ट करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जितना पशुभावके अधिकारको छोड़ता हुआ देवभावके अधिकारको प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम और अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेमके पहचाननेका लक्षण यह है कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थोंको भूलकर दूसरेके स्वार्थोंको अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहाता है। माता-पिता, पुत्रकन्याके लिये अपने स्वार्थको भूलकर पुत्रकन्याके सुखसे अपनेको सुखी जितना समझते हैं उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्रोके लिये, स्त्री पतिके लिये, मित्र मित्रके लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरेके दुःखसे अपनेको दुःखी अनुभव करता है उतना ही वह प्रेम राज्यका अधिकारी माना जाता है। दूसरेके लिये अपनेको भूलना, दूसरेके सुखके लिये अपने सुखको विसर्जन करना, स्वयं दूसरेका बन जाना यही अनुरागकी भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत्में श्रद्धा, प्रेम और स्नेहरूपसे तीन प्रकारका होता है जैसा कि, पहले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध्वगामी श्रद्धा और समगामी प्रेम, तीनोंमें ही लौकिक, नाशवान् अवलम्बन होनेसे तीनों ही दुःखके मूल हैं। परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं होता है। भक्तिका अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसारको भूलकर अपने अनुराग प्रवाहको अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान्की ओर प्रवाहित करता है। इसलिये दुःखलवलेश-विहीन एतादृश अलौकिक अनुराग ही भक्तिपदवाच्य है।

अब भक्तिके अङ्ग प्रत्यङ्गके वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है। यथा गौणी और परा। साधनदशाकी भक्ति गौणी और सिद्धिदशाकी भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं यथा—वैधी और रागात्मिका।

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकार तथा उन्नत भक्ति भूमिके लिये सोपानरूपसे सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेधके वशवर्त्ती होकर वैधी भक्तिके विविध अङ्गोंके नियमित

साधन द्वारा साधक भक्तिके उन्नत राज्यमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अंगोंमें विभक्त है यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, वैधी भक्तिके येही नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। यह वैधी भक्तिका प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

जहां पर सुधासिन्धुकी नाईं श्रीभगवान्‌की गुणकथा नहीं प्रवाहित होती है, जहां पर परम भागवत साधुगण नहीं निवास करते हैं, जहां पर यज्ञेश्वरके यज्ञका महोत्सव नहीं होता है, इन्द्रलोक होनेपर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं है। इस प्रकार वैधी भक्तिके श्रवणात्मक अङ्ग-सेवन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंमें सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्तिके द्वितीय अङ्कका नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान्‌के लोकोत्तर मधुर चरित्र-समूहके कीर्त्तनका नाम कीर्त्तन है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्त-
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवकी गुणावलीके कीर्त्तन करनेसे अन्तःकरणमें उनकी मधुर मूर्त्ति विराजमान होकर सूर्य-किरणके प्रतापसे अन्धकार अथवा प्रचण्डवायुवेगसे मेघमालाकी तरह हृदयनिहित समस्त व्यसनोंको विदूरित कर देती है। श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता हूँ और योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हूं।

मेरे भक्तलोग जहांपर कीर्त्तन करते हैं वहां ही मैं रहता हूं। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्तहृदयमें धीरे धीरे भगवद्भावकी स्फूर्त्ति हुआ करती है। वैधी भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है। श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्ति, नाम या मधुर भावके स्मरणको स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरणके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंके निशिदिन स्मरण करनेसे अमङ्गलनाश और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति और विज्ञान विरागयुक्त ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अनन्यचित्त होकर जो सदा मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूँ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सकलभूतोंमें एकभावसे विद्यमान हूं। कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है। केवल जो भक्तिके साथ मेरी भजना करता है वे मुझमें और मैं उनमें हूँ। इस प्रकार वैधी भक्तिके स्मरण-अङ्गके साधन द्वारा भक्तहृदयकमल भगवान्‌की कृपाकिरणसे धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है; जिस कमलासनमें श्रीभगवान् आनन्दके साथ आसीन होते हैं। वैधी भक्तिके चतुर्थ अङ्गका नाम पादसेवन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलकी सेवाका नाम पादसेवन है। इसके फलके विषयमें शास्त्रमें कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

जिस प्रकार भगवत्पादनिःसृता जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता होकर संसार-

की मलिनताको दूर करती हैं उसी प्रकार भगवच्चरण-सरोजसेवा-प्रवृत्तिके द्वारा भी तपस्वियोंके चित्तकी जन्म-जन्मान्तरसञ्चित मलिनता शीघ्र ही क्षीणताको प्राप्त हो जाया करती है। और इस प्रकारसे चित्तकी मलिनता नष्ट होनेपर भक्तचित्तमें भगवद्भावका स्फुरण होने लगता है। यही वैधीभक्तिके पादसेवन रूप अङ्गका फल है। वैधीभक्तिके पञ्चम अङ्गका नाम अर्चन है। मृण्मयी, पाषाणमयी आदि स्थूल मूर्ति बनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी मूर्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजाका नाम अर्चन है। भक्तिके साथ इस प्रकार पूजा करनेसे भगवत्-प्रसन्नता होती है जिससे भक्तहृदयमें भगद्भावका धीरे धीरे उदय होने लगता है। यथा गीतामें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्तिके साथ अर्पण करनेसे मैं सादर ग्रहण करता हूँ। वैधी भक्तिके षष्ठ अङ्गका नाम वन्दन है। श्रीभगवान्के चरणकमलोंकी वन्दनाका नाम वन्दन है, जिसके द्वारा भक्तमें अहङ्कारनाश तथा भगवद्भावका उदय होता है। तदनन्तर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अङ्गोंका साधन भक्ति-शास्त्रमें विहित किया गया है। इन तीनों अङ्गोंका वास्तविक विकाश भक्तिकी रागात्मिका दशामें होने पर भी वैधी और रागात्मिकाकी सन्धिदशामें अभ्यासके तौर पर रागात्मिका दशाको प्राप्तिके लिये इन तीनोंका साधन होता है। दास्यभावमें श्रीभगवान्का दास बनकर उनकी सेवाके अभ्यास द्वारा अहङ्कारनाश तथा भक्ति-प्राप्ति और सख्यभावमें उनके सखारूपसे एकप्राणता प्राप्तिके अर्थ हार्दिक प्रयत्नके द्वारा भक्तहृदयमें अवश्य ही भगवान्के प्रति पुण्यमय मधुर प्रेमका विकाश होने लगता है। तदनन्तर वैधी भक्तिके अन्तिम अङ्ग आत्मनिवेदन-भावके अभ्यास द्वारा भक्तकी शारीरिक और मानसिक सकल चेष्टा भगद्भाव-मयी हो हो जाती है जिसके फलसे भक्तहृदयमें भगवान्के प्रति अपूर्व दिव्य रागका विकाश हो जाता है। आत्मनिवेदन भावके साधनके समय भक्तकी चेष्टायें कैसी होती हैं उनके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

आत्मनिवेदनभावके उदय होनेसे साधकका अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्दमें, वाक्य भगवद्गुणानुवादमें, हस्त उनके मन्दिरोंके मार्जनमें, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओंके श्रवणमें, दृष्टि उनकी मूर्त्तिके देखनेमें, शरीर उनके भक्तोंके अङ्गस्पर्शमें, घ्राणेन्द्रिय तुलसीके आघ्राणमें, रसना उनके प्रसादग्रहणमें, चरण उनके तीर्थक्षेत्रोंके गमनमें, मस्तक उनके चरणवन्दनमें और काम विषयविलासमें नियुक्त न हो कर साधुजनोंकी तरह श्रीभगवान्‌की सेवामें ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्तिके नवधा विभक्त अङ्गोंका साधन है। वैधी भक्तिके नौ भेदोंका स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमेंसे कुछ कुछ साधन भक्तियोगके साधक शिष्यको श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनोंका अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशाकी भक्तिको वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधन द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होनेसे साधकको क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्ण साधनसे भगवत्कृपाप्राप्त, निशिदिन इष्टदेव-पदध्याननिमग्न भक्तका हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान्‌के प्रति जो अविश्रान्त और अपूर्व अमृतमयी प्रेमधाराका प्रवाह बहने लगता है, जिस

प्रेमधाराके मधुर आस्वादनसे परितृप्त भगवान् भक्तके हृदयासनमें विराजमान होकर भक्तहृदयमें निरन्तर आत्मरति, आनन्द तथा शान्तिका उदय कर दिया करते हैं, उसी प्रगाढ़ भगवत्प्रेमका नाम रागात्मिका भक्ति है।

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका।

भक्तिके इस भावमें श्रीभगवान्के प्रति साधकके चित्तकी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नवागता कुलवधूको पतिके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये उनकी सेवाकी अनेक विधियां प्रथमतः बताई जाती हैं, परन्तु जिस समय पतिव्रताका प्रेम पतिके प्रति उत्पन्न हो जाता है, उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेममें मग्न रहकर विधिके बिना ही समस्त कर्त्तव्यको पालन कर दिया करती हैं, उसी प्रकार भक्तिकी वैधी दशामें भगवान्के प्रति प्रेमाभ्यासके लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधियोंकी आवश्यकता होनेपर भी भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्के प्रति पतिप्राणा सतीकी तरह प्रेम हो जानेपर विधियोंके अभ्यासका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। भक्त भगवान्के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हींके चरणकमलके मधुरध्यानमें अहरहः निमग्न रहते हैं जिससे उनके चित्तमें दुःखलवलेशहीन आनन्द तथा शान्तिकी दिव्य-ज्योत्स्ना सदा ही प्रफुल्लित रहा करती है। यथा भागवतमें:--

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥

श्रीभगवान्के प्रति मधुर प्रेमभावको प्राप्त करके भक्तहृदय द्रवीभूत हो जाता है, आनन्दसे उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है। वे गलदश्रु और गद्गदकण्ठ होकर उन्हींके चरणकमलमें मनोमधुकरको सदैव निमग्न रखते हैं। एतादृश भक्तके हृदयमें अपूर्व आनन्द उत्पन्न होनेसे नयनपथ द्वारा अनन्त आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान्के प्रेममें उन्मत्त तथा लव-लीन हो जाते हैं। इस प्रकारसे इष्टदेवपदध्याननिमग्न भक्तको संसारके प्रति वैराग्य और भगवद्भाव प्राप्ति होती है जिससे साक्षात् परमशान्ति भक्त-हृदयमें चिरविराजमान हो जाती है।

भक्तिकी रागात्मिका दशामें साधककी वहिश्चेष्टा कैसी रहती है इस विषयमें नारदसूत्रमें कहा है—

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" "मूकास्वादनवत्"

"शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च"

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"

"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"

"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।"

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी तथा भक्तिरसार्द्रचित्त होकर कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं और कभी उन्मत्तकी तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते हैं। इस प्रकारसे भगवद्भक्त संसारको पवित्र करते हैं। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। वे अच्युतचिन्तासे कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषयमें चर्चा करते रहते और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुके द्वारा उनकी आखें भर कर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुण-कथाओंको तथा उनके विविध अवतारोंकी लीलाओंको सुनकर भक्तहृदय पुलकित तथा गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वरसे गाते, रोते तथा नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टिमें उनकी चेष्टा बिलकुल पागलकी तरह होती है, वे भगवान्‌का ध्यान करते हैं, संसारको उनका रूप जानकर समस्त जीवोंको प्रणाम करते हैं और मुहुर्मुहुः दीर्घश्वास त्याग करते हुए निर्लज्ज तथा आत्म मति हो करके हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण इत्यादि रूपसे कहा करते हैं। उस समय उनके चित्तकी सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियां समुद्रमें विलीन नदियोंकी तरह भगवत्प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाती हैं। यथा नारदसूत्रमें:—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।

समस्त कर्मोंको श्रीभगवान्‌में समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान

आदि उन्हींके प्रति करना चाहिये। भक्तिकी ऊपरोक्त रागात्मिका दशामें भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भगवत्प्रेम कामनामें, उनका क्रोध अनीश्वर भावाके दमनमें और उनका अभिमान भगवान्‌के प्रति एकात्मरतिके अभिमानमें चरितार्थताको प्राप्त हो जाता है जिसके फलसे एतादृश भक्तके हृदयकमलमें निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी मधुरिमामयी परमा स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं या प्रार्थना करते हैं तभी इष्टदेव भगवान्‌की भावमयी स्थूल मूर्त्तिको स्थूल और मानस नेत्रके सामने देख सकते हैं। भक्तशिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव आदिको रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें ही श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्त्तिका दर्शन हुआ था। यथा श्रीमद्भागवतमेंः—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

भक्त भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं—"हे कमललोचन! जिस प्रकार छोटी चिड़िया अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहती है, जिस प्रकार क्षुधाकातर शिशु बछड़ा मातृस्तनपानके लिये व्यग्र रहता है और जिस प्रकार प्रवासी पतिके सन्दर्शनके लिये प्रियतमा स्त्रीका चित्त सदैव व्याकुल रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त सदा ही आपके दर्शनके लिये लालायित रहता है।" इस प्रकार श्रीभगवान्‌के दर्शनके लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका चित्त लालायित होता है तभी उनको श्रीभगवान्‌का दर्शन होता है। जैसा कि, परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है यथा—इस प्रकार भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्नवदन, मधुरलोचन, अनन्तरूपाधार, परमसुन्दर श्रीभगवान्‌का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शनका क्या फल होता है? इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥

श्रीभगवान्‌के दर्शनसे समस्त पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदयमें शान्ति तथा पवित्रताकी मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान्‌के चरण-कमलकी शरण ले लेते हैं और अत्यन्त भक्तिसे रोमाञ्चशरीर होकर श्रीभगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान्‌में आसक्तचित्त इस प्रकारके भक्तको किसी भावमें भी सुखाभाव नहीं होता है। वे श्रीभगवान्‌के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् तथा इष्टदेव भावसे मधुर रागमूलक प्रेममें आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होनेसे समस्त संसार साधकके लिये आनन्द कानन बन जाता है। वे जगत्‌में सर्वत्र ही भगवत्प्रेमका उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टिमें समुद्रतरङ्गमें प्रेमका नृत्य, नदीके प्रवाहमें प्रेमका प्रवाह, पवनके सञ्चालनमें उनकी करुणाका प्रवाह, पुष्पोंके विकाशमें आत्मानन्दकी लहरीलीला, सुधाकरके मुखमें प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्रमण्डलमें प्रेमानन्दकी निर्झरिणी, भ्रमर-गुंजारमें प्रेमका गुंजार, तथा जगज्जीवोंकी निखिल चेष्टाओंमें प्रेममय भगवान्‌की पवित्र पूजा दिखने लगती है। रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें भक्त तथा भगवान्‌की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान्‌के साथ प्रियतम सखा तथा आदरकी आत्मीय वस्तुकी नाईं हंसते खेलते रहते हैं, उनपर सब प्रकारका 'जोर' तथा मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान तथा प्यारके लक्षणोंको आनन्दके साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोरके साथ ही जिस समय श्रीभगवान्‌ने भक्त सूरदाससे अपना हाथ छुड़ा लिया था उस समय सूरदासने कहा था—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम् ।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

हे भगवन्! तुम हाथ छुड़ाकर जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़कर जा सको तभी तुम्हारा पौरुष मानूंगा। इसी प्रणयमूलक जोर तथा अहङ्कारके साथ भक्त उदयनाचार्य्यने कहा था—

ऐश्वर्य्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे ।

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

हे भगवन्! तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि, जब बौद्ध लोग आकर तुम्हारी सत्ताके नाशके लिये उद्यत होंगे तब तुम्हें मेरे ही आधीन होना पड़ेगा। क्योंकि उस समय मैं ही नास्तिकताप्रकाशक बौद्धमतका खंडन करके तुम्हारी सत्ताकी रक्षा करूँगा। यही रागयुक्त भक्तका श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठतामूलक सच्चा भाव है। भक्तहृदयमें इस प्रकार प्रेमभावका उदय होनेपर भक्तवत्सल भगवान् उनके अधीन हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।

श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ।

हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम् ।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

श्रीभगवान् कह रहे हैं "मैं भक्तोंका अधीन हूं स्वतन्त्र नहीं हूं। मेरे हृदयपर साधुभक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है। मेरे भक्त साधुओंके बिना मैं अपने आत्माको तथा परमाश्रीको भी नहीं चाहता हूं। मैं साधुओंकी ही परम गति हूं। जिन महात्माओंने स्त्री-पुत्र-परिवार धनादि तथा परलोककी सुखेच्छाको भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया है, उनको मैं किस प्रकारसे त्याग सकता हूँ। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्राणताके द्वारा निज पतिको वश किया करती है, उसी प्रकार समदृष्टिपरायण साधुगण भी मुझमें हृदयको बांधकर मुझे वशीभूत कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय हैं और मैं

साधुओंका हृदय हूं, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नहीं जानते हैं और मैं भी सिवाय उनके और कुछ भी नहीं जानता हूं।" यही भक्तिकी रागदशामें भक्त और भगवान्‌का पारस्परिक प्रेमसम्बन्ध है। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भावके द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमिमें शीघ्र ही विशेष उन्नति लाभ करते हैं। इसी प्रकारके जगत्पवित्रकारी भक्तिरससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करनेवाले भक्त भारतवर्षमें समय समयपर वैष्णव उपासक, शक्तिउपासक, शिवोपासक, गणपति उपासक और सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायोंमें प्रकट हुए हैं, जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायोंके पुराणोंमें वर्णित है। प्रकृतिके वैचित्र्यानुसार भावका भी वैचित्र्य होनेसे ऊपर लिखित राग किन किन भावोंमें भक्तके द्वारा विकाशको प्राप्त होता है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशधा विभक्त होनेसे भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकारके होते हैं। प्रकृतिकी स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकारसे ही प्रकट होती है। इसलिये भक्तिराज्यके जीवोंमें स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकारके भक्तिभाव देखनेमें आते हैं। यथा—

हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य हैं। इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा उन्नतिलाभके विषयमें लिखा है कि,—

दास्यादि मुख्य रसोंके द्वारा ही पराभक्ति लाभ हुआ करती है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसोंके द्वारा होती है। श्रीभगवान् रसरूप होनेसे उनकी ही सत्तासे विकाशप्राप्त मुख्य तथा गौण सकल रसोंके भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। इसलिये सकल रसोंके द्वारा ही उन्नतिलाभ हुआ करता है। केवल दोनोंमें भेद इतना ही है कि, हास्य, बीभत्स आदि गौण रसोंके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध रहनेसे तथा उनके आधारके मलिन शृंगारमय होनेसे गौण रसके द्वारा अद्वैतभावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद पराभक्तिलाभ नहीं हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्यमें उन्नति और अन्तमें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसोंका फल इस प्रकारका नहीं है। क्योंकि इन रसोंके आधार शुद्धशृंगारमय होनेसे तथा इनके साथ बहिर्विषयोंका सम्बन्ध नहीं रहनेसे इनके द्वारा साक्षात्‌रूपसे पराभक्तिलाभ हुआ करता है। अब नीचे गौण तथा मुख्य दोनों रसोंके ही विविध भावोंका वर्णन किया जाता है। गौण

रसके सात भाव हैं यथा-हास्य, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र। भक्त अपनी प्रकृतिके अनुसार कहीं वीर भावसे, कहीं करुण भावसे, कहीं रौद्र भावसे और कहीं हास्य आदि रसके साथ श्रीभगवान्‌में अपने चित्तको लवलीन करता है, जिसके परिणाममें तन्मयता उत्पन्न होकर भक्तको भक्तिराज्यमें उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें श्रीभगवान्‌का प्रतिज्ञाभंग कराकर उनके भक्तवत्सल नामको जगज्जनोंके सामने प्रकट कर देनेके लिये भीष्मपितामहका जो कृष्णसखा अर्जुनके साथ घोर संग्रामका भाव था, जिस भावके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको अपनी प्रतिज्ञा तकका भङ्ग करना पड़ा था वह भाव वीररसका एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके व्रजधाममें रहने समय जिस भावके द्वारा गोपबालकगण उनसे मिलते और वयस्यकी तरह हँसते खेलते थे वह भाव हास्यरसका है। इन सब भावोंके अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें पाये जाते हैं यथाः—

शृंगारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।
वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे स जीयात्॥

भैष्मीराधादिरूपेषु शृंगारः परमोज्ज्वलः।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान्॥

बल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने।
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत्॥

गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम्॥

इन सब श्लोकोंके द्वारा गौणरसके विविध दृष्टान्त बताये गये हैं। यथा—राधिकामें शृङ्गार रस, सखियोंमें करुण रस, अघासुर बकासुरके मारनेमें बीभत्स रस, गोपियोंके वस्त्रहरणमें हास्य, दैत्योंमें वीर रस, इन्द्रके रुष्ट होनेमें रौद्र रस, माखनचोरीमें विचित्र रस, भीष्ममें वीर रस, बलि

अर्जुन तथा यशोदाके विश्वरूपदर्शनमें अद्भुत रस, गोपाल बालकोंमें हास्य रस इत्यादि सभी गौण रसके दृष्टान्त हैं। इन सब रसोंके गौण होनेपर भी इनके द्वारा उन्नति तथा सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकारसे होती है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है:—

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌के प्रति द्वेषबुद्धिसे आसक्त होनेपर भी चेदि-राज शिशुपालकी मुक्ति हो गई थी उसी प्रकार गौण रसके साधनसे भक्तोंको मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान्‌के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद्य आदि किसी भावके द्वारा भी अनुरक्त होनेसे श्रीभगवान्‌की लोकोत्तर शक्तिके बलसे उसी भावमें ही भक्तको तन्मयता प्राप्ति हो जाती है। और भगवद्भावमें तन्मयता प्राप्ति होकर मृत्यु होनेसे भगवल्लोक प्राप्ति अवश्य ही होती है। क्योंकि गीताजीमें लिखा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिस भावको स्मरण करके भक्त प्राणको छोड़ता है, परलोकमें उसीके अनुसार गति मिलती है। अतः किसी भी गौणरसके अवलम्बनसे इष्टदेवमें तन्मय होकर शरीर त्याग होनेसे उन्नति और सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? यही हास्य, करुण आदि सप्त गौण रसका स्वरूप और फल है। अब रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्यरसोंका वर्णन किया जाता है। उनके नाम यथा—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्या-सक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति। श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर रागका विकाश होनेसे भक्त निज निज प्रकृतिके अनुसार कहीं दास भावसे, कहीं सखा भावसे, कहीं कान्ता आदि भावसे

उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियोंके साथ लौकिक भावका नाममात्र भी न होनेसे इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें अवगाहन करके भक्त-हृदय भावग्राही भगवानके उदार आनन्दमय भावमें तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदनन्तर तन्मयभावकी परिपाकदशामें निर्विकल्पसमाधिका उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत्‌का दर्शन होता है। यही शुद्धरागका लक्ष्य और चरम फल है। अब नीचे संक्षेपसे प्रत्येक भावका स्वरूप और परिणाम बताया जाता है। रागात्मिका भक्तिके दासभावमें प्रभुभक्त दासकी तरह भक्त अपने शरीर, मन, प्राण और आत्माके द्वारा श्रीभगवान और उनके विराट्‌रूप संसारकी सेवा करता है। इसी प्रकार सख्यभावमें सखा-रूपसे, वात्सल्यभावमें सन्तानरूपसे और कान्ताभावमें पतिरूपसे श्रीभगवान्‌के साथ भक्त प्रेम करता है। गुणकीर्त्तन भावमें गुणगानमें ही भक्त मग्न रहता है और आत्मनिवेदनासक्तिमें भक्त भगवान्‌में अपने आत्माको निवेदनकर परम प्रेमका आस्वादन करता है। इस विषयमें गीतामें लिखा है यथा—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमें ही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभावसे ध्यानयोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्न-हृदय उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही संसारसिन्धुके पार कर देता हूं। मदेकचित्त, मद्भक्त, मेरेमें यजनशील और प्रणामपर भक्त अवश्य मुझे प्राप्त करते हैं। आत्मनिवेदनासक्तिके द्वारा ऊपर लिखित सभी भावोंके उदय होनेसे भक्त शीघ्र ही आत्मरूप तथा आत्मरति होकर श्रेष्ठभक्तकी पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होनेसे जीवभावसुलभ अहङ्कार उनका आमूल उन्मूलित हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान्‌के अनन्तामृतमय प्रेममें निमग्न होकर

पराभक्तिके परमानन्दमय पदमें सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है। यही आत्मनिवेदनासक्तिका मधुर लक्षण तथा अलौकिक परिणाम है।

अनुरागके अन्तिमभावका नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावोंके परिपाकमें जिस समय भक्त भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करते करते उन्हींमें अपने अन्तःकरणको लय करके श्रीभगवान्के साथ अभिन्न भावसे उन्हींमें तन्मय होकर प्रेम करते हैं तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाती है। यह आसक्ति अनुरागका चरमभाव और रागात्मिका तथा पराभक्तिका सन्धिरूप है। इस भावके उदय होनेसे भावपयोधिनिमग्न और आत्मसत्ताकी पृथक्ता-को विस्मृत होकर कभी भक्त अपनेको ही प्रणाम करते हैं और कभी अपनी स्थितिका अनुभव करके श्रीभगवान्को प्रणाम करते हैं। यथा योगवासिष्ठमें:—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने ।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने ॥

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकारसे तन्मय होकर भक्त अपनेको और परमात्माको नमस्कार करते रहते हैं और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥

श्रीभगवान्के प्रति भक्तिप्रवाहको प्रवाहित करके अजस्रानन्दपरिप्लुत-हृदय तथा पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ताको भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभावका लक्षण है। इस भावका लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियोंके चरित्रमें कभी कभी देखनेमें आता था। श्रीभगवान्ने भी निज मुखसे कहा है:—

ता मा विदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मनमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

मेरे प्रेममें समासक्तचित्त होकर गोपियां अपनेको, परिजनोंको और इहलोक परलोकको भी भूल जाया करती थीं। जिस प्रकार मुनिगण समाधिमें निमग्न होकर अपनी पृथक्सत्ता विस्मृत हो जाते हैं और नदियां भी समुद्रमें विलीन होकर नामरूपसे च्युत हो जाया करती हैं। यही सब भाव तन्मयासक्तिका ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्तिकी अधिकारिणी व्रजगोपिकाओंमें कभी कभी इस प्रकारकी तन्मयासक्तिका भाव प्रकट हुआ था, उसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियोंके अधिकारी भक्तोंमें भी समय समयपर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर भक्तको पराभक्तिके अधिकारकी ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार इतना उच्च है कि, इसके दृष्टान्तके लिये हरिमें हर और हरमें हरिकी तन्मयासक्तिके उदाहरणके अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हरमें और हर हरिमें अभिन्नरूपसे एकप्राणताके साथ जो निशिदिन रत रहते हैं यह उन दोनोंमें तन्मयभावका ही लक्षण है यथा देवीभागवतमें:—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करंःत्रिपुरान्तकम्॥
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः॥

हरि कह रहे हैं "मैं निशदिन अपने हृदयमें आशुतोष गिरिजावल्लभ देवादिदेव हरका ध्यान करता हूं। कभी कभी देवदेव महादेव भी मेरा ध्यान करते रहते हैं और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणिका ध्यान करता रहता हूं। मैं शिवका प्राण हूँ और शङ्कर भी मेरे प्राण हैं, तन्मयभावमें अन्योन्यासक्त

हम दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्तिका अपूर्व तथा अलौकिक दृष्टान्त है।

इस प्रकार श्रीभगवान्में प्रेमासक्तिकी पूर्णता होनेसे भक्तान्तःकरणों मेंसे धीरे धीरे ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश हो जाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्ति की है। यथा—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा"

आनन्दमय परमात्माके अखण्ड स्वरूपके प्रकाशक होनेके कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है:—

"रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्"

भावसमुद्रमें निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान्के साथ तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकारसे सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत और गुणातीत भक्त मायारहित परब्रह्मस्वरूपमें परमा स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। उनके आत्माका देह, मन आदिके साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्तिके अन्तमें पराभक्तिप्राप्त सिद्ध भक्तके आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थिति और भक्तिसाधनका चरम फल है। इस दशामें भक्त निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अलौकिक सुखदुःखरहित परमानन्दका उपभोग करते हैं। यथा उपनिषद्में—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिके द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मामें विलीन होकर जो परमानन्दका उपभोग करता है उसका वर्णन वाक्यके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल स्वान्तःकरणमें ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद्में—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

परा भक्ति दशामें स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्दकी उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है जो इन्द्रियोंसे अतीत और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही अनुभवनीय है। इस आनन्दपर प्रतिष्ठित होनेसे महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थितिसे विचलित नहीं होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आनेपर भी उनके अन्तःकरण पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होता, और उस परम वस्तुको प्राप्त करके अन्य किसी वस्तुको उससे अधिक स्पृहणीय नहीं समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी एतादृश योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्माको सकल भूतोंमें और सकलभूतोंको परमात्मामें देखते हैं और आनन्दमय परमात्माको सर्वत्र देख कर सकल अवस्थामें ही समाधिका परमानन्द प्राप्त करते हैं।

इस प्रकारसे सच्चिदानन्दभावमें ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशामें आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसारमें अवस्थान करते हैं और तत्पश्चात् प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृतिमें और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मामें मिलकर एक हो जाती है, यथा— उपनिषद्में—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी नदी नामरूपसे च्युत होकर समुद्रमें मिल जाती है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती है उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम और रूपको त्यागकर विदेहमुक्ति दशामें परात्पर परब्रह्ममें अपनी पृथक् सत्ताको भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसारमें जन्ममरणचक्र सदाके लिये बन्द हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसारमें पुनः उनको आना नहीं पड़ता है। यही सकल साधनाका लक्ष्य और भक्ति मार्गका चरम परिणाम है।

उपासना काण्डके निम्न अधिकारसे लेकर उच्चतम अधिकार तक भक्ति किस प्रकारसे परमावश्यकीय है, किस प्रकारसे भक्तिके विना उपासनाका कोई अङ्ग भी पूर्णरीत्या साधित नहीं हो सकता है और बिनाप्राणके जिस प्रकार शरीर नहीं रह सकता है उसी प्रकार विना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती ये सब भली भांति ऊपर दिखा चुके हैं। अब उपासनाके शरीररूप योगका वर्णन किया जाता है। शरीरके बिना जिस प्रकार शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके बिना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता है इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरण युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं अथवा यह कहिये कि अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखाई नहीं पड़ता। जब साधककी सुकौशल क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकवार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्य प्रतिबिम्ब अथवा अपना मुह दर्शक उसमें देख सकता है। अतः योगशास्त्रमें कहा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तवृत्ति निरोधके सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रिया द्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियां शान्त होती होती जब एकवारही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव हृदयविहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन जिन साधनोंसे इस प्रकारसे दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उसीको उपासना कहते हैं; अर्थात् उप-समीप, आस्यते-प्राप्त होता है अनया-इस साधनके द्वारा; इति उपासना। अतः जिन जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चितवृत्तिनिरोध होते होते

चित्तवृत्तिनिरोधकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि उपासनायज्ञमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीर रूप है।

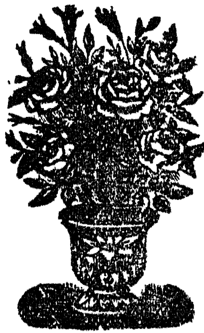
योगका विषय बिस्तारितरूपसे धर्मकल्पद्रुम नामक बृहत् ग्रन्थके अनेक अध्यायोंमें बताया गया है। इस कारण यहां केवल दिग्दर्शनार्थ कुछ कुछ विषय कहे जाते हैं। चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएं हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करने वाली क्रियाशैलीको चारभागमें विभक्त कर सकते हैं और चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपान अथवा आठ मार्ग-विभागमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है। अर्थात् परि-दृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नाम रूपमें फंस कर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियां भी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहां मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़के उठाना चाहिये, अस्तु नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्ति निरोधकी जितनी क्रियाएं हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णन किया है। हठयोगका ढङ्ग कुछ और ही है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीका ही परिणाम है इस कारण स्थूलशरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर बराबर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूलशरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्मशरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति निरोध करनेकी जितनी शैलियां हैं उनको हठयोग कहते हैं। लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टिव्यष्टि सम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनों-को एक समझकर दोनोंमें व्यापक जो पुरुषभाव और प्रकृतिशक्ति है उसी अपने शरीरस्थ प्रकृतिशक्तिको अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं। राजयोगका अधिकार सबसे बढ़ कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फंसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है; यही कारण है कि, अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धि क्रियारूपी विचार द्वारा चित्तवृत्ति निरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार बहिरङ्ग और चार अन्तरंग कहाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरंग हैं

और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरंग हैं। बहिरङ्ग और अन्तरंगको मिलानेवाला प्रत्याहार अंग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फंस कर बद्ध रहता है इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासनाकाण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योग उपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि, चाञ्चल्यसे बंधन और धैर्य्यसे मुक्ति होती है अतः शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अंग है। प्राणायाम अंगके साधनके अनन्तर साधकको योगके अंतरंग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहारसाधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अंगके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्‌राज्यमें खींचकर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुंच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुंच कर सूक्ष्म अन्तर्‌राज्यके किसी विभागको अवलम्बन करके अन्तर्‌राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा करते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधन द्वारा योगी जब अन्तर्‌राज्यको जय कर लेता है तब बहिर् और अन्तर्‌राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण अथवा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान, और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवाय और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभाव रहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धांशोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही है वे सब इन्हीं आठ अंगोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं। भेद इतना ही है कि, किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें किसी अंगका संकोच है। इस प्रकारसे

साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुंच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुंचकर स्वरूप उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सब कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूप स्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब दशामें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैत भावमें स्थित रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्ति कहते हैं। इसीको अद्वैत स्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको पराभक्तिकी दशा भी कहते हैं। विभिन्न विभिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे दशमकिरणः।



एकादश किरण।

विविधोपासना वर्णन।

परमात्माके सान्निध्यलाभके लिये शास्त्रोंमें जो जो उपाय बताये गये हैं, उनका नाम उपासना या साधना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

"आत्मेत्येवोपासीत, तदात्मानमेवावेत्"

"तं यथा यथोपासते तदेव भवति"

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, उनको प्रसन्न करना चाहिये। भगवदुपासनासे जीव भगवद्रूप हो जाता है। संसारसे निष्कृति लाभ करनेके लिये और दूसरा कोई उपाय नहीं है।

उपासनाके लिये प्रवृत्ति कब होती है इस विषयमें छान्दोग्योपनिषद्में एक सुन्दर मन्त्र है। यथाः—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राय-
तनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत। एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं
दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं
हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याधके हाथमें सूतके द्वारा बंधा हुआ पक्षी इधर उधर उड़ जानेके लिये चेष्टा करने पर भी जब असमर्थ हो जाता है तो बन्धनके स्थानमें ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार जीव मायाके द्वारा रचे हुए भ्रम-जालमें फँसकर अन्तरात्माके साथ जो प्रेमकी डोरी बँधी हुई है उसको तोड़नेके लिये प्रयत्न करता है, परन्तु जब समस्त इन्द्रियोंके विषयमें अन्वेषण करने-पर भी उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती है, तो अन्तमें समस्त प्रेम और आनन्दके मूल परमात्माकी ही शरणमें जाकर उपासनाके द्वारा शान्ति प्राप्त करता है। अब नीचे इसी उपासना या साधनाका संक्षिप्त रहस्य कहा जाता है।

सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार परमात्माके तीन स्वरूप वर्णन किये गये हैं। यथाः—ब्रह्म, ईश और विराट्। श्रुतिमें लिखा है किः—

सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद-स्यामृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं, उनमेंसे एक पादमें सृष्टि होती है और तीन पाद सृष्टिसे बाहर हैं। परमात्माके जिस भावमें सृष्टि नहीं है, जिसके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं जो भाव मायासे अतीत अव्यक्त और अवाङ्मनसोगोचर है, उसको ब्रह्मभाव या निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है।

परमात्माके जिस भावके साथ मायाका सम्बन्ध है अर्थात् जिस भावमें उन्हींके ईक्षणसे शक्तिमती माया संसारकी सृष्टि स्थिति प्रलयको करती है, प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त उस भावको ईश्वर कहा जाता है और परमात्माका तीसरा भाव विराट् है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय उनका सर्वव्यापी शरीर है उसे विराट् कहते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है यथाः—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।"

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्॥"

उनके पाणि पाद, उनके चक्षु सिर या मुख सर्वत्र हैं, समस्त विश्व उनका ही रूप है, इत्यादि। यह सब विराट् मूर्तिका वर्णन है।

परमात्माके इन तीनों स्वरूपोंकी उपासनाके लिये शास्त्रमें क्रियासिद्धांश-रूपसे चार योग बताये गये हैं। यथाः—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। ब्रह्मका निराकार और व्यापकरूप परिच्छिन्न और चञ्चलबुद्धि मनुष्योंके लिये प्रथम दशामें धारणाके अन्तर्भूत नहीं हो सकता है, इसलिये प्रथम तीन प्रकारके योगोंमें चित्तको स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर उन्नत करनेकी विधि बताई गई है। मन्त्रयोगमें स्थूल मूर्तिका ध्यान किया जाता है। ब्रह्मकी निर्गुण मूर्ति कल्पनासे अतीत है, इसलिये महर्षियोंने समाधियुक्त बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्रकृतिके साथकी विविध लीलाओंको देखकर उन लीलाओंके भावोंको मूर्तिके रूपमें प्रथम दशाके साधकोंके कल्याणके लिये प्रकट किया है। यह बात स्वतःसिद्ध है कि यावन्मात्र रूप भावका ही स्थूल विकाश है। दृश्य जगत् भावजगत्का ही विस्तारमात्र है। इसलिये भगवद्भावोंके ही अवलम्बनसे जो रूपोंकी कल्पना महर्षियोंने की है वह ही मन्त्रयोगकी ध्येय-

वस्तु है। यह कल्पना मिथ्या मानस कल्पना नहीं है, परन्तु सत्य भगवद्भावोंके अनुसार शुद्धबुद्धिकृत सत्यकल्पना है। जैसा कि, महानिर्वाण तन्त्रमें कहा है कि:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्पन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

निर्विशेष परब्रह्मके साधनमें असमर्थ प्रथम दशाके साधकोंके लिये कृपा करके महर्षियोंने सगुण मूर्तिका साधन बताया है। साकार मूर्तिपर चित्तको एकाग्र करते करते मन वशीभूत होजानेपर निराकारके साधनके लिये अधिकार प्राप्त होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरकी पांच मूर्तियोंकी कल्पना की गई है, जिसको सगुण पञ्चोपासना कहते हैं। यथाः—शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य्य और गणेश। ये पांच ईश्वरकी ही मूर्तियां हैं, केवल पञ्च तत्त्वोंके विचारसे एक ईश्वरकी पञ्च मूर्तियां हैं। इन सब तत्त्वोंका विचार और भावके अनुसार मूर्तिकल्पनाका रहस्य आगेके अध्यायमें वर्णन किया जायगा।

दूसरा अधिकार यह है कि साधकका चित्त हठयोगोक्त ज्योतिर्ध्यानमें लगाया जाता है। ज्योति भगवान्‌की चित्सत्ताका स्थूल प्रकाश और मूर्तिसे सूक्ष्म है। इसलिये ज्योतिर्ध्यानके द्वारा साधकका चित्त सूक्ष्म राज्यकी ओर अग्रसर होता है।

तीसरे अधिकारमें लययोगोक्त बिन्दुध्यानमें चित्तको लगाया जाता है। यह बिन्दु सात्त्विक प्रकृतिका प्रकाश है, जो कि लययोगकी उन्नत दशामें साधकको दिखने लगता है और वह उसीमें चित्तको एकाग्र करके और भी सूक्ष्मतर राज्यमें प्रवेश लाभ करता है।

इसी प्रकारसे इन योगोंके द्वारा चित्तकी उन्नति होनेपर तब निर्गुण ध्यानमें अधिकार हुआ करता है। उस समय साधक ब्रह्म, ईश्वर और विराट् इन तीनोंपर ही राजयोगोक्त साधनोंके द्वारा चित्तको लय करके उपासनाके परम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य लाभको प्राप्त करता है। निर्विकल्प समाधिसिद्ध योगी जन्म-मरण रूपी संसारचक्रसे मुक्त होता है। इस प्रकारसे

निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चोपासना और इनके क्रियारूपसे चार प्रकारके योग साधन, ये उपासनाके छः अङ्ग हुए।

इसके अतिरिक्त उपासनाके और भी तीन अङ्ग हैं। यथाः—अवतारोपासना, ऋषि देवता तथा पितरोंकी उपासना और प्रेतादि निकृष्ट विभूतियोंकी उपासना। मनुष्योंकी प्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी है। उपासना उस निम्नगामिनी प्रकृतिकी गतिको बदलकर ऊपरकी ओर ले जानेके लिये विधि बताती है। परन्तु प्रकृति एकाएक ऊपर नहीं जा सकती। अतः उपासनाके विविध अङ्ग बताये गये हैं, जिनके अवलम्बनसे साधक क्रमशः अपनी प्रकृतिको सात्त्विक बनाता हुआ ऊपरकी ओर ले जा सकता है। इस लिये स्वभावतः तामसिक प्रकृतिके मनुष्यके लिये प्रेतादिकोंका भी साधन बताया गया है। जड़ प्रकृति चेतनशक्तिके बिना काम नहीं कर सकती। यह चेतनशक्ति प्रकृतिके सात्त्विक और तामसिक राज्यके विचारसे दो प्रकारकी है। सात्त्विक प्रकृतिपर अधिष्ठात्री चेतनशक्ति दैवीशक्ति कहलाती है और तामसिक प्रकृतिपर अधिष्ठात्रीशक्ति आसुरीशक्ति कहलाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है किः—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः
कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।

प्रजापतिकी सृष्टिमें दो शक्तियां कार्य करती हैं, देव और असुर। उनमेंसे जीवप्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी होनेसे असुरोंकी शक्ति अधिक और देवताओंकी शक्ति कम हुआ करती है। प्रेतादि निकृष्ट विभूतिगण इस तामसिक भूमिसे सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये कामनावाले तामसिक लोगोंके आराध्य हैं। परन्तु देवता ऋषि और पितरोंकी उपासना उच्चकोटिकी है। पहिले ही कहा गया है कि जड़वस्तु चेतनशक्तिके सञ्चालनसे ही नियमित कार्य्य कर सकती है। इसलिये जड़ प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालनके लिये बहुधा ईश्वरीयशक्ति नियामकरूपसे संसारमें कार्य्य करती है। प्रकृतिके विभाग असंख्य होनेपर भी उन्हें प्रधान तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—आध्यात्मिक विभाग, आधिदैविक विभाग और आधिभौतिक विभाग। प्रथम विभागके साथ ज्ञानका, दूसरे विभागके साथ कर्मका और तीसरेके साथ स्थूल दृश्यका सम्बन्ध है। इन तीन विभागोंके सञ्चा-

वस्तु है। यह कल्पना मिथ्या मानस कल्पना नहीं है, परन्तु सत्य भगवदाज्ञाओंके अनुसार शुद्धबुद्धिकृत सत्यकल्पना है। जैसा कि, महानिर्वाण तन्त्रमें कहा है कि:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

निर्विशेष परब्रह्मके साधनमें असमर्थ प्रथम दशाके साधकोंके लिये कृपा करके महर्षियोंने सगुण मूर्तिका साधन बनाया है। साकार मूर्तिपर चित्तको एकाग्र करते करते मन वशीभूत होजानेपर निराकारके साधनके लिये अधिकार प्राप्त होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरकी पांच मूर्तियोंकी कल्पना की गई है, जिसको सगुण पञ्चोपासना कहते हैं। यथाः—शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य्य और गणेश। ये पांच ईश्वरकी ही मूर्तियां हैं, केवल पञ्च तत्त्वोंके विचारसे एक ईश्वरकी पञ्च मूर्तियां हैं। इन सब तत्त्वोंका विचार और भावके अनुसार मूर्तिकल्पनाका रहस्य आगेके अध्यायमें वर्णन किया जायगा।

दूसरा अधिकार यह है कि साधकका चित्त हठयोगोक्त ज्योतिर्ध्यानमें लगाया जाता है। ज्योति भगवानकी चित्सत्ताका स्थूल प्रकाश और मूर्तिसे सूक्ष्म है। इसलिये ज्योतिर्ध्यानके द्वारा साधकका चित्त सूक्ष्म राज्यकी ओर अग्रसर होता है।

तीसरे अधिकारमें लययोगोक्त बिन्दुध्यानमें चित्तको लगाया जाता है। यह बिन्दु सात्त्विक प्रकृतिका प्रकाश है, जो कि लययोगकी उन्नत दशामें साधकको दिखने लगता है और वह उसीमें चित्तको एकाग्र करके और भी सूक्ष्मतर राज्यमें प्रवेश लाभ करता है।

इसी प्रकारसे इन योगोंके द्वारा चित्तकी उन्नति होनेपर तब निर्गुण ध्यानमें अधिकार हुआ करता है। उस समय साधक ब्रह्म, ईश्वर और विराट् इन तीनोंपर ही राजयोगोक्त साधनोंके द्वारा चित्तको लय करके उपासनाके परम लक्ष्य भगवत्सान्निध्य लाभको प्राप्त करता है। निर्विकल्प समाधिसिद्ध योगी जन्म-मरण रूपी संसारचक्रसे मुक्त होता है। इस प्रकारसे

निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चोपासना और इनके क्रियारूपसे चार प्रकारके योग साधन, ये उपासनाके छः अङ्ग हुए।

इसके अतिरिक्त उपासनाके और भी तीन अङ्ग हैं। यथाः—अवतारोपासना, ऋषि देवता तथा पितरोंकी उपासना और प्रेतादि निकृष्ट विभूतियोंकी उपासना। मनुष्योंकी प्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी है। उपासना उस निम्नगामिनी प्रकृतिकी गतिको बदलकर ऊपरकी ओर ले जानेके लिये विधि बताती है। परन्तु प्रकृति एकाएक ऊपर नहीं जा सकती। अतः उपासनाके विविध अङ्ग बताये गये हैं, जिनके अवलम्बनसे साधक क्रमशः अपनी प्रकृतिको सात्त्विक बनाता हुआ ऊपरकी ओर ले जा सकता है। इस लिये स्वभावतः तामसिक प्रकृतिके मनुष्यके लिये प्रेतादिकोंका भी साधन बताया गया है। जड़ प्रकृति चेतनशक्तिके बिना काम नहीं कर सकती। यह चेतनशक्ति प्रकृतिके सात्त्विक और तामसिक राज्यके विचारसे दो प्रकारकी है। सात्त्विक प्रकृतिपर अधिष्ठात्री चेतनशक्ति दैवीशक्ति कहलाती है और तामसिक प्रकृतिपर अधिष्ठात्रीशक्ति आसुरीशक्ति कहलाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है किः—

> द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः
> कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः ॥

प्रजापतिकी सृष्टिमें दो शक्तियां कार्य करती हैं, देव और असुर। उनमेंसे जीवप्रकृति स्वभावतः निम्नाभिमुखिनी होनेसे असुरोंकी शक्ति अधिक और देवताओंकी शक्ति कम हुआ करती है। प्रेतादि निकृष्ट विभूतिगण इस तामसिक भूमिसे सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये कामनावाले तामसिक लोगोंके आराध्य हैं। परन्तु देवता ऋषि और पितरोंकी उपासना उच्चकोटिकी है। पहिले ही कहा गया है कि जड़वस्तु चेतनशक्तिके सञ्चालनसे ही नियमित कार्य्य कर सकती है। इसलिये जड़ प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालनके लिये बहुधा ईश्वरीयशक्ति नियामकरूपसे संसारमें कार्य्य करती है। प्रकृतिके विभाग असंख्य होनेपर भी उन्हें प्रधान तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथाः—आध्यात्मिक विभाग, आधिदैविक विभाग और आधिभौतिक विभाग। प्रथम विभागके साथ ज्ञानका, दूसरे विभागके साथ कर्मका और तीसरेके साथ स्थूल दृश्यका सम्बन्ध है। इन तीन विभागोंके सञ्चा-

करनेवाली चेतनशक्ति ऋषि देवता और पितृ कहलाती है। ऋषिशक्ति ात्मिक विभागकी, दैवीशक्ति आधिदैविक विभागकी और पितृशक्ति धभौतिक विभागकी सञ्चालक है। इनकी उपासना आसुरी शक्तिकी ासनासे उन्नत तथा द्वितीय कोटिकी उपासना है।

अवतारोंकी उपासना उक्त दोनों उपासनाओंसे उन्नत तृतीय श्रेणीकी । हिन्दूशास्त्रके सिद्धान्तानुसार संसारमें जो कुछ शक्तिका विकाश देखा ता है, वह सब ईश्वरकी ही शक्ति है। जड़वस्तुमें जड़शक्तिरूपसे और तनवस्तुमें चेतनशक्तिरूपसे ईश्वरकी सर्वव्यापिनी शक्ति प्रकट हुआ रती है। इसी शक्तिको कला भी कहते हैं। कलाका विकाश जीव ावके प्रथम विकाशसे लेकर अन्त तक है। जीवभावका प्रथम विकाश द्भिज्ज योनिमें होता है। इसलिये उद्भिज्ज योनिमें एक कलाका विकाश बताया गया है। तदनन्तर स्वेदज कृमि कीट आदि योनियोंमें भगवानकी शक्तिकी दो कलाओंका विकाश होता है। उसके बाद अण्डज योनिमें तीन कलाओंका विकाश और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाओंका विकाश होता है। जीव उन्नत होता हुआ मनुष्य योनिमें जब पहुंचता है तो उसमें पांच कलासे लेकर आठ कला तकका विकाश देखनेमें आता है। साधारण मनुष्योंमें पांच कला, विशेष मनुष्योंमें उससे अधिक कला और विभूतियुक्त असाधारण पुरुषोंमें आठ कला तकका विकाश होता है। परन्तु ये सभी विकाश जीवकोटिके हैं। इसके अतिरिक्त शक्तिके विकाश होनेकी आवश्यकता हो अर्थात् धर्मकी रक्षा और अधर्मके नाशके लिये आठ कलासे अतिरिक्त शक्तिके आविर्भावकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हो, तो जिस असाधारण अलौकिक केन्द्रके द्वारा वह शक्ति प्रकट होती है, उसे अवतार कहते हैं। इसी प्रकारसे भगवान्‌की शक्ति प्रकृतिकी आवश्यकताके अनुसार ८ कलासे १६ कलातक प्रकट होती है। नौ दस आदि कलाके अवतार अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलाके अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। अवतारोंका आविर्भाव धर्मकी रक्षा और अधर्मके नाशके लिये होता है। यह शक्ति भगवान्‌की है, इसलिये जिस केन्द्रसे इस प्रकार अलौकिक शक्तिका विकाश हो, वह अवताररूपी केन्द्र सर्वथा पूज्य है। यही अवतारोपासनाका संक्षिप्त विज्ञान है। इसका विस्तार आगे किया जायगा। इसके अनन्तर सगुण ब्रह्मरूपी पञ्चदेवोपासना और अन्तमें निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस रीतिसे

उपासनाके ये पांच अङ्ग और क्रियारूपसे चार योग, कुल नौ अङ्ग हुए, जिनके अधिकारानुसार अनुष्ठानसे साधकको भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है और निःश्रेयस पदवी मिलती है।

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग, इनमेंसे किसी एककी सिद्धावस्थामें साधक राजयोगका अधिकार प्राप्त करके कृतकृत्य होता है। उपास्यके अनुसार भूतप्रेतादिका उपासक केवल इहलौकिक सुख प्राप्त करता है और कभी कभी उसकी दुर्गति भी होती है। ऋषि देवता और पितरोंका उपासक इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके अभ्युदयको प्राप्त करता है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि, सकाम बुद्धिसे जो अवतारोपासना और सगुण पञ्चोपासना करते हैं वे केवल इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करते हैं, परन्तु निष्कामरूपसे अवतारोपासक हो, अथवा सगुण पञ्चोपासक हो, अथवा निर्गुण ब्रह्मोपासक हो उनकी उपासना मुक्तिप्रद होगी।

भक्ति उपासनाका प्राण और योग उपासनाका शरीर है। चित्तमें भगवान्‌के प्रति जिस अनुरागके उदय होनेसे भक्त भगवान्‌का सान्निध्य लाभ कर सकता है, उसे भक्ति कहते हैं और जिन सब शारीरिक और मानसिक क्रियाओंके अनुष्ठानसे चित्त शान्त होकर आत्माके स्वरूपको दिखा सकता है उसे योग कहते हैं। इसलिये उपासनाकी उन्नति और पूर्णताप्राप्तिके अर्थ प्राणरूपी भक्ति और शरीररूपी योगकी परम आवश्यकता है। इनके विशेष वर्णन पृथक् अध्यायमें पहिले ही किये गये हैं।

शास्त्रमें आध्यात्मिक उन्नतिके लिये जितने प्रकारके उपाय बताये गये हैं, उपासना उन सबोंकी सिद्धिमें परम सहायक है। धर्मके सब अङ्ग या उपाङ्ग उपासनाके ही बलसे साधकको पूर्णता प्राप्त करा सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, दानधर्मके अनुष्ठानमें दानकी पूर्ण फलप्राप्तिके लिये दाताके चित्तमें उपासनामूलक धर्मभाव और श्रद्धाकी बहुत आवश्यकता है, क्योंकि ईश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिभावकी दृढ़ताके बिना सात्विक दानमें प्रवृत्ति और सफलता होना असम्भव है। इसी प्रकार तपधर्ममें भी जबतक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इच्छा और भगवान्‌के प्रति भक्ति न हो, तबतक सात्विक तपकी परमफल प्राप्ति नहीं होती, ये सब भाव मूलमें उपासनाके रहनेसे ही प्राप्त होते हैं। उपासनाविहीन दान और तप मनुष्यको संसारमें फंसाकर और भी अधोगति प्राप्त कराता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग-

के रहस्यवर्णनमें जितने प्रकारके कौशल बताये हैं, उनमेंसे उपासनामूलक भगवत्समर्पण कर्मयोगमें उन्नति और पूर्णताप्राप्तिके लिये सर्वोत्तम कौशल है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।

हे अर्जुन! कुछ कार्य्य करो, भोजन करो, हवन करो, दान करो या तपस्या करो, सब कर्म मुझमें अर्पण करना। ऐसा करनेसे शुभ या अशुभ कर्मके बन्धनमें नहीं आओगे और सन्न्यासयोगयुक्त हो, सकल बन्धनसे मुक्त होते हुए मुझको प्राप्त करोगे।

श्रीभगवानने गीतामें और भी बतलाया है कि, "कर्मयोगीके लिये समस्त संसार भगवान्‌का ही रूप है इसलिये जगत्सेवा भगवान्‌की ही सेवा है" इस उपासनाबुद्धिसे कर्मयोगमें प्रवृत्त होना चाहिये। उनको प्रतिदिन यह विचार रखना चाहिये कि, 'मैं अल्पशक्ति हूं, भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, जगत्‌की सेवा उन्हींकी पूजा है, इसलिये अल्पशक्ति मैं उनका निमित्तमात्र होकर तबही उनकी सेवा कर सकता हूँ, जब सर्वशक्तिमान भगवान मुझे शक्ति दें, और मेरे पुरुषार्थका जो कुछ फल होगा सो उन्हींका होगा, मेरा कुछ नहीं, क्योंकि जिस शक्तिसे कार्य्यका फल मिलता है वह शक्ति उन्हींकी है और उन्हींकी कृपासे मुझे प्राप्त हुई है।" कर्म्मयोगी इस प्रकार उपासना भावके साथ यदि कर्म करे तो कदापि कर्म्मबन्धन नहीं प्राप्त होसकता है। अन्यथा जैसा गीताजीमें कहा है कि:—

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

अहङ्कारसे मुग्ध होकर अपनेको कर्त्ता समझ लेने तो कर्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, कर्म्मयोगमें सफलता प्राप्त करनेके लिये और कर्म्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये उपासना ही परम सहायक है। इसी प्रकारसे ज्ञानयोगमें भी उपासनाकी सहायतासे ज्ञानयोगीको अपने मार्गमें सुविधाके साथ उन्नति होती है। परमात्माके प्रति भक्तिभावयुक्त ज्ञानयोगी तत्त्वज्ञानको शीघ्र प्राप्त कर सकता है। महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनके समाधिपादमें लिखा है कि:-

तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

साधकके चित्तमें तीव्र आकाङ्क्षा रहनेसे स्वरूपकी उपलब्धि शीघ्र हुआ करती है। यह तीव्र आकांक्षा उपासनासापेक्ष है; क्योंकि ज्ञानयोगी भक्तके चित्तमें ही ज्ञानके साथ साथ भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये हृदयकी ऐसी तीव्र इच्छा और भक्ति हो सकती है। अतः ज्ञानयोगमें भी उपासनाको सहायता परम आवश्यकीय है इसमें सन्देह नहीं। उपासना और भक्तिसे रहित ज्ञान शुष्कज्ञानरूपमें परिणत होकर तर्क-बुद्धि और नास्तिकभाव पैदा करता है; जिसके फलसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

ज्ञानमार्गमें उपासनाकी कितनी आवश्यकता है सो वेदके उपनिषद्‌भाग पर विचार करनेसे स्पष्ट हो सकता है। वेदका यह भाग गीता तथा ब्रह्मसूत्रके साथ मिलकर प्रस्थानत्रय कहलाता है। गीताका विज्ञान योगीको निष्काम कर्मयोगका रहस्य बतलाता है, उपनिषद्‌का विज्ञान ज्ञानयोगके साथ उपासनाका रहस्य बतलाता है और वेदान्तविज्ञान साधकको आत्मज्ञान प्राप्त होनेका उपाय बतलाता है। प्रस्थानत्रयका यही महान् रहस्य है। इसी प्रकारसे सनातनधर्मके प्रत्येक अङ्गके साथ उपासनाका सम्बन्ध बताया गया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु पृथिवीके और भी अन्य अन्य धर्म्म, जैसा कि, ईसाई धर्म्म, मुसलमान धर्म्म आदि सबहीमें ईश्वरकी उपासनाको प्राधान्य रक्खा गया है। अतः उपासनाके सकल कल्याणकारी भावके ऊपर किसीका भी सन्देह नहीं होसक्ता।

उपासनाके नौ अंगोंमेंसे ऋषि देवता पितरोंकी उपासनाके विषयमें अनेक प्रकारकी भ्रान्ति होती है, क्योंकि इनके स्वरूपका पता मनुष्योंको प्रायः नहीं है। अतः नीचे इस विषयमें शंकासमाधानरूपसे कुछ वर्णन किया जाता है।

जिस प्रकार एक साम्राज्यकी सुव्यवस्थाके लिये सम्राट्‌के स्थापित किये हुए अनेक अनुशासन-विभाग हुआ करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके तीन अनुशासन-विभाग होते हैं; उनको अध्यात्म-विभाग, अधिदैव-विभाग और अधिभूत-विभाग कहते हैं। इन्हीं तीनों विभागोंके सञ्चालकोंको ऋषि, देवता और पितृ कहते हैं। वास्तवमें ये तीनों ही प्रकारान्तरसे देवता

हैं। अध्यात्म ज्ञान राज्यके सञ्चालक ऋषिगण, अधिदैव कर्मराज्यके सञ्चालक देवतागण और अधिभूत स्थूल राज्यके सञ्चालक पितृगण हैं। मनुष्य केवल स्थूलराज्यपर आधिपत्य कर सकता है। परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्मराज्य--दोनोंपर समान-रूपसे आधिपत्य कर सके वही देवता है। ऋषि, देवता और पितृमें यही दैवी शक्ति विद्यमान है। इसी कारण वे दैव जगत्के तीन विभागोंके चालक हैं।

आर्यशास्त्रमें कहा गया है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा विष्णु—महेशरूपी त्रिमूर्ति ही उक्त ब्रह्माण्डके सगुण ईश्वर हैं, इस कारण ये तीनों, देवता होनेपर भी, अन्यान्य देवताओंकी श्रेणीमें इनकी गणना नहीं हो सकती। प्रधान देवता तैंतीस हैं। यथा -आठ वसु, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति।

यजुर्वेद (अ० १४ मं० २०) में भी:—"वसवो देवता. रुद्रा देवताः।
आदित्या देवताः त्रयस्त्रिंशाः सुराः।"

इत्यादि कहकर तैंतीस देवताओंका वर्णन किया गया है। इनके नाम यथा महाभारतमें: -

"भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥"

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं। वसुओंके नाम महाभारतमें:-

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये अष्टवसु हैं। एकादश रुद्रके नाम श्रीमद्भागवतमें—

"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः॥"

अजैकपाद, अहिर्बुध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर—ये एकादश रुद्र हैं।

ये ही तैंतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षकरूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्णमें विभक्त हैं।

इनके चार वर्ण—यथा—महाभारतके शान्तिपर्वमें:—

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा ।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः ।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम् ॥

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्रदेवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता—इस प्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं तैंतीस—करोड़ देवता हैं ऐसा भी कहा गया है। 'प्रत्येक ब्रह्माण्डमें देवताओंकी संख्या क्या तैंतीस करोड़ ही नियमित है? इस प्रश्नके उत्तरमें सिद्धान्त यही हो सकता है कि, विज्ञानवित् शास्त्रकारोंने प्रकृतिके परिणामके क्रमके अनुसार और कर्म्मोंकी गतिके साधारण भेदके अनुसार देवताओंकी संख्या अधिकसे अधिक तैंतीस करोड़का होना अनुमान किया है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तैंतीस करोड़ ही देवता होते हैं।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी संख्या तथा स्वरूपके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। यजुर्वेद (अ० १४ मं० २०) में वर्णन है:—

"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।"

इस मंत्रमें देवताओंको अनेक श्रेणियोंका नामोल्लेख है।

पुनश्च—"त्रयो देवा एकादशत्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।" (य० २१ मं० अ० २०)

"समिद्ध इंद्र उपसामनीके पुरोरुचा पूर्व कृद्वावृधानः त्रिभिर्देवैस्त्रिंशताः वज्रबाहुर्जघान वृत्रं विदुरो ववार।" (अ० २, मं० ३६)

प्रधान तीन देवता, एकादश रुद्र या तेंतीस देवता सुरगुरु वृहस्पतिको आगे करके अपनी दैवशक्तिके प्रभावसे सूर्यप्रेरणासे यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त मेरी रक्षा करें। तेजस्वी बज्रधारी इन्द्रने सूर्य्यकी तरह प्रकाशवान् तेंतीस देवताओंके साथ मिलकर वृत्रका हनन किया। देवताओंकी संख्याके विषयमें उसी वेदमें लिखा है:—

त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निन् त्रिंशच्च देवानवचासपर्यन्" (७ अ० मं० ३३)

तीन हजार तीन सौ उनतालिस देवता अग्निकी परिचर्या करते हैं। शाकल्य ब्राह्मणमें—

"त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति महिमा न एवैषामेते त्रयस्त्रिंशदेव देवाः"

इस प्रकार कहकर तेंतीस देवता ही प्रधान हैं, बाकी शत सहस्र देवता गण सब इनकी विभूतिरूप हैं—ऐसा ही वर्णन किया गया है। अन्यत्र यह भी वर्णन है:—

"तिस्रः कोट्यस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु संख्यातुं नैव शक्यते॥"

एकादश रुद्रोंकी विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्योंकी विभूति दस कोटि देवता हैं। अग्नि देवताके पुत्र पौत्रोंकी तो संख्या ही नहीं हो सकती। तदनन्तर अक्षपादने कहा है —

"त्रयस्त्रिंशद्व यानि तान्येव शतानि विन्दुत्रययुक्तानि, पुनस्तान्येव त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि च विन्दुचतुष्टययुतानि तथा त्रयस्त्रिंशत्कोटय इत्यर्थः"

इस प्रकारसे तेंतीस करोड़का हिसाब बन सकता है। महाभारतके आदिपर्वके १ अध्यायमें लिखा है—

"त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा॥"

संक्षेपसे देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस होती है। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंकी संख्याके विषयमें वर्णन है। यथाः—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।"

"अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"

"तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।"

"अपि वा कर्मपृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः॥"

"अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति।"

"तथाभिधानानि।"

देवता तीन हैं। यथा—अग्नि, वायु या इंद्र और सूर्य्य। अग्निका स्थान पृथ्वी है, वायु या इंद्रका स्थान अंतरिक्ष है और सूर्यका स्थान द्युलोकमें है। इन तीन प्रधान देवताओंके ऐश्वर्य्ययोगसे अनेक देवता होते हैं, जिनके नाम अनेक प्रकारके हैं। कर्मकी पृथक्ताके कारण भी अनेक भेद होते हैं। यथा—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता इत्यादि। इसके सिवाय और प्रकारसे भी पृथक्सत्ता देवताओंकी होती है, जिस कारण पृथक् पृथक् देवताओंकी पृथक् पृथक् स्तुतियां भी होती हैं। इस प्रकार पृथक्सत्ताके अनुसार देवताओंके पृथक् पृथक् नाम भी होते हैं।

यजुर्वेदके (अ० ३९ मं० ६) प्रायश्चित्ताहुतिप्रकरणमें लिखा है—

"सविता प्रथमेहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे।"

प्रथम दिनका सविता देवता है, दूसरे दिनका अग्नि, तीसरे दिनका वायु, चौथे दिनका आदित्य, पञ्चमका चन्द्र, षष्ठका ऋतु, सप्तमका मरुत्, अष्टमका बृहस्पति, नवमका मित्र, दशमका वरुण, एकादशका इन्द्र, द्वादशका विश्वेदेवा। इन देवताओंके निमित्त १२ दिनोंतक प्रायश्चित्तके लिये आहुति दी जाती है। इन देवताओंके स्वरूप तथा वासस्थान कहां होते हैं, इसके विषयमें (ऋग्वेद मं० १ सू० ९३ अ० ५) में लिखा है:—

नृचक्षसो अनिमिषंतो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवोवर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥

कर्मके नियन्ता, अनिमेषनेत्र द्वारा जीवोंके प्रति दृष्टियुक्त, देवताओंने जीवोंकी परिचर्याके निमित्त अमरत्वको प्राप्त किया है । दीप्तिमान् रथसे युक्त, स्थिरबुद्धि, पापरहित देवतागण स्वर्गलोकके उन्नत देशमें निवास करते हैं । और भी—

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिहृता दधिरे दिविक्षयम् ।"

प्रभुतायुक्त, अतिवृद्धिशाली देवतागण जो यज्ञमें आते हैं उनका निवास दिव्यलोकमें हैं । देवताओंके प्रभावके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा है-

"आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।"

आत्मा ही देवताओंका अश्व, रथ, आयुध, बाण और सब कुछ होता है । इनके रूपके विषयमें ऋग्वेद (मं० ३, अ० ४ सू० ५३ म० ८) में लिखा है—

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् ।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ।"

मघवा (इन्द्रदेव) जिस जिस रूपके धारण करनेकी इच्छा करते हैं वही रूप उनका हो जाता है, उनमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है । सोमपायी इन्द्रकी यजमान मन्त्र द्वारा स्तुति करते ही इन्द्रदेव स्वर्गलोकसे एक ही समय अनेक रूप धारण करके अनेक यज्ञमें उपस्थित हो सकते हैं । देवताओंके अनेक रूप धारण करके एक ही समय अनेक यज्ञमें उपस्थित होनेके विषयमें वेदान्त-दर्शनका भी सूत्र है । यथाः—

"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि, एक समयपर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि, देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एक ही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक यज्ञोंमें वे दर्शन दे सकते हैं । देवताओंके रूप कैसे होते हैं, इसके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा हैः—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम् ।"
"पुरुषविधाः स्युरित्येकम् ।"

"अपुरुपविधाः स्युरित्यपरम् ।"

"अपि वोभयविधाः स्युः ।"

देवताओंके रूप कैसे होते हैं अर्थात् किस रूपमें वे दर्शन देते हैं, इसके विषयमें यह कथन है कि कोई उनको पुरुषके रूपमें दर्शन देनेवाले, कोई उनको स्त्रीके रूपमें या और किसी रूपमें दर्शन देनेवाले और कोई उनको इन दोनों ही रूपोंमें दर्शन देनेवाले कहते हैं। इन्द्रके कार्यके विषयमें निरुक्तमें लिखा है:—

"अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् ।"

वर्षादि कराना, वृत्रवध और बलसम्बन्धोय अन्य समस्त कार्य इन्द्रदेव का है; क्योंकि, वे देवताओंके राजा हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होता है कि विद्वान् को ही देवता कहनेकी और चतुर्वेदज्ञाताको ही ब्रह्मा कहनेकी जो स्पर्द्धा अर्वाचोन पुरुषोंने की है वह उनका भ्रान्तियुक्त उन्मत्त प्रलापमात्र है।

"विद्वांसो हि देवाः ।" (शतपथ ब्राह्मण ३।७।३।१०)

इस मन्त्रका अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने ठीक नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् ही देवता होते हैं; परन्तु यजुर्वेद (अ० ६, मं० ७) में:—

"देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।"

इस मन्त्रके अर्थमें "दिव्यगुणयुक्त" यह पशु अग्नीषोमादि देवताओंके पास गमन करे, जो देवता विद्वान् और अग्नि द्वारा हविकी इच्छा करनेवाले होते हैं, यह जो मंत्र है, इसपर ही शतपथ ब्राह्मणकी श्रुति है:—

"विद्वांसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति ।"

देवता विद्वान् हैं, इसीलिये उनको उशिज और वह्नितमान् कहा गया है; विद्वान्का नाम ही देवता है, यह उक्त श्रुति अथवा ब्राह्मणका अर्थ नहीं है। बकरीकी चार टाङ्ग होती है इसलिये जिस पशुकी चार टाङ्ग हो वह सभी बकरी है ऐसा कहना जिस प्रकार मिथ्या है ऐसा ही विद्वान् होते ही उसे देवता कहना मिथ्या है। और चार वेदके ज्ञाता ही ब्रह्मा है ऐसा कहना और भी भ्रान्तियुक्त है। ऐसा होनेपर वेदव्यास वशिष्ठ आदि वेदवेत्ता सभी ऋषियोंको ब्रह्मा कहना पड़ेगा।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता । (मुण्डक)

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे, यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ॥ (श्वेताश्वतर)

तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः (मनु)

इत्यादि प्रमाणों द्वारा ब्रह्माकी पृथक् स्थिति सिद्ध होती है ।

शास्त्रमें नित्य देवता और नैमित्तिक देवता दो प्रकारके देवता कहे गये हैं ।

नित्य देवता वे हैं, कि जिनका पद नित्य स्थायी है । वसुपद, रुद्रपद, आदित्यपद, इन्द्रपद, वरुणपद आदि पद नित्य हैं । यह पदसमूह केवल अपने ब्रह्माण्डमें ही नित्यस्थायी नहीं है; किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन पदोंका नित्यरूपसे रहना अवश्य सम्भव है । ये पद नित्य होते हैं तथा कल्प और मन्वन्तरादिभेदसे इनमें योग्य व्यक्तियां जाकर अधिकार प्राप्त करती हैं । और वे ही देवता क्रमशः उन्नत अधिकारोंको भी प्राप्त करते रहते हैं । कभी कभी इन पदधारी देवताओंका पतन भी होता है । जैसा महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है:—

"हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियश्च ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप्तमुख्यम् ॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥"

मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके, सत्य, धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे इन्द्रको मनुष्यशरीरसे इन्द्रपद प्राप्त हुआ था । यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका ऐश्वर्य्य प्राप्त किया था । नारायणोपनिषद्में लिखा है:—

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः"

"यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्रद्युम्नितमो मदः" (सा. वे. ३।१।३।२)

यज्ञसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है और शतक्रतु होनेसे ही इन्द्रपद इन्द्रको प्राप्त हुआ है । ऋग्वेद १।१११।१ में लिखा है:—

"तक्षन रथं सुकृतं विद्म नापसस्तक्षन । हरीं इन्द्रवाहा वृषण्वसू ।"

आंगिरसके तीन पुत्र रथनिर्माणके कौशलसे देवताओंको तुष्ट कर देवत्व-को प्राप्त हो गये थे।

पुनः महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

"नहुषो हि महाराज ! राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।
स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम्॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह॥"

राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मके फलसे इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पाने-पर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया था और उन्होंने ऋषियोंसे अपना शिविका (पालकी) वाहन प्रारम्भ कर दिया था। एक बार अगस्त्य ऋषि शिविका-वहन कर रहे थे, नहुषने उनके सिरपर लात मार दिया। इसपर भृगु ऋषिने नहुषको अभिसम्पात (शाप) किया कि सर्प हो जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा।

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्तसे कायम किया जाता है। और उस निमित्तके नष्ट होनेपर वह पद भी उठ जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणके लिये कुछ प्रमाणोंका विचार किया जाता है। प्रथम उदाहरण यह है कि ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदिका पद। ग्रामके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक ग्राम नष्ट न हो जाय तबतक ग्रामदेवताका पद बना रहता है। एक वनस्थलीके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतब उस स्थानमें वनका अधिकार पूर्णरूपसे बना रहता है तबतक वनदेव-ताका पद बना रहता है और उसके बाद वह पद नष्ट हो जाता है। गृहदेव-

ताको भी ऐसा ही समझना उचित है। एक गृहके प्रस्तुत होनेपर यदि गृहपति उस गृहमें शास्त्रविधिके अनुसार गृहदेवताकी स्थापना करें तो उस गृहदेवताके पीठकी स्थापनाके समयसे लेकर जबतक वह गृह बना रहता है और जबतक गृहस्थकी श्रद्धा पीठपर बनी रहती है तबतक उस गृहदेवताका पद बना रहता है और तदनन्तर वह पद नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणमें और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार प्रकारके भूतोंकी जो अलग अलग श्रेणियां है, यथा—जरायुजमें गो महिष, अश्व, सिंह, वानरादि, अण्डजमें कपोत, मयूर, सर्प आदि, स्वेदजमें जीवरक्षाके विशेष विशेष कृमि तथा रोगोत्पादक विशेष विशेष कृमि और उद्भिज्जमें अश्वत्थ, वट, बिल्व आदि, इस प्रकारसे चार प्रकारके जीवोंमें जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस देशमें जिस प्रकारकी श्रेणियां उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षाके लिये एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवताका पद दिया जाता है और जबतक वे श्रेणियाँ बनी रहती हैं तबतक वह देवताका पद भी बना रहता है। उसके अन्यथा होनेपर वह पद उठा दिया जाता है। नैमित्तिक देवताके सम्बन्धमें और भी उदाहरण दिया जाता है। स्थावर पदार्थ—पर्व्वत, नदी आदि—तथा नाना प्रकारके धातु और उपधातु आदि खनिज पदार्थोंके चालक और रक्षक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवता होते हैं। वे पद भी नैमित्तिक हैं। जिस ब्रह्माण्डमें अथवा जिस देश विदेशमें जबतक ये स्थावर पदार्थ अपनी पूर्ण सत्तामें विद्यमान रहते हैं तबतक वे नैमित्तिक देवताओंके पद भी विद्यमान रहते हैं और उसके अन्यथा होनेपर वे पद उठा दिये जाते हैं। यही सब नैमित्तिक देवताओंके उदाहरण हैं।

नैमित्तिक देवताओंके विषयमें शास्त्रमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। मत्स्यपुराणमें गृहदेवताओं अर्थात् वास्तुदेवताओंका नामोल्लेख तथा पूजाका वर्णन किया गया है। यथाः—

"सर्व्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्व्ववास्तुषु॥
पदस्थान् पूजयेद्देवाँस्त्रिंशत्पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद्‌ बाह्यतः पूज्याः पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश॥

नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि स्थानानि च निबोधत।
ईशानकोणादिषु तान् पूजयेद्धविषा नरः॥
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च॥
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतमयावुभौ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणास्तथा॥"

इत्यादि इत्यादि। समस्त वास्तुविभागमें दोनों ओर नौके हिसाबसे एकाशीति ८१) वास्तु पद जानना चाहिये। इन पदोंमें स्थित बत्तीस और पंद्रह तथा बहिर्दिशामें बत्तीस और बीचमें तेरह—इस प्रकारसे समस्त वास्तु देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु, पूषा, वितथ, गृहक्षत, मय, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण इत्यादि वास्तु देवतागण हैं, जिनकी पूजा ईशानकोणमें होती है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें मतङ्गमुनिका इस प्रकार इतिहास मिलता है कि मतङ्गमुनिके अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या करनेपर भी वे ब्राह्मण जन्म नहीं प्राप्त कर सके और पश्चात् इन्द्रके वरसे छन्द नामक नैमित्तिक देवता बन गये। यथाः—

"छन्दो देव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि।
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स! त्रिषु लोकेषु यास्यति॥
एवं तस्मै वरं दत्त्वा वासवोऽन्तरधीयत।
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम्॥"

इन्द्रदेवने मतङ्गको वर दिया "तुम छन्द नामक देवता बनोगे और स्त्रियां तुम्हारी पूजा करेंगी। त्रिलोकमें तुम्हारी अत्यन्त कीर्ति होगी।" इतना कहकर इन्द्रदेव अन्तर्धान हो गये और शरीरत्यागानन्तर मतङ्ग छन्द देवता नामक उत्तम नैमित्तिक देवताका स्थान प्राप्त हो गये। यही सब देवताओंके विषयमें शंका समाधान है।

नित्य पितृगण भी एक प्रकारके देवता हैं, उनका वासस्थान पितृलोक है। उनका कार्य्य आधिभौतिक जगत्का संरक्षण, आधिभौतिक जगत्के परमाणुओंका नियोजन और आधिभौतिक जगत्की क्रियाओंका यथावत् परि-

चालन करना है। संसारमें ऋतुओंके ठीक ठीक होनेसे ही आधिभौतिक शरीरसम्बन्धीय परमाणु तथा शक्तियोंका सुप्रबन्ध रहता है। अतः ऋतुओं-तककी सम्हाल करनेमें पितरोंका अधिकार माना गया है। यथा वेदमेंः—

"ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्, अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्, आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्" इत्यादि।

"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरो शोषाय
नमो वः पितरो ऋतवे, नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय ॥"

सोमसद् नामक नित्य पितृगण तृप्त होवें, अग्निष्वात्ता नामक पितृगण तृप्त होवें, बर्हिषद् नामक पितृगण तृप्त होवें, सोमपा नामक पितृगण तृप्त होवें, हविर्भुक नामक पितृगण तृप्त होवें, आज्यपा नामक पितृगण तृप्त होवें, इत्यादि। वर्षाधिपति पितरोंको नमस्कार, ग्रीष्माधिपति पितरोंको नमस्कार, ऋतुके अधिपति पितरोंको नमस्कार, इत्यादि।

ऋतुओंमें विपर्य्यय न होने देना अथवा मनुष्योंके कर्मोंके उपयोगी ऋतुओंके स्वरूपमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, संसारमें स्वास्थ्यविधान करना, संसारके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्यका स्थूलशरीर मातृगर्भमें उत्पन्न करना, मनुष्यके स्थूलशरीरका स्वास्थ्यविधान करना, मनुष्यके शरीरके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य्य पितृगणकी कृपासे हुआ करते हैं। सुतरां, पितृगण ही जीवके कर्मभोगके उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकारके अनुसार स्थूलशरीर बनानेमें जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्त्वोंको चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोकसे पर्जन्यादिके द्वारा सुसज्जित करते हुए यथाक्रम मातृपितृशरीरमें होकर रजवीर्य्यमें परिणत करते हुए मातृगर्भमें पहुंचा देते हैं। यही पितृगणके द्वारा मनुष्यके स्थूलशरीरकी गतिका वैज्ञानिक रहस्य है। दूसरी ओर जिस प्रकार पितृगण प्रत्येक जीवके कर्म्मानुसार तथा उस जीवके मातापिताके कर्म्मानुसार जैसी सन्ततिके उपयोगी स्थूलशरीरका मसाला मातृगर्भमें इकट्ठा करते हैं वैसे ही यथायोग्य आत्मा अपने सूक्ष्मशरीरके सहित अन्य सूक्ष्मलोकोंसे देवताओंकी सहायताके

द्वारा मातृगर्भमें यथासमय पहुँचाया जाता है। यही जीवके सूक्ष्मशरीरके जन्मान्तर होनेके सम्बन्धका वैज्ञानिक रहस्य है। इन दोनों कार्य्योंमेंसे एक कार्य्य पितरोंका है दूसरा देवताओंका है।

ऋषि, देवता और पितर—ये तीनों श्रेणियां श्रीभगवान्के कार्य्यकर्त्ता प्रतिनिधि देवता ही हैं। भेद इतना ही है कि ऋषियोंमें अध्यात्मशक्तिकी प्रधानता, देवताओंमें अधिदैवशक्तिकी प्रधानता और पितरोंमें अधिभूतशक्तिकी प्रधानता रहती है। नित्य पितरोंके एकत्रिंशत् गण और चार वर्णके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मार्कण्डेय पुराण ९६ अ० में—

विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः।
भूतिदो भूतिकृत् भूतिः पितॄणां ये गणा नव॥
कल्याणः कल्याणकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः।
कल्यताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा।
विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः॥
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः।
गणाः पञ्च तथैवैते पितॄणां पापनाशनाः॥
सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः।
पितॄणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम्॥
एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम्॥

विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति नामक पितरोंके नवविध गण, कल्याण, कल्याणकर्त्ता, कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अनघ नामक पितरोंके षड्विध गण, वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता नामके पितरोंके सप्तविध गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान् और महाबल नामक पितरोंके पञ्चविध गण और सुखद, धनद, धर्मद तथा भूतिद नामक पितरोंके चतुर्विध गण यही एकत्रिंशत्

पितृगण, जो जगत्‌में व्याप्त हैं, तृप्त होकर सबका कल्याण करें। पितरोंके चार वर्णोंके विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें लिखा हैः—

"सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः॥

सोमपा नामक पितृगण ब्राह्मणजातीय हैं, हविर्भुक् नामक पितृगण क्षत्रियजातीय हैं, आज्यप नामक पितृगण वैश्यजातीय हैं और सुरकालीन नामक पितृगण शूद्रजातीय हैं।

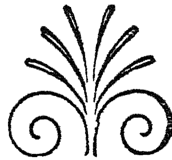
पितरोंका कार्य्य जिस प्रकार आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षा आदिके सम्बन्धसे माना गया है उसी प्रकार ज्ञानमयी सृष्टिके संरक्षणका पूर्ण भार ऋषियोंपर रक्खा गया है। नित्य पितरों और नित्य देवताओंके सदृश नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत ही रहता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि मन्वन्तर और कल्पादिके भेदसे जिस प्रकार अनेक पितर और अनेक देवताके पदधारी व्यक्तियोंका परिवर्तन होता है उसी प्रकार ऋषियोंके पद-धारी व्यक्तियोंका भी परिवर्तन यथानियम हुआ करता है। कार्य्यशैलीके विचारसे इतनी अवश्य जानने योग्य है कि पितरोंके अवतार नहीं होते। जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य सुसम्पन्न करना होता है, तो मातापिताके शरीरमें आविर्भूत होकर उन्हींको अपना अवतार बनाकर पितृगण अपना विशेष कार्य सुसम्पन्न करते हैं। परन्तु भगवदवतारकी नाईं देव-ताओं और ऋषियोंके सब प्रकारके अवतार हुआ करते हैं। ऋषियोंके विभाग सात प्रकारके हैं। यथाः—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि और काण्डर्षि। व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि हैं, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें पृथक् पृथक् सप्तर्षि होते हैं। यथाः—स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। स्वारोचिष मन्वन्तरमें ऊर्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और चार्व-वीर। उत्तम मन्वन्तरमें—प्रमदादि सप्त वशिष्ठके पुत्रगण। तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, बलक और पीवर। रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और वशिष्ठ। चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान् उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु।

वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें—अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज और कश्यप। सावर्णिक मन्वन्तरमें-गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यशृंग और व्यास। दक्षसावर्णिक मन्वन्तरमें—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन। ब्रह्मसावर्णिक मन्वन्तरमें—आप, भूति, हविष्मान्, सुकृती, सत्य, नाभाग और अप्रतिम। धर्मसावर्णिक मन्वन्तरमें—हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋष्टि, आरुणि, निश्चर, अनघ और विष्टि। रुद्रसावर्णिक मन्वन्तरमें-द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति। देवसावर्णिक मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकर्म्प्य। इन्द्रसावर्णिक मन्वन्तरमें—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित। ये सब नित्य ऋषिगण हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा इस संसारके नैमित्तिक ऋषिगण इन्हीं ऋषियोंके अवताररूपसे समझे जा सकते हैं। यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमेंः—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"

उन्नत अवनत अधिकारमें ऋषियोंकी मन्त्रदृष्टि होती है। इसी दृष्टिके बलसे ऋषिगण युग युगमें वेदमन्त्रोंको प्रकट करते हैं। प्रेत तथा पितरोंके विषयमें 'परलोकतत्त्व' नामक अध्यायमें पुनः कहा जायगा।

इति श्रीधर्मसुधाकरे एकादशकिरणः।



द्वादश किरण।



मूर्त्तिपूजारहस्य।

मूर्त्तिपूजाके हेतु तथा अधिकार विचार

उपासनाविज्ञान नामक प्रबन्धमें पहिले ही कहा गया है कि अभावकी पूर्तिके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। हम लोग अपने ही दोषसे नित्य नवीन अभावोंकी सृष्टि करते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है—

देहाद्‌ बहिर्गतो वायुः स्वभावाद्‌ द्वादशाङ्गुलिः।
गायने षोड़शाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोधिकम्॥
आयुक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समाचरेत्॥

मनुष्योंका स्वाभाविक श्वास १२ अंगुल है। जिसके हिसाबसे दिनरात भरमें २१६०० वार श्वास चलता है। श्वासके साथ प्राणका सम्बन्ध रहनेसे श्वासका परिमाण जितना घटता है आयु उतनी बढ़ती है और श्वासका परिमाण जितना अधिक होता है आयु उतनी घटती है। प्राणायामादि द्वारा कुम्भक अभ्यास करनेसे श्वास घटता है, १२ अंगुलसे ११, १०, ६,८ इत्यादि हो जाता है, जिससे योगीकी आयु तथा शक्ति बढ़ती है। किन्तु शरीरमें किसी प्रकारका वेग उत्पन्न होते ही श्वासका परिमाण बढ़ जाता है। इसी कारण काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वृत्तियोंके वशीभूत स्त्री पुरुष रोगी तथा अल्पायु होते हैं। हम लोग वृत्तियोंके वशमें होकर रातदिन इस तरह आयु तथा शक्तिको खोते हैं, किंतु इसकी पुष्टि तथा पुनः प्राप्तिका भी क्या कोई उपाय है? इसी उपायके खोजमें ही मूर्त्तिपूजाका रहस्य है।

केनोपनिषद्में एक मन्त्र आता है यथा—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

मनुष्य जन्म पाकर यदि परमात्माकी उपलब्धि हुई तभी जन्म सार्थक हुआ, नहीं तो सभी कुछ नष्ट हुआ जानना चाहिये, इसलिये धीर पुरुषगण साधना द्वारा सकल भूतोंमें ब्रह्मका अनुभव करके अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने भी कहा है—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्तैर्न यतेत मूढ़धीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

नीचेकी अनेक योनियोंमें घूमनेके बाद दुर्लभ मनुष्य जन्म हुआ, पुरुष-योनिमें भी जन्म मिला, शास्त्रमें भी प्रवेशलाभ हुआ, फिर भी जो मन्दमति जीव मोक्षलाभके लिये, परमात्माके साक्षात्कारके लिये यत्न नहीं करता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है। इसी आत्महत्यारूपी महापापसे जीवको बचाकर परमानन्दमय अमृतपदका आस्वादन करानेके लिये मूर्त्तिपूजा ही प्रथम सोपानरूप है। अज्ञानीजीवको ज्ञानकी पिपासा स्वाभाविक है, दुर्बल जीवको बलीयान् बननेकी लालसा स्वाभाविक है, दुःखी जीवको सुखकी लालसा स्वाभाविक है, अल्पायु जीवको चिरायुः बननेकी इच्छा स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार अग्निके समीप जानेसे शरीरमें स्वभावतः ही उत्तापका सञ्चार होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप, आनन्दरूप, सर्वशक्तिमान्, चिर अमर परमात्माके समीपस्थ होकर ज्ञान-सुख-शक्ति-शान्ति तथा चिर अमरता लाभ करके मनुष्यजन्मको सार्थक करनेके लिये ही मूर्त्तिपूजाका विधान किया गया है। श्रीभगवान् मनुने कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥ (मनु. द्वि. अ. १२१)

वृद्धों तथा पूज्योंके चरण स्पर्श तथा नित्य प्रणाम सेवा करने-वालोंमें उनकी चार शक्ति-आयु-विद्या-यश-बलकी प्रवेश करती है। जब लौकिक गुरुओंकी पूजा करनेसे आयु, ज्ञान, यश, बल मिलते हैं तो जगद्गुरु

परमात्माकी पूजा करनेसे ये शक्तियां अवश्य ही प्राप्त होंगी और भक्त भगवान्‌की पूजा करके आनन्दमय मोक्षलाभ अनायास ही कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

किन्तु परमात्मा दीखते नहीं, बहुत दूर हैं, प्रकृतिसे परे हैं, उनके पास एकाएक कैसे जाया जाय, उपासना किस तरह की जाय, ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें ही श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको गीताके द्वादशाध्यायमें साकार निराकार उपासनाका रहस्य बताया था, यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे भक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

जे लोग मेरी साकार मूर्त्तिमें मन बांधकर एकान्तरति हो प्रेम भक्तिके साथ पूजा करते हैं वे मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं। मन, वचन, बुद्धि तथा प्रकृतिसे परे, सर्वव्यापी, अक्षर, निर्गुण, निराकार परमात्माकी जो उपासना करता है, वह तभी उनको पा सकता है, जबकि उसकी समस्त इन्द्रियां पूरे वशमें आ जायं, सर्वत्र समबुद्धि प्राप्त हो और सकल जीवोंके हितमें चित्त मग्न हो जाय। इतना होने पर भी निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है। क्योंकि 'मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियां' इस प्रकार देहके प्रति अभिमानसे युक्त जीव निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही दुःखसे कर सकता है। श्रीभगवान्‌के इन वचनोंसे निश्चय होता है कि जबतक इन्द्रियां पूरी वशमें न आ जायं और देहाभिमान नष्ट होकर पूर्ण वैराग्यकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक निराकारकी उपासना असम्भव है। इसी कारण मध्यम अधिकारीकी सुविधाके लिये महर्षियोंने साकार मूर्त्तिपूजा बताई है। जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य सूर्यका अधिक उत्ताप लेना चाहे तो उसके लिये कर्त्तव्य होगा कि दोनों हाथोंमें पंख बांध कर

सूर्यके समीप उड़ कर जानेकी कोशिश करे और यदि इतनी सामर्थ्य न हो तो सीधा उपाय यह है कि एक आतसी सीसा (medium) लेकर सूर्यके सामने धरे और जहां उसका उत्ताप केन्द्रीभूत (focus) हो वहांसे उत्तापको लेवे, ठीक उसी प्रकार जिस साधकमें ज्ञान और वैराग्यका पंख जम गया है वही सीधा निराकारके पास उड़कर जा सकता है। नहीं तो मूर्त्तिरूपी केन्द्र या आश्रय (medium) के द्वारा ही परमात्माकी शक्तिको प्रकट करके उपासना करना ही युक्तियुक्त होगा। यही मध्यम अधिकारीके लिये मूर्त्तिपूजा बतानेका हेतु है।

पूजा किसकी होती है ?

मूर्ति तो पत्थर, लकड़ी, लोहे आदिकी होती है। उसकी पूजासे भगवान्‌की पूजा कैसे होगी? यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हम मूर्ति 'की' पूजा नहीं करते हैं किन्तु मूर्ति 'में' पूजा करते हैं। हम प्रतिमाके मसाले पत्थर, लकड़ी आदिकी पूजा या स्तुति नहीं करते हैं, किन्तु इन मसालोंसे प्रतिमा बनाकर उसमें परमात्माकी शक्तिको प्रकट कर उस दिव्य शक्तिकी पूजा स्तुति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आठ प्रकारकी प्रतिमा बताई गई है, यथा—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

पत्थरकी प्रतिमा, काष्ठनिर्मीत प्रतिमा, लोहेकी प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, चित्राङ्कित प्रतिमा, बालुकी प्रतिमा, मानसी प्रतिमा और मणिकी प्रतिमा—ये आठ प्रकारकी प्रतिमाएं हैं। इनमें वैदिक प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियासे परमात्माकी शक्ति आकर्षित की जाती है। कापिल तन्त्रमें लिखा है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद्‌ यथा।
तथा सर्वागतो देवः प्रतिमादिषु राजते।

जिस प्रकार गऊ माताके समस्त शरीरमें उत्पन्न हुआ दूध स्तनके द्वारा निकलता है, उसी प्रकार परमात्माकी सर्व व्यापक शक्ति प्रतिमामें अधिष्ठान करती है। यह शक्ति आती किस विधिसे है इस विषयमें लिखा है—

आभिरूप्याच्च विम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासाद्‌ देवतासन्निधिर्भवेत्॥

प्रतिमा ध्यानानुसार सुन्दर तथा ठीक ठीक बननेसे, प्राणप्रतिष्ठा और पूजा विशेषरूपसे होनेसे तथा भक्तोंमें श्रद्धा विश्वास पूरा पूरा होनेसे प्रतिमामें दिव्यशक्ति आ जाती है। प्रह्लादमें विश्वास और भक्तिकी शक्ति थी इसीसे उन्होंने भगवान्‌की दिव्य शक्तिको नृसिंहरूपसे स्तम्भके द्वारा प्रकट करा दिया था। भगीरथमें तपस्याकी शक्ति थी, तभी उन्होंने स्वर्गसे गङ्गादेवीको दिव्य शक्तिको मृत्युलोकमें आकर्षण किया था। इसी प्रकार पूजाकी शक्ति, भक्तोंको विश्वास-भक्तिरूपी विषम (negative) शक्ति भगवान्‌की सम (positive) शक्तिका प्रतिमारूपी आधार (medium) द्वारा आकर्षण करती है। negative positive का इस प्रकार परस्पर आकर्षण सायन्समें प्रसिद्ध है। इस प्रकार ठीक ठीक आकर्षण होनेपर प्रतिमा चमकने लगती है और उसमें अनेक चमत्कार भी देखनेमें आते हैं, यथा—सामवेदके ३६वें ब्राह्मणमें लिखा है—

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति।

देवताओंके स्थान कांपते है, देव प्रतिमा हंसती है, रोती है, नाचती है, किसी अङ्गमें स्फुटित हो जाती है, पसिजती है, नेत्र खोलती है, बन्द करती है। और भी अथर्ववेदमें— (२—१३—४)

एहि अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनु।

हे भगवन्! आओ इस पाषाण-निर्मित प्रतिमामें अधिष्ठान करो, तुम्हारा शरीर यह पाषाणमयी प्रतिमा हो जाय।

इन सब प्रमाण तथा विचारोंसे सिद्ध हुआ कि हम लोग मूर्तिकी पूजा नहीं करते हैं, हम 'बुद्‌परस्त' नहीं हैं, किन्तु मूर्तिमें भगवान्‌की दिव्य शक्तिको प्राण प्रतिष्ठा द्वारा आकर्षित करके उस शक्तिकी पूजा करते हैं और इस प्रकार मूर्तिरूपी आधारके द्वारा परमात्माके समीप पहुंचनेपर हमें आयु, ज्ञान, विद्या शक्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष मिलता है।

प्राणप्रतिष्ठाके प्रमाणमें 'आभिरूप्याच्च विम्बस्य' यह जो शब्द कहा गया है इसका भावार्थ विचार करने योग्य है। इसका भावार्थ यह है कि

मूर्त्ति विज्ञान।

प्रतिमा यदि सुन्दर तथा ध्यानके अनुसार हो तभी उसमें प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा भगवान्‌की शक्ति आती है। विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा आदिके जो कुछ ध्यान शास्त्रमें मिलते हैं वे किसीकी कपोलकल्पना

नहीं हैं, किन्तु प्रकृतिके साथ उन देवताओंका जिस प्रकार सम्बन्ध है उसीके अनुसार ही उनके ध्यानानुकूल मूर्त्तियां बनाई जाती हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी जो मूर्त्तियां बनाई जाती हैं वे उनके सृष्टि स्थिति प्रलय कार्यके अनुसार ही हैं। ईश्वर प्रकृतिके रजोगुणके साथ मिलकर ब्रह्मारूपसे संसारकी सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणके साथ मिलकर विष्णुरूपसे संसारकी स्थिति करते हैं और तमोगुणके साथ मिलकर रुद्ररूपसे संसारका प्रलय करते हैं। इन्हीं क्रियाओंके अनुसार ही ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी मूर्त्तियां बनी हुई हैं। सृष्टि रजोगुणसे होती है, रजोगुणका रङ्ग लाल है इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग भी लाल है। सृष्टि अन्तःकरणकी शक्तिसे होती है, अन्तःकरणके मन बुद्धि चित्त अहङ्कार ये चार अङ्ग हैं, इसी लिये ब्रह्माजीके भी चार मुख हैं। बिना ज्ञानकी सहायतासे कर्म ठीक ठीक नहीं हो सकता है, कर्ममें गलती हो सकती है, इस कारण ज्ञानशक्तिरूपिणी सरस्वतीको हृदयमें धारण करके तथा ज्ञानके सूचक बाहनरूपी हंसकी सहायतासे ब्रह्माजीने सृष्टि की। यही हंसवाहन तथा सरस्वती देवीके साथ उनके सम्बन्ध बतानेका हेतु है। सृष्टि कार्यमें नाभि मुख्य स्थान है; नाभिके बलसे ही सृष्टि होती है इसलिये परमात्माकी नाभिसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी मूर्त्ति उनकी क्रियाके अनुसार बनाई जाती है। विष्णु स्थितिके देवता और रुद्र लयके देवता हैं। स्थिति विश्वकी यौवन दशा और लय वृद्ध दशा है। इस कारण विष्णु मूर्त्ति यौवनमयी तथा महेशमूर्त्ति वृद्ध बनाई जाती है। जो समस्त संसारको नष्ट करके श्मशान बनाते हैं उनका निवास घरमें न होकर श्मशानमें ही होना चाहिये, इस कारण शिव श्मशानवासी हैं। जीव तथा संसार प्रलयमें जलकर भस्म हो जाता है। इस कारण शिवजीके बदनमें भस्म लिपा हुआ है। शिव नाशकर्त्ता हैं इस कारण नाशकारी कालसर्प उनका भूषण है। चाहे कोई कितना ही बलवान हो काल सभीका बध करता है, इस कारण सबसे बलवान् जन्तु शेरका भी खाल खींचकर शिवजी पहने हुए हैं। अन्य-पक्षमें स्थितिके देवता विष्णु पर्यङ्कपर लेटे हुए हैं, लक्ष्मी उनकी पदसेवा कर रही हैं, उनके सारे शरीरमें रत्नमय अलङ्कार हैं, वे सब स्थिति दशाकी शोभाके ही सूचक हैं। उनके चार हाथमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रदानके लिये शंख चक्र गदा और पद्म हैं। चक्रयुक्त हाथ धर्मका, गदायुक्त हाथ

अर्थका, पद्मयुक्त हाथ कामका और शंखयुक्त हाथ मोक्षका सूचक है। उनके गलेमें माला इस लिये है कि—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता)

जिस प्रकार एक ही सूत्रमें मालाके सब दाने रहते हैं, उसी प्रकार अद्वितीय भगवान् विष्णु सूत्ररूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं और प्राकृतिक जीव उन्हींके ऊपर गूंथे हुए हैं। यही सब ध्यानानुसार विष्णुमूर्त्ति और शिवमूर्त्तिका तात्पर्य है। इसी प्रकार दुर्गामूर्त्तिमें भी अपूर्व भाव भरा हुआ है। दुर्गा परमात्माकी शक्ति है। परमात्मा सर्वव्यापक है इस कारण उनकी महाशक्ति भी दशोदिशामें व्याप्त हैं। इसीको सूचित करनेके लिये देवीके दस हाथ हैं। शक्ति धन, बल, विद्या और बुद्धि इन चार वस्तुओंके बिना पूर्ण नहीं होती है, इस कारण महाशक्तिके एक ओर धनकी देवी लक्ष्मी और बलके देवता कार्त्तिकेय और दूसरी ओर विद्याकी देवी सरस्वती तथा बुद्धिके देवता गणपति स्थित हैं। इस प्रकार पूर्णशक्तिसे सम्पन्न होकर ही देवी महिषासुरको मार रही हैं। महिषासुर तमोगुणका रूप है, तमोगुण रजोगुणके द्वारा ही दबाया जाता है। इस कारण रजोगुणरूपी सिंहके द्वारा महिषासुरको दबाकर सत्त्वगुणमयी देवी उसे मार रही हैं। यही देवी मूर्त्तिका भाव है। गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता हैं इस कारण गजेन्द्रबदन हैं। क्योंकि पशुओंमें हाथी ही सबसे बुद्धिमान् होता है और उसी पशुराज्यके साथ गणेशका अधिदैव सम्बन्ध है। गणेश सुबुद्धिके देवता हैं, मूषिक कुतर्कका रूप है। क्योंकि जिस प्रकार विषयकी मर्यादा न समझकर केवल उसे काट देना ही कुतर्कका लक्षण है, ठीक उसी प्रकार मूषिक भी अच्छे अच्छे वस्त्रोंको काट देता है, सुबुद्धि इस कुतर्कको दबा रखती है, इस कारण सुबुद्धिके अधिष्ठाता गणेशने कुतर्करूपी मूषिकको वाहनरूपसे दबा रक्खा है। सुबुद्धि जितनी बढ़ती है, कुतर्क उतना ही घटता है। यही कारण है कि गणेशजी उतने मोटे और चूहे इतने छोटे हैं।

ऊपरके इन वर्णनोंसे स्पष्ट प्रमाणित हो गया कि हिन्दू 'बुत् परस्त' नहीं हैं। हम केवल भाव और शक्तिके उपासक हैं, प्रतिमा भावका image है, idol नहीं है और शक्तिका आधार है उसी image के जरियेसे हम भाव तथा

शक्तिकी साधना करते हैं। साधनकी सिद्धिमें भावके अनुसार रूपका दर्शन होता है और शक्तिकी प्राप्ति होती है जैसा कि ध्रुव प्रह्लाद आदिको हुआ था। यथा योगदर्शनमें—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'

मन्त्रजपसे इष्टदेवताका दर्शन होता है। और भी सामवेदमें—

'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां। धिया विप्रः अजायत।

पर्वत प्रान्त या नदी सङ्गमपर स्तुति करनेसे इन्द्रदेवका दर्शन मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

हे भगवन्! भाव तथा भक्तिके साथ उपासना करनेपर तुम उपासकके दर्शनपथमें आते हो और जिस भावमयी मूर्तिकी भक्त उपासना करता है उसी मूर्त्तिसे दर्शन देते हो। इस प्रकारसे इष्टदेवकी मधुर मूर्त्तिका दर्शन होने पर साधकका चित्त और भी आनन्दित तथा गद्गद हो जाता है। उस समय उसके चित्तसे विषयवासना एकबार ही नष्ट हो जाती है, वह प्राणमनके साथ उसी रूपमें तन्मय होकर अन्तमें भावसमाधि लाभ करता है। यही मूर्त्तिपूजाका परमलक्ष्य है। भावसमाधिके बाद निराकार निर्गुण ब्रह्मकी पूजा उसी साधकसे अच्छी तरह बन पड़ती है क्योंकि भगवान्के रूपमें समाधि होनेपर वह पुनः संसारके रूपमें नहीं फंसता है, उसका वैराग्य-युक्तचित्त अतिसूक्ष्म निर्गुण ब्रह्मकी साधनामें समर्थ हो जाता है और इसी साधनामें सिद्धिलाभ करनेपर उसको मोक्ष मिल जाता है।

शास्त्रमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी पञ्चोपासना बताई गई है यथा—विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश, ये पांच मूर्त्ति ही ईश्वरकी मूर्त्ति हैं। इनको देवता नहीं समझना चाहिये। क्योंकि पञ्चोपासनामें इनका ध्यान ईश्वररूपसे ही होता है। ईश्वर एक होनेपर भी उनकी पांच मूर्त्तियां क्यों बनाई जाती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वोंसे मनुष्योंका शरीर बनता है, इनमेंसे जिसके भीतर जो तत्त्व प्रबल रहता

है उसीके अनुसार पांचमेंसे किसी एक मूर्त्तिमें उसकी स्वाभाविक रुचि होती है। यथा कापिल तन्त्रमें—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

आकाशतत्त्वके साथ विष्णुका, अग्नितत्त्वके साथ महाशक्तिका, वायुतत्त्वके साथ सूर्य भगवान्का, पृथिवीतत्त्वके साथ शिवका और जलतत्त्वके साथ गणपति भगवान्का सम्बन्ध है। जिसके शरीरमें आकाश तत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावसे ही विष्णु या कृष्णकी ओर होती है, जिसके शरीरमें अग्नितत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावतः दुर्गा, काली आदिपर होती है इत्यादि इत्यादि। जिस मूर्त्तिमें जिसकी स्वाभाविक रुचि है उससे उसीकी उपासना बताना युक्तियुक्त है, जो सद्गुरु शिष्यकी परीक्षाकर बता सकते हैं। यही कारण है कि प्रकृति-भेद तथा तत्त्व-भेदके अनुसार एक ही ईश्वरकी पांच मूर्त्तियोंमें उपासना होती है। ये पांच जब ईश्वरकी ही मूर्त्ति हैं तो शिव बड़े और विष्णु छोटे हैं, विष्णु बड़े और शक्ति छोटी हैं इस प्रकारसे साम्प्रदायिक लोग जो झगड़ा मचाया करते हैं सो केवल अज्ञानमूलक भ्रान्ति और पक्षपात मात्र है। ऐसा पक्षपात उपासनाजगत्में कभी नहीं होना चाहिये। इससे अपनी भी हानि है और समाजकी भी हानि है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपरलिखित तत्त्वको न जानकर उसपर अनेक कटाक्ष किये हैं; परन्तु वे सब कटाक्ष इतने हल्के और मूर्खतामूलक हैं कि उनपर विचार करना भी अपनेको हल्का बनाना है। इसलिये उन सब व्यर्थ कटाक्षकी बातोंको छोड़कर जो कि मूर्त्तिरहस्य जाननेपर खुद ही दूर हो जायंगी केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षोंपर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा—(१) मन्दिरमें व्यभिचार होता है इसलिये मूर्त्तिपूजा उठा देनी चाहिये (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको बचाया क्यों नहीं (३) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते। प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्न लिखित है। मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य, व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत

आक्षेपोंका उत्तर।

ही निन्दनीय है क्योंकि इसमें केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवी शक्तिका अवहेलन होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जैसा कि पहले कहा गया है जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म और तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं वहां पर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासनाका फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है जब उपासक और भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्त्तिपर एकाग्र (Concentrated) हो। श्रद्धा विश्वासकी सात्त्विक शक्ति ही श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्त्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है अतः जिस मंदिरके पुरोहित सदाचारी और भक्त होंगे, संयमशील तथा पूजापरायण और क्रियाकाण्डनिपुण होंगे और जिस मंदिर-स्थित मूर्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा और भक्ति होगी वहीं प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट होगी। अन्यथा यदि मंदिरके पुरोहित दुराचारी और अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागान, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा भक्ति ही नष्ट हो जाय तो उस मन्दिरकी प्रतिमामें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्वप्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी। अतः मन्दिरमें व्यभिचार, वेश्यानृत्य आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये। परन्तु इससे यह सिद्धांत नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय। किसीकी आंखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आंख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है किन्तु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके फोड़ेको आराम करदेना बुद्धिमत्ता होगी। इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता होगा तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, और वेश्यानाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करना ही धर्म होगा और मूर्त्ति और मन्दिरको तोड़ देना धर्म नहीं होगा। आजकल प्रायः देखा जाता है कि धनीलोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं कुछ भी इसकी खबर नहीं लेते, जिसका यह फल प्रायः होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मंदिरकी सम्पत्तियोंका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता रहता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मंदिर भ्रष्ट हो जाते हैं और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है इसलिये मन्दिरप्रतिष्ठाताको

चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका जीर्णोद्धार करें, योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खें, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक ठीक करें, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित-विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करें, दर्शक नर नारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवें ताकि सभ्यताविरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे—इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार और व्यवस्था करनेपर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे अतः अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं होता। उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्ति अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेसे पहले मूर्त्तिमें जो शक्ति आवाहन की जाती है उसकी प्रकृति कैसी है सो विचार करना चाहिये। संसारमें स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती हैं—एक स्वतः क्रियाशील और दूसरी परतःक्रियाशील। इन्हीं दो प्रकारकी शक्तिओंको पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्टिव (Active) और प्यासिव (Passive) शक्ति (energy) कहते हैं। स्वतःक्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परतःक्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा होने पर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्की जो दैवी-शक्ति समष्टिप्रकृतिकी आवश्यकता और प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है उसके स्वतःक्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमें धर्मसंस्थापन और अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं; परन्तु मूर्त्तिमें श्रद्धा क्रिया और मन्त्रद्वारा जो व्यापक दिव्य शक्ति प्रकट की जाती है जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है वह शक्ति स्वतः क्रियाशील नहीं होती है; परन्तु अग्निकी तरह परतःक्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहनेपर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नहीं करती है या किसीका अन्नपाक नहीं कर देती है; परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात् कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर

सकता है; ठीक उसी प्रकार मूर्तिमें जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नहीं करती है क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतारकी शक्तिकी तरह स्वतः क्रियाशीलता नहीं होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जानेपर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फलप्रदानमें मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयं चेष्टा कुछ भी नहीं रहती है; परन्तु उपासककी भावप्रेरणा ही उसमें एकमात्र कारण होती है। जहां मूर्तिमें बिराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नहीं है वहां उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे मुसलमान या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे, उस मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नहीं होगी क्योंकि इसपर चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालोंकी हृदयगत शक्तिके साथ मूर्त्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी अग्निमय गोलेको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि तोड़नेवाले या जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापीका आक्रमण होगा या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्त्तिमें विराजमान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्याचार करनेवाले दिव्यशक्तिकी अवहेला करके दैवजगत्‌में विप्लव उपस्थित करनेके कारण प्रत्यवायी होंगे। यही कारण है कि मूर्त्तिपर चूहे चढ़नेसे भी और मुसलमानोंका आक्रमण होनेपर भी उसमें दिव्यशक्ति स्वयं कूदकर आत्मरक्षा करने नहीं लग गई थी या विपक्षिओंसे लड़ने नहीं लग गई थी। अतः अर्वाचीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नहीं करना चाहिये; परन्तु मूर्त्तिपूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये। अर्वाचीन पुरुषोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्तिमें देवता आते तो मूर्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव होवे तो मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते? इसका उत्तर यह है कि पहले ही वेदप्रमाणके द्वारा बताया गया है कि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होनेपर उसमें चमत्कार देखा जाता है। यथा मूर्ति हंसती है रोती है इत्यादि; परन्तु मूर्त्तिमें आवाहन की हुई दैवी शक्ति

स्वतः क्रियाशील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य्य उसमें आ नहीं सकता है क्योंकि मनुष्यका शरीर प्रारब्ध कर्मके अनुसार जीवात्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा मानवीय कार्य होता है और मूर्त्तिमें केवल साधककी श्रद्धा पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आविर्भाव होनेके कारण और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नहीं हो सकता है। हाँ, जिस समय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्मसंस्कारको आश्रय करके अवतार या विभूतिरूपसे प्रकट होती है तब उसके द्वारा संसारमें अद्भुत कार्य होते हैं जो मनुष्यके द्वारा भी नहीं हो सकते हैं; अतः मूर्त्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्त्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्की अपूर्व लीलाओंके विषय और भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्त्तिके भक्तके साथ अनेक लीलाविलासके विषय पाये जाते हैं; परन्तु इसमें भक्तका भाव ही मुख्य रहता है और उसी भावके अनुसार ही इच्छारहित और स्वतःक्रियारहित भगवन्मूर्त्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमें यह वक्तव्य है कि इसमें आने जानेकी तो कोई बात ही नहीं है, केवल गोमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्‌शक्तिका मूर्त्तिरूपी जरिये (Medium) के द्वारा विकाश-मात्र है। इसमें कहींसे कहीं जानेका कोई प्रयोजन नहीं पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवान्की शक्तिको स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकार सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति यदि आतशी काचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेंसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्‌शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितने ही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो उससे न भगवान्की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देशकालवस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती हैं और सर्वव्यापी असीम वस्तुपर ये बातें नहीं घटती हैं। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। यद्यपि मनुष्य तभी मरता है जब जिस कर्म्मके अनु-

सार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्म्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है, अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है। इसलिये मृत पुत्रके शरीरमें पुनः उसके आत्माको बुलाना कर्म्म-विज्ञानसे बिरुद्ध और असम्भव है। हां यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकता है। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने अपने लोकलीलागुरु सान्दीपन मुनिके मृत-पुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्करा-चार्य्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इसी तरहसे जिला दिया था, अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृत-शरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने पीने और बोलने लगता है। अतः मूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये। प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठाके द्वारा दैवी शक्ति लानेकी महिमाके बिषयमें अथर्ववेदमें एक सुन्दर मन्त्र आता है, यथा —

"न घ्नंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आप-श्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।" (७-१९-२)

इसका अर्थ निम्नलिखित है-(यत्र) जहांपर (सोमः) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदा ही (भद्रं) कल्याण होता है। (घ्नंस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दुःखदायी उत्ताप नहीं देता है (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है (प्रनभताम्) हे सोम! तुम आसुरी शक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्त्तिव्यापिनी दैवीशक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरीशक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनु-सार प्रमाणित होता है। अतः ऊपर लिखित मूर्त्तिविज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्‌के अनन्तभावोंमेंसे कुछ भावोंको लेकर प्रकृति-

भेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये भावानुसार जो मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा वेदादि शास्त्रानुसार सिद्ध होती है उसके द्वारा समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्रयोगके सिद्धान्तवर्णन प्रसङ्गमें पहले ही कहा गया है कि समस्त संसार नाम तथा रूपमय होनेके कारण अविद्याग्रस्त जीव नाम और रूपके द्वारा

मन्त्र विज्ञान।

ही बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये जीवकी मुक्ति भी दिव्यनाम और दिव्यरूपकी सहायतासे होती है। दिव्यरूपकी सहायतासे किस प्रकारसे साधक भावसमाधि द्वारा उन्नत अधिकार लाभ करके मुक्त हो सकता है सो पहले ही वर्णित किया गया है। अब दिव्य नामकी सहायतासे मुक्तिका उपाय नीचे बताया जाता है।

शास्त्रमें मन्त्रको दिव्यनाम कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार प्रकृतिके दिव्यभावोंके अनुसार बनी हुई मूर्त्ति दिव्यरूप कहलाती है, उसी प्रकार मन्त्र भी प्रकृतिके दिव्यराज्यका स्पन्दनजनित शब्द होनेसे दिव्यनाम कहलाता है। अब नीचे आदिमन्त्र ओंकारसे लेकर प्रकृति स्पन्दन द्वारा समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति बताई जाती है। योगशास्त्रमें लिखा है—

कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम्
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥

जहां कुछ कार्य्य है वहां कम्पन अवश्य होगा, जहां कम्पन है वहां शब्द भी अवश्य होगा। सृष्टिक्रिया भी एक प्रकारका कार्य्य है इसलिये सृष्टि कार्य्यके समय प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है वही

मङ्गलकारी ओंकाररूप प्रणव है। सत्त्व रज तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्था होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोलकी ध्वनि ही ओंकार है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र हैं।

भगवान् पतञ्जलिने ओंकारको ईश्वरका वाचक कहा है, यथा-योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणव." "तज्जपस्तदर्थभावनम्"
"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ओंकार ईश्वरका वाचक है, ओंकारका जप तथा अर्थभावनाके द्वारा ईश्वरप्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुआ करता है।

जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्रीभगवान्का प्रिय नाम ओंकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ओंकार ही ईश्वरका मन्त्र है।

वर्त्तमान प्रबन्धका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्द राज्यमें ओंकारके साथ ईश्वरका और अन्यान्य मन्त्रोंके साथ अन्यान्य देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ओंकारके जपसे ईश्वर तथा अन्यान्य मन्त्रोंके जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं। यह बात वेदसम्मत है कि प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय हो रहती है। पुनः प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि "मैं एकसे बहुत हो जाऊं और संस्कारानुसार सृष्टि करूं" उस समय भगवान्में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण समावेशके अनुसार ब्रह्मा विष्णु-महेश्वर रूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके संकल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें जहां पर अभी तक सत्त्वरजस्त-मोगुणकी समता थी त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है। अतः उस समय परमात्माके सङ्कल्पके साथ साथ मूल प्रकृतिमें कम्पन होने लगता

है, जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहां कार्य होता है वहां कम्पन होता है और जहां कम्पन होता है वहां शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एकवार समस्त जल हिल उठता है और पश्चात् जलके भिन्न भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न भिन्न तरङ्ग उठते हैं उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है उसीका नाम ओंकार है। इस कारण अधिदैव जगत्में प्रथम शब्द होनेसे ओंकारके साथ ईश्वरका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। पहले कहा गया है कि सृष्टिके समय क्रम यह निश्चय हुआ--परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा—तदनन्तर त्रिगुण समतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्यजनित गुणस्पन्दन तथा ओंकार नादका प्रकाश, अतः ओंकारके साथ परमात्माका साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ओंकार उनका नाम ही है; क्योंकि गुणातीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमें जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरभाव कहाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृतिके प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका सम्बन्ध है वे बीजमन्त्र हैं। यही ओंकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेवसम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है। जब प्रकृति सृष्टि अभिमुखीन हो ही गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा; क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है, अतः आधिभौतिक राज्यमें गुणस्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाशसे जड़चेतनात्मक जगत्की सृष्टि होगी और शब्दराज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनोंके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। यही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीजमन्त्र और उसके बादके परिणाममें देवनागरी वर्णमाला और नाना भाषाके शब्द हैं। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ओं बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्ट बीजमन्त्रकी उत्पत्ति हुई। गीतामें लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, परमात्माकी मायाशक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानुसार अष्ट बीजमन्त्र हैं और तदनन्तर प्रकृतिके भिन्न भिन्न अङ्गमें अनेक स्पन्दन और तदनुसार अनेक मन्त्र होते हैं और इससे यह भी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होनेसे ओंकार उनका मन्त्र हैं, उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पनसे जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रह· नेसे उस देवता या देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होंगे। महर्षिगणने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें संयम करके तत्तद्विभागोंपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्ति बताई है उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दोंको भी संयमद्वारा सुनकर तत्तद्देवताओंके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है उसीके ही परिणामरूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा सिद्धान्त ऊपरलिखित शब्दोत्पत्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है। इसलिये प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्यान्य समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है और संसारके जितने शब्द और वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकाररूपी महा· शब्दके विकारसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा।

इस प्रकारसे ॐसे लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टिप्रकृतिमें होती है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमें और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृतिमें होता है और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है। इसलिये इसके नादका प्रति· बिम्ब उसमें और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमें आ गिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तर पर चित्तको संयत करता है उसीमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्था पर पहुंचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके प्रथम नाद ॐकारको सुन सकेंगे। वह नाद

मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकल कर सहस्रारमें जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिको पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस जिस स्तरपर संयम करेंगे उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका सम-सम्बन्ध है उस स्तरके नादका प्रतिविम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसार ही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न भिन्न देवताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह और संस्कृत वर्णमालाओंका आविष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणवमन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्टप्रकृतिका कम्पन हुआ है उससे प्रधान अष्ट बीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमें, यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥

बीजमन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ हैं, यथा—गुरुबीज, शक्तिबीज, रमाबीज, कामबीज, योगबीज, तेजबीज, शान्तिबीज और रक्षाबीज। क, ल, ई और मकारसे कामबीजका अनुभव होता है। क, र, ई और मकारसे योगबीजका अनुभव होता है। अ ए और मकारसे गुरुबीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार और मकारसे शक्तिबीजका अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार और मकारसे रमाबीजका अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार, और मकारसे तेजबीजका अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकारसे शान्तिबीजका अनुभव होता है और हकार, लकार, ईकार और मकारसे रक्षाबीजका अनुभव होता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा।
याभिराविर्भवेदिदं कार्यब्रह्म सनातनम्॥
तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः॥

जिस प्रकार कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ बीज आठ प्रकृति हैं। येही प्रधान बीज कहाते हैं। ये सब प्रकारकी उपासनामें कल्याणकारी हैं। शास्त्रान्तरमें इनके नामभेद भी पाये जाते हैं। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते हैं जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट हैं।

मन्त्रशक्तिनिर्णय।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति बताई गई है, जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत और अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यथा-योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्ध्या तपःसिद्ध्या हठान्वितः।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम्॥

मंत्रयोगी मंत्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐशी विभूतियोंको लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधन द्वारा देव देवीगण स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्रयोगमें सिद्धिप्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ हो जाते हैं। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा लिखा है, यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है और तपस्या और समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवान्की शक्तिस्वरूपिणी होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है उससे अनेकगुण शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमें विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहां पर नहीं जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमें ही वहांपर चला जा सकता है। इस तरह

अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमें जो शक्ति है, जलके सूक्ष्म परिणामरूप बाष्प तथा बाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है जो बिजलीके रूपसे मेघमालामें विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते हैं और केवल मनुष्य ही नहीं राग रागिनीके साथ उसे प्रयोग करनेपर क्रूर सर्प और मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते हैं, तो प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है; क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्रसमूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमें अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृतिमाताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डप्रकृतिको कंपा कर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमें समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है; उसी प्रकार अन्यान्य जो यन्त्र प्रकृतिके जिस विभागको कँपाकर उत्पन्न होता है, उस मन्त्रमें प्रकृतिके उस सूक्ष्म विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्म राज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वेही उक्त राज्यसम्बन्धीय शक्तिके अधिनायक हैं; क्योंकि विना दैव सम्बन्धके शक्तिका प्रयोग नहीं हो सकता है। पहले अध्यायोंमें सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवी सहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उत्पत्ति तथा कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मन्त्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् सम्बन्ध है तो मन्त्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतः सिद्ध है। यही मन्त्रोंसे शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है। जिन अक्षरोंके परस्पर समन्वयसे मन्त्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंको विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे बिजलीकी शक्ति प्रकाश होती है उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनेके द्वारा अद्भुत दैवी-शक्ति मन्त्रमें प्रकाशित हो जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार शब्द-प्रयोक्ताकी प्राणशक्ति और हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, उसी प्रकार साधकके अन्तःकरणकी शुद्धशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्तिके द्वारा मन्त्र प्रयुक्त होनेपर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है जिससे वह मन्त्र चाहे जहांपर प्रयोग किया जाय ईप्सित फल प्रदान किये विना नहीं रहता

है; परन्तु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होनेपर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक ठीक उच्चारित न होनेपर तथा मन्त्रप्रयोगकर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति और हार्दिकशक्तिकी हीनता होनेपर यथार्थ फलको नहीं दे सकता है। उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो तो अवश्य ही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थलपर मन्त्र ठीक फल नहीं देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष ही कारण है। जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन किया है वह अवश्य ही मन्त्रशक्तिको अपने अनुकूल करके संसारमें असाधारण दैवी शक्तियोंको प्राप्त करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा। शास्त्रवर्णित सभी सिद्धियां इस तरहसे प्राप्त होती हैं। मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकारसे मन्त्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है और आसुर प्रकृतिपर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते हैं। यथा अथर्ववेद भूतयोनि सूक्त। ८।६ में—

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मागृधदलिंश उत वत्सपः॥

हे बधु! तेरे जन्मसमयमें तेरी माताने जिन दुर्नाम अलिंश वत्सप नामक भूतोंको मन्त्रमार्जनसे भगाया था वे इस गर्भावस्थामें तेरे पास न आवे। सीमन्तोन्नयनमें इस मन्त्रका प्रयोग होता है। इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्रसिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती जैसा कि आर्यशास्त्रमें वर्णित किया गया है। रामायण और महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि अस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है सो इसी प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह है। मन्त्रसमूहको चैतन्य करके अपनी प्राणशक्तिके साथ शत्रुपर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति और मन्त्रशक्तिसे पूर्ण

अस्त्रसमूह लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी संदेह नहीं है। कोई कोई अर्वाचीन पुरुष अस्त्रसिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते हैं कि जब मन्त्रमें शक्ति है तो उच्चारण करनेवालोंकी जिह्वा क्यों नहीं जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलापपर धन्यवाद है!! सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सूर्य्यकिरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहाँ तहाँ वह शक्ति दग्ध नहीं कर सकती है परन्तु आतसी काँचके द्वारा आकृष्ट होकर जहां पर वह शक्ति केन्द्रीभूत (focus) की जाती है वहाँ पर ही वस्तुको दग्ध करती है, उसी प्रकार मन्त्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मन्त्रमें साधारणरूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अन्तःकरणकी एकाग्रता और प्राणशक्तिके द्वारा वह मन्त्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है वहीं जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना, आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (focus) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकतो है। जिस साधकके अन्तःकरणमें भावशक्ति तथा प्राणशक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मन्त्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग, मन्त्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभगवान् तककी भी प्रसन्नता प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

मन्त्रयोगमें जो नाम तथा रूपके द्वारा साधनाकी विधि बताई गई है उसमेंसे दिव्यनाम अर्थात् मन्त्रके द्वारा ऊपर लिखित उपायसे इष्टदेवकी साधना हुआ करती है। इष्टदेवको लक्ष्य करके इष्टदेवमन्त्रका जप तथा उसकी अर्थभावना करते करते साधक जिस प्रकृतिके साथ इष्टदेव तथा मन्त्रका सम्बन्ध है उसमें अपनी चित्तवृत्तिको विलीन कर सकते हैं। जिस प्रकार रूपके अवलम्बनसे भावमें और भाव द्वारा भावग्राही भगवान्में आत्मा विलीन होता है उसी प्रकार मन्त्रसाधन द्वारा मन्त्रमूलक प्रकृति और उस प्रकृतिके अधिनायक इष्टदेवतामें आत्मा विलीन होता है। इस प्रकारसे व्यापक प्रकृतिके साथ मन्त्रके द्वारा जितनी अपने आत्माकी एकता होती है उतनी ही व्यापक प्रकृतिकी शक्तिको साधक प्राप्त कर सकता है और अन्तमें मन्त्र और देवताका भेद भूलकर दैवी प्रकृतिमें विराजमान इष्टदेवतामें साधकका आत्मा लवलीन हो भाव समाधिको प्राप्त करता है। जिस नाम तथा रूपके अवलम्बनसे जीव संसारमें बद्ध हो गया था उसी नाम तथा रूपका दिव्यभावके सा

आश्रय करके जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। नामरूपमय मन्त्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार तथा निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है जिसके गुरुमार्गप्रदर्शित नियमित षोडशाङ्गके साधनद्वारा अन्तमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अन्तिम फल है।

मूर्त्तिविषयक वैदिक प्रमाण।

वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंमें मूर्त्तिपूजाके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनपर विचार करनेसे साकार मूर्त्तिके ऊपर किये हुए अर्वाचीन पुरुषोंके सभी कटाक्ष व्यर्थ जान पड़ते हैं। अब नीचे उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद्के चतुर्थ अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें लिखा है:—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचैवामूर्त्तंश्च, मर्त्यंचामृतं च, स्थितं च यत् च।

ब्रह्मके दो रूप हैं—एक मूर्त्त दूसरा अमूर्त्त, एक मर्त्य दूसरा अमृत, एक स्थिर दूसरा सचल।

उभयं वा एतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्व यद्व यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तुष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोतीति ब्राह्मणम्।

शतपथ का० १४, अ० १, ब्रा० २, मं० १८,

परमेश्वर दो प्रकारका है, परिमित और अपरिमित, निरुक्त और अनिरुक्त, इस कारण जो यज्ञ उपासनादि कर्म यजुर्वेदके मन्त्रोंसे करता है, उसके द्वारा परमेश्वरके उस रूपका संस्कार करता है, जो निरुक्त और परिमित है और जो तुष्णी अर्थात् सूक्ष्मचिन्तापरायण है, वह उससे परमेश्वरके उस रूपका संस्कार करता है, जो अनिरुक्त और अपरिमित है। इस मन्त्रसे परमात्माके साकार निराकार दोनों रूप सिद्ध होते हैं। केनोपनिषद्के तृतीय खण्डमें लिखा है—

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच'

इत्यादि।

देवराज इन्द्रने आकाशमें परमशोभामयी सुवर्णाङ्गी जगन्माता उमाको

देखा और उनसे बात किया। इस मन्त्रसे देवी दुर्गाका साकाररूपमें दर्शन देना सिद्ध होता है।

कैवल्योपनिषद्के ७ वें मन्त्रमें लिखा है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

देवी उमाके पति, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्तमूर्त्ति परमेश्वर प्रभु शिवका ध्यान करते करते मुनि मायासे परे परमात्मापदको पा लेते हैं। इसमें हरपार्वतीका सम्बन्ध तथा महादेवका साकाररूप बताया गया है। ऋग्वेदके ८।८।१३।३ में मन्त्र है, यथा—

अदो यद्दारुः प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।

तदारभस्व दुर्हणस्तेन गच्छ परस्तरम्॥

वह जो समुद्र तटपर अलौकिक दारु अर्थात् काष्ठमूर्त्ति जगन्नाथजीकी है, दुर्हण अर्थात् कठिनतासे पाने योग्य उस मूर्तिकी उपासना करनेपर परमपद प्राप्त होता है। वेदमें 'प्रतिमा' शब्द कहीं देवप्रतिमा या ईश्वरप्रतिमा अर्थमें और कहीं 'उपमा' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक ४ प्रपाठक ५ अनुवाकमें—

'मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि'

यहां महावीरको ईश्वरकी प्रतिमा करके वर्णन किया गया है।

'सहस्रस्य प्रतिमा असि'—अ० १५।६५

यहां भी परमात्माको सहस्रोंकी प्रतिमा कहा गया है। शतपथ ११-१-८-३ में है—

"अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत।"

ईश्वरने अपनी प्रतिमा यज्ञनामको उत्पन्न किया, इसलिये कहा जाता है कि, ईश्वर यज्ञरूप है।

'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः' यजु. अ. ३४. मन्त्र ४३

जिस परमात्माका नाम और यश महत् है उसकी 'उपमा' किसीके साथ नहीं हो सकती है। इस मन्त्रमें प्रतिमाका अर्थ उपमा है। मूर्त्ति

नहीं है। इसको न समझकर अर्वाचीन जनोंने जो इस मन्त्रमें प्रतिमाका निषेध समझा है यह उनकी पूरी भूल है। वहां प्रकरण देखनेपर भी यही निश्चय होता है। इसी प्रकार—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

इत्यादि केनोपनिषद्के मन्त्रोंमें जो उपासनाका निषेध किया गया है वह निर्गुण ब्रह्मके लिये है, सगुण ब्रह्म ईश्वरके लिये नहीं है, क्योंकि मनवाणी प्रकृतिसे परे निर्गुण अद्वैत ब्रह्म उपास्य उपासकरूपी द्वैतभावके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है। यही इन मन्त्रोंका तात्पर्य है। अतः इसमें भी अर्वाचीनोंने भूल की है। ऋग्वेद, अ. ८. अ. ७. व. १८. मं ३ में लिखा है—

'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्' इत्यादि ।

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, निखिल जगत्का निदान कौन है और घृतके समान सार वस्तु कौन है ? इसमें भी प्रतिमाका अर्थ 'ईश्वरमूर्त्ति' है। यजु, अ. १५ मं ५४ में लिखा है—

'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वं इष्टापूर्त्ते संसृजेथामयञ्च'

हे अग्ने ! तुम सावधान तथा जागृत हो, इस यजमानको भी इष्ट तथा पूर्त्त कर्ममें प्रवृत्त करो। स्मृतिशास्त्रमें इष्ट और पूर्त्त कर्मके निम्नलिखित लक्षण लिखे हैं—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतड़ागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ (अत्रिस्मृति ४४-४५)

अग्निहोत्र तप सत्य वेदपाठ आतिथ्य और वैश्वदेव कर्म इष्ट कहाता है। लोक हितार्थ बावड़ी कूंआ तालाव देवमन्दिर अन्नदान और बगीचे लगा देनेको पूर्त्त कर्म कहते हैं। अतः देवमन्दिर बनाना वेदसम्मत सिद्ध हुआ। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—

अथ मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति—१४-१-२-१७

अथैनान् धूपयति—१४-१-२-२०
मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति—१४-३-२-१७
नासिकेऽएवास्मिन्नेतद्दधाति—ब्रा. श. १७
अक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति—ब्रा. १७

इन मन्त्रोंमें मिट्टीसे महावीरकी मूर्त्ति बनानी तथा उसमें मुख, नाक आदिका स्थापन करना लिखा है। ऐसे ऐसे वैदिक प्रमाणोंके होते हुए भी मूर्त्तिपूजाका खण्डन करना केवल मूर्खतामूलक दुराग्रह मात्र है।

नाम माहात्म्य।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिकी तरह नामकी भी निन्दा की है, किन्तु वेदादि शास्त्रोंमें नाम महिमा बहुत कुछ बताई गई है। ऋग्वेदमें १ सू. २४ मं १ में लिखा है—

'कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम'

नाशरहित परमात्माके सुन्दर नाम हम लेते हैं।

'यस्य नाम महद्‌ यशः' यजु. ३२-३।

जिनका नाम तथा यश महत् है। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है—

नाम उपास्व, स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते···अस्य कामचारो भवति।

नामकी उपासना करनी चाहिये, नामरूपी ब्रह्मकी जो उपासना करता है वह सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण कर सकता है। जैसा कि देवर्षि नारद करते थे। गीतामें भी लिखा है—

ॐ मित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्मरूपी 'ओं' मन्त्रका उच्चारण तथा परमात्माका स्मरण करते करते प्राण छोड़नेपर परम गति प्राप्त होती है। नाम नामीका परस्पर सम्बन्ध रहनेसे जिस प्रकार प्रेमके साथ किसीका नाम उच्चारण करनेपर वह प्रसन्न होकर उत्तर देता है ऐसा ही किसी भी नाम तथा मन्त्रद्वारा भगवान्‌को पुकारनेसे भगवान्‌की कृपा होती है। इसी कारण योगदर्शनमें सूत्र है—

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'
'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

ॐकार परमात्माका वाचक नाम है, उसका जप तथा अर्थ चिन्तन करते रहनेपर परमात्माकी प्राप्ति और विघ्नोंकी निवृत्ति होती है। मन्त्रशक्तिके विषयमें पहिले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। यही सब नाम महिमा तथा मन्त्रमहिमाके विषयमें शास्त्रीय प्रमाण हैं। दिव्यनाम मन्त्र और दिव्यरूप मूर्त्तिके आश्रयसे श्रीभगवान्‌की उपासना सर्वथा शास्त्र तथा विज्ञानसम्मत सत्य है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे द्वादशकिरणः।



त्रयोदश किरण।

अवताररहस्य।

निराकार परमात्माका साकार रूप धारण करके संसारमें लीला करना बहुत ही अपूर्व तथा विचित्र है इसलिये श्रीभगवान्के अवतारकी महिमाका भी अन्त नहीं है और उस पर शंकाका भी अन्त नहीं है। बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि भगवान् कहीं ऊंचे पर बैठे रहते हैं और वहांसे अकस्मात् नीचे उतर आते हैं, किन्तु सर्वव्यापी परमात्माके लिये ऐसा समझना ठीक नहीं। क्योंकि यदि परमात्मा कहीं होते और कहीं न होते, तो जहां हैं वहांसे जहां नहीं हैं वहां आ सकते, किन्तु वे जब सर्वत्र ही विराजमान हैं, अणु अणुमें भी समाये हुए हैं तो इस प्रकार आने जानेकी कल्पना मिथ्या है। अब इस दशामें निराकारसे साकार रूपमें अवतार होना तथा संसारमें जन्म लेकर लीला करना कैसे सम्भव है उस पर ही यहां कुछ विचार किया जायगा।

परमात्मा कहींसे कहीं आते नहीं। उनकी शक्ति या कला सर्वत्र व्याप्त है, उसी शक्तिके देशकालानुसार विशेष रूपसे किसी केन्द्रद्वारा विकाश होनेको ही अवतार कहते हैं। सामान्य रूपसे उनकी शक्ति या कला सर्वत्र ही व्याप्त है। यथा छान्दोग्योपनिषदमें—

'षोड़शकलः सौम्य ! पुरुषः'

तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी—'षोड़शकलो वै पुरुषः।'

परमात्मा सोलह कला शक्तिसे पूर्ण हैं। उनकी यह कला जीव जगत्में धीरे धीरे प्रकट होती है। यथा छान्दोग्यमें—'षोड़शानां कलनामेका कलातिशिष्टाभूत् साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्।'

सोलह कलाओंमेंसे एक कला उद्भिज योनिके द्वारा प्रकट होती है। इसी प्रकार दूसरी योनि स्वेदजमें अर्थात् कृमिकीटोंमें दो कला, तीसरी योनि अण्डज—पक्षी आदिमें तीन कला, चौथी योनि पशुओंमें चार कला तकका विकाश होता है। इसके अनन्तर मनुष्य योनिमें ५ कलासे ८ कला तक भगवत् शक्तिका विकाश होता है यथा—साधारण मनुष्योंमें ५, ५½ कला,

देशनेता धर्मनेता आदि विभूतियुक्त प्रतापी पुरुषोंमें ७, ८ कला इत्यादि। इसके बाद यदि किसी शरीर या केन्द्रके द्वारा ८ कलासे अधिक भगवत् शक्तिका विकाश हो तो वह असाधारण केन्द्र अवतार कहलाता है। ९ कलासे १५ कला तक अंशावतार कहलाता है और १६ कलाका अवतार ही पूर्णावतार कहलाता है। इस प्रकार शक्तिविकाशमें यह नियम नहीं है कि मनुष्यशरीरके द्वारा ही ऐसी असाधारण शक्तिका विकाश हो, देशकालानुसार अण्डज योनि, पशु योनि, मनुष्य योनि किसी भी योनिके शरीर द्वारा ऐसी शक्ति प्रकट हो सकती है। इसी नियमके अनुसार भगवान्‌के २४ अवतार और उनमें भी प्रधान दस अवतार होते हैं। यथा—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृताः ॥

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि परमात्माके ये दस मुख्य अवतार हैं। इनमेंसे प्रथम ९ अवतार हो चुके हैं और दसवां कल्कि अवतार अभी होनेवाला है।

इस प्रकारके अवतार होते क्यों हैं, इस प्रश्नका उत्तर श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही गीतामें कह दिया है यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

जब जब धर्मपर ग्लानि तथा अधर्मकी वृद्धि होती है, भगवान् अवतार लेकर आते हैं। साधुओंकी रक्षा, पापियोंका नाश तथा धर्मप्रतिष्ठाके लिये युग युगमें भगवान्‌का अवतार होता है। प्रत्येक युगमें समष्टि जीवोंके कर्मानुसार जितना धर्म रहना चाहिये, जबतक उतना धर्म रहता है, तबतक अवतारका प्रयोजन नहीं होता है। किन्तु यदि कोई असुर या राक्षस उत्पन्न होकर धर्मपर बहुत ही आघात करना प्रारम्भ कर दे और उस आघातसे युगधर्म भी बहुत ही ह्रास हो जाय और वह धर्महानि आठ कलातक भगवत्‌शक्तियुक्त विभूति या धर्मनेताओंके द्वारा दूर न हो सके, तभी भक्तोंकी प्रार्थना तथा प्रकृतिमाताके हृदयकी चाहके आकर्षणसे आठ कलासे अधिक शक्ति

किसी केन्द्र द्वारा अवताररूपसे प्रकट हो जाती है। यही गीताके इन श्लोकों-का तात्पर्य है। इसी प्रकार वेदमें भी अवतारके विषयमें बहुत मन्त्र मिलते हैं, यथा ऋग्वेदके मण्डल ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८ में—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश।'

भगवान् मायाके द्वारा अनेक रूप धारण करते हैं, उनके शत शत रूप हैं और उनमेंसे दस अवतार रूप मुख्य हैं। शतपथ ब्राह्मण का. १. अ. ८, ब्रा. १, कण्डिका १–६ में मायावतारका विशेष वर्णन मिलता है। अथर्ववेद-का १२, अनु १ में लिखा है--

'वराहेण पृथिवी संविदाना शूकराय विजिहीते मृगाय'

वराहरूपी भगवान्ने इस पृथिवीका उद्धार किया है। ऋग्वेदसंहिता म० १, अ० २१, सू० १५४ में वर्णन है—

'प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।'

नृसिंह रूपधारी पृथिवीचारी भयानक भगवान् निज तेजसे स्तुतिको प्राप्त करते हैं। सामवेदके १८–२–८–२–५–१–२ में वर्णन है—

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥"

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्' १८।२।१

संसारके रक्षक विष्णु भगवान् धर्मरक्षाके लिये वामनावतारमें तीन पादसे त्रिलोक आवृत करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण ३–५–३४ में लिखा है—

'प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वम्भराय।'

भृगुकुलतिलक परशुरामने विश्वम्भरको कहा।

सामवेदसंहिता उत्तरार्चिक १५–२–१–३ में लिखा है—

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अभ्येति पश्चात्।

भगवान् रामचन्द्र सीताके साथ वनमें गये थे, जार रावण रामचन्द्रके परोक्षमें सीताको हरण करनेके लिये आया था। छान्दोग्योपनिषद प्र० ३ खण्ड १७ में—

एतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी–पुत्रायोक्त्वोवाचेति'

घोर आङ्गिरसने यह वचन देवकी-पुत्र कृष्णसे कहकर मुझे कहा।

"नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" तै. आरण्यक प्र. १० अनु १।६ इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण अवतारके विषयमें वेदादि शास्त्रमें मिलते हैं।

अब श्रीभगवान्के दस अवतारके विषयमें संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। दस अवतारोंमेंसे प्रथम मत्स्यावतार है। उनका आविर्भाव नैमित्तिक प्रलयके समय जब सृष्टि जलमग्न हो जाती है तो सृष्टि बीजकी रक्षाके लिये होता है। जलसे सृष्टि बचानेके कारण ही जलचर जन्तु मछली-रूप केन्द्र द्वारा भगवान् अवतार रूपसे प्रकट होते हैं। इस विषयमें अग्निपुराणमें वर्णन है।

'पूर्व कल्प' के अन्तमें नैमित्तिक प्रलयके उदय होने पर पृथिवी आदि लोक समूह जलमग्न हो गये थे। उस समयके कुछ पहिले वैवस्वत मनु कठिन तपस्या करते थे। एक दिन कृतमाला नदीमें मनु तर्पण कर रहे थे, इतनेमें तर्पण जलके साथ एक छोटा सा मत्स्य मुनिकी अञ्जलिके बीचमें आगया। मनुजीने उसे नदीमें छोड़ना चाहा, पर मत्स्यने कहा—'राजन्! मुझे नदीमें मत फेंको, क्योंकि मैं मगर आदि जन्तुओंसे बहुत डर रहा हूं।' तब मनुजी उसे एक कलसेके भीतर रक्खा। थोड़ी देरमें वह मत्स्य बढ़ गया और मनुजीसे कहा—'मुझे रहनेके लिये इससे बड़ा स्थान चाहिये।' तो मनुजीने उसे एक सरोवरमें डाल दिया। किन्तु जब इस प्रकार बढ़ते बढ़ते थोड़ी ही देरमें वह मत्स्य पर्वताकार हो गया, तो मनुजीने उनसे कहा- हे 'भगवन्! आप नारायण विष्णु हैं--इसमें संदेह नहीं। आप मुझे मुग्ध क्यों कर रहे हैं?' मनुका वाक्य सुनकर मीन रूपी भगवान्ने कहा--"मैं दुष्ट दमन और धार्मिकोंकी रक्षाके लिये मत्स्य रूपमें अवतीर्ण हुआ हूं। आजसे सातवें दिनमें समस्त संसार समुद्रजलमें निमग्न हो जायगा। उस समय तुम्हारे पास एक नाव आवेगी। उसमें औषध आदि तथा भावी जीवोंके बीज रखकर सप्तर्षियोंके साथ तुम निवास करना और इस प्रकारसे ब्रह्माकी रात्रिके काल तक रह जाना। मैं जिस समय आऊंगा--मेरे सींगमें उस नावको नागपाश द्वारा बांध देना।" इतना कह कर मीन रूपी भगवान् अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर यथा समय समुद्र उमड़ पड़ा और साथ ही एक नाव आगयी। सप्तर्षियोंके साथ मनुजी उसमें विराज गये और सृष्टिबीज भी उसमें रख लिया। तदनन्तर विशाल शरीरधारी मत्स्य भगवान्का दर्शन हुआ। मनुजीने उनके सींगमें

नावको बांधकर स्तुति की। समस्त ब्राह्मी रात्रि तक भगवान्ने उस नावको आकर्षण कर विचरण किया। पश्चात् हयग्रीव नामक दानवको मारकर वेदोंकी रक्षा की यही मत्स्यावतारकी कथा है।

कूर्मावतार दैवराज्यका अवतार है। उसका रहस्य यह है कि, किसी समय दैवीशक्ति आसुरी शक्तिसे परास्त हो गयी थी। इससे विश्वमें अधर्म बढ़ गया। तब भगवान्ने देवताओंसे कहा—'तुम सब असुरोंसे सन्धि करके दोनों मिलकर समुद्र मथो। उससे जो अमृत निकलेगा उसके पान करने पर तुम असुरोंको परास्त कर पुनः धर्म-स्थापन कर सकोगे।' ऐसा ही हुआ। किन्तु मथनेके समय मन्थनदण्डरूपी मन्दर पर्वत जब नीचे जाने लगा तब भगवान्ने कूर्मरूप धरकर उसे पीठ पर रोका। इस तरह समुद्र मन्थन हो सका और उसीसे लक्ष्मी, पारिजात, धन्वन्तरि,अमृत, आदि सब कुछ निकले। संसारमें भी ऐसा ही होता है। दो विरुद्ध शक्तियोंके टक्करके बिना कोई कार्य नहीं होता है। किन्तु उसके Balance (सामञ्जस्य) रखनेके लिये यदि धर्म-शक्ति उन्हें पीठ पर धारण करे तभी सभी उत्तम वस्तुएँ निकल सकती हैं। यही कूर्मावतारका रहस्य है।

तृतीय अवतारका नाम बाराहावतार है।' इस अवतारका आविर्भाव पातालमें गयी हुई पृथ्वीके उद्धारके लिये हुआ था। जय विजय नामक भगवान् विष्णुके दो द्वारपाल सनकादि ब्रह्मर्षियोंके शापसे विष्णुलोकसे च्युत होकर दितिके गर्भमें दैत्यरूपसे उत्पन्न हुए थे। उनके नाम हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए। हिरण्याक्ष पृथ्वी पर अधिकार जमाकर उसे रसातलको ले गया था और बहुत ही मैलेसे पृथ्वीको भर दिया था। इस कारण श्रीभगवान् विष्णुने बराहरूप धारण कर जलमग्न पृथ्वीका उद्धार किया था और हिरण्याक्षका बध करके स्वर्ग राज्यका उद्धार किया था। यही बाराहावतार धारणका इतिहास है।

चतुर्थ अवतारका नाम नृसिंहावतार है। यह अवतार हिरण्याक्षके कनिष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपुको मारकर पृथ्वीमें धर्मका उद्धार तथा स्वर्गराज्यको निरापद करनेके लिये हुआ था। हिरण्याक्षके बध करनेके बाद भाईके बधके कारण हिरण्यकशिपु भगवान् पर बहुत ही द्वेष-भावयुक्त होगया और ब्रह्माजीके बलसे गर्वित होकर समस्त स्वर्गराज्य पर अधिकार जमा लिया तथा देवताओंको स्वर्गसे निकाल दिया। देवताओंने विष्णु भगवान्से प्रार्थना की तो

उन्होंने कहा कि जब वेद, धर्म तथा अपने भगवद्भक्त पुत्र पर अत्याचार करेगा तब उसका नाश होगा। उसको ब्रह्माजीने यह वर दिया था कि न नरसे और न पशुसे वह मरेगा। इस कारण भगवान्को अर्द्ध नर और अर्द्ध सिंह रूपी नृसिंह मूर्ति धारण करके उसे मारना पड़ा था। वह कथा इस प्रकार है।

हिरण्यकशिपुका प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। एक समय गुरुगृहसे आये प्रह्लादसे उसने पाठ पूछा तो प्रह्लादने उत्तर दिया—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥

हे असुरपति, मिथ्या संसारमें मुग्ध चञ्चल जीवोंके लिये मैं यही अच्छा समझता हूं कि आत्माके गिराने वाले अन्धकूपके तुल्य घरको छोड़ कर वनमें जा श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ले। इतना सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोधसे भून गया और प्रह्लादको सताया कि यदि विष्णुको न छोड़ेगा तो मारा जायगा। प्रह्लादने विष्णु भगवान्को छोड़नेसे इनकार किया, तब हिरण्यकशिपुने उन्हें मार डालनेके लिये बहुत कोशिश की। वे हाथीके पैरके नीचे डाले गये, उन्हें विषैले सांपोंसे डसाया गया, भोजनमें विष दिया गया, वे आग और जलमें फेंके गये, पहाड़ोंसे गिराये गये इत्यादि। किन्तु श्रीभगवान्की कृपासे प्रह्लादकी जब किसी प्रकार भी मृत्यु न हुई तो अत्यन्त क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु अपने हाथसे प्रह्लादके मारनेको उद्यत हुआ और कहा, 'रे मंदात्मन्! निश्चय कर तेरा मरणकाल उपस्थित हुआ है, इसलिये तू इस प्रकार प्रलाप बक रहा है। यदि तेरा ईश्वर सर्वव्यापी है तो इस स्तम्भमें क्यों नहीं दीखता है?' इतना कह कर हिरण्यकशिपु हाथमें तलवार ले सिंहासनसे कूद पड़ा और सजोर स्तम्भ पर मुक्का मारा। मुक्का मारते ही भीषण शब्द हुआ और—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

अपने भृत्य प्रह्लादके वाक्यको सत्य करनेके लिये तथा समस्त विश्वमें अपनी व्यापक सत्ताको जतानेके लिये श्रीभगवान् अपूर्व न मृग न मनुष्य—अर्थात् नृसिंहरूप धारण करके सभास्थलमें स्तम्भके ऊपर प्रकट होगये। तपे हुए सोनेकी तरह कराल उनके नेत्र थे, जटा और केशरसे उनका मुखमण्डल चमकता था, दांतोंकी लहरें अति भयानक थीं, तलवारकी तरह तीखी उनकी जिह्वा थी और भौओंकी लहरोंसे भयानक उनका मुख था। नृसिंह भगवान्का इस प्रकार भयंकर आकार देखने पर भी हिरण्यकशिपुके हृदयमें भय नहीं हुआ और वह गदा लेकर उन्हें मारनेको दौड़ पड़ा। किन्तु गरुड़ जिस प्रकार सर्पको अनायास ही पकड़ता है उसी प्रकार श्रीभगवान् नृसिंहदेवने उसे पकड़ लिया और अपने उरु पर रख कर नखोंसे फाड़ कर उसे मार डाला। इस प्रकारसे दैत्यका निधन, दैवराज्यमें शान्तिस्थापन तथा भक्तकी रक्षा करके नृसिंह भगवान् अन्तर्धान हो गये। यही नृसिंहावतारकी कथा है।

पञ्चम अवतारका नाम वामनावतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्ने दैत्यराज बलिको त्रिलोकसे च्युत करके सुतललोकमें भेज दिया था और दैवराज्यका उद्धार किया था। दैत्यराज बलिने अपने पराक्रमद्वारा स्वर्ग पर अधिकार जमा कर इन्द्रादि देवताओंको स्वर्गच्युत तथा राज्यच्युत कर दिया था, जिस कारण ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें अशान्ति तथा धर्मकी हानि हो रही थी। इस लिये परम दानी तथा सत्यव्रत होने पर भी ब्रह्माण्डकी व्यवस्थाके लिये श्रीभगवान्को वामनावतार लेकर दैत्यराज बलिसे भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्गलोक छिनना पड़ा था। इस प्रकारसे बलिको राज्यच्युत करके श्रीभगवान्ने देवताओंको निरापद कर दिया और पश्चात् बलिकी सत्यप्रतिज्ञा तथा दानधर्मके पुरस्कार रूपसे उनके द्वार पर द्वारपालका कार्य किया और आगामी कल्पमें बलिको इन्द्रत्व प्रदान किया। इस तरहसे वामनावतार द्वारा दोनों ओरकी व्यवस्था द्वारा धर्मरक्षा की गयी। यही वामनावतारका संक्षिप्त इतिहास है।

षष्ठ अवतारका नाम परशुराम अवतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्ने अत्याचारी तथा ब्राह्मणद्वेषी क्षत्रिय वंशका नाश किया था। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्रह्मशक्तिके बिना क्षात्रशक्ति पुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके बिना ब्राह्मणशक्ति वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकती है। दोनोंकी परस्पर सहायता तथा सहानुभूति द्वारा ही दोनोंका कल्याण तथा संसारका कल्याण हो सकता है। किन्तु त्रेता युगमें ऐसा समय आगया था जिस समय क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी परस्पर सहानुभूति नष्ट हो गयी थी और क्षत्रिय लोग अत्यन्त अत्याचारी हो कर निरपराध ब्राह्मणोंका हनन, सम्पत्ति हरण आदि करने लग गये थे जिस कारण संसारमें धर्मपर बहुत ही ग्लानि आगयी थी। दत्तात्रेयके वरसे पराक्रमी सहस्रबाहु कार्त्तवीर्यार्जुन आदि क्षत्रिय नरपतियोंने अपनी तपः शक्तिको धर्मनाश तथा ब्रह्मनाशमें ही लगा दिया था, जिससे समस्त विश्वमें बड़ी ही अशान्ति फैल गयी थी। इसलिये श्रीभगवान्‌को उस समय अवतार धारण कर अधार्मिक क्षत्रिय शक्तिके नाश द्वारा संसारमें शान्ति स्थापन तथा धर्मकी रक्षा करनी पड़ी थी। महर्षि जमदग्निके द्वारा माता रेणुकाके गर्भमें परशुराम भगवान्‌ने प्रकट होकर इक्कीस बार पृथिवीको दुष्ट क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था। श्रीभगवान् रामचन्द्रके प्रगट होनेपर परशुरामकी अवतार शक्ति रामचन्द्रमें चली गयी थी, यथा रामायणमें—

ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम्।
पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपागमत्॥

परशुरामके द्वारा प्रदान किये वैष्णव धनुमें बाणकी योजना करते ही वैष्णवी शक्ति परशुरामको छोड़कर रामचन्द्रमें आगयी, देवतागण इस अलौकिक दृश्यको देखने लगे। यही परशुरामावतारका संक्षिप्त इतिहास है।

सप्तम अवतारका नाम रामावतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान् कितनी कलाओंमें प्रकट हुए इस विषयमें रामायण बालकाण्ड सर्ग १८ में वर्णन है यथा—

कौशल्याऽजनयद्‌ रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।
विष्णोरर्द्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्॥
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।
साक्षाद्‌ विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः॥
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्द्धसमन्वितौ॥

कौशल्या माताने रामचन्द्रको प्रसव किया, जो दिव्य लक्षणोंसे युक्त तथा विष्णु भगवान्‌के अर्द्धांश थे। सत्यविक्रम भरत विष्णुके चतुर्थांश थे और सकल अस्त्रोंमें निपुण लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न विष्णु भगवान्‌के अष्टमांश करके दोनों मिलकर चतुर्थांश थे। इस प्रकारसे चारों भाई मिलकर भगवान्‌के पूर्ण कलारूपमें प्रकट हुए थे। रामावतार क्यों प्रकट हुआ इस विषयमें चिन्ता करनेसे निम्नलिखित तथ्य जान पड़ते हैं।

परशुराम अवतारमें अधार्मिक क्षत्रिय शक्तिके नाशके बाद कुछ दिनों तक संसारमें शान्ति रही। किन्तु रक्षक क्षत्रियशक्तिके दुर्बल होजानेसे ब्राह्मण शक्तिमें गड़बड़ पड़ गयी और ब्राह्मण वंश बिगड़ बिगड़ कर उसमें रावण जैसे राक्षस उत्पन्न होने लगे। ब्राह्मणोंका धर्म है संसारमें तथा समस्त विश्वमें शांतिकी रक्षा करना, किन्तु पापी रावणप्रमुख ब्राह्मणकुलोत्पन्न राक्षसोंने देव-राज्य, नरराज्य, ऋषिराज्य सर्वत्र ही घोर अत्याचार फैला दिया और सती स्त्री तथा सत्पुरुषों पर अमानुष उपद्रव करना शुरू कर दिया। इसलिये उस समय ऐसे एक अवतारकी आवश्यकता पड़ी जो कि अत्याचारी ब्राह्मण शक्तियोंको दबावें, आदर्श नरपतिके लक्षणोंको अपने प्रजावत्सल आदर्श जीवन द्वारा प्रगट करें और अपने लौकिक जीवन द्वारा गार्हस्थ्य नर नारीका दृष्टान्त दिखा देवें। इन्हीं सब अलौकिक कार्योंके लिये श्रीभगवान्‌का राम रूपमें अवतार तथा महामायाका माता सीताके रूपमें अवतार हुआ था।

जिन उद्देश्योंके लिये श्रीभगवान्‌का रामरूपमें अवतार हुआ था, वे सब उद्देश्य श्रीरामचन्द्रने अक्षरशः पूरे किये थे। उनके जैसे आदर्श नरपति, उनके जैसे आदर्श मानव, उनके जैसे मर्यादा प्रतिपालक पुरुष तथा प्रजावत्सल राजा न कभी हुए हैं न कभी होंगे। इसी लिये उनके राज्यकालके विषयमें रामायणके युद्धकाण्डमें लिखा है:—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥

आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः ।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः ॥
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ।

श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्य नहीं होता था, किसीको भी सर्प-भय तथा रोगका भय नहीं था । चोर दस्यु आदिका कोई भी अत्याचार नहीं था, किसी प्रकारका उपद्रव नहीं था और वृद्ध पिता माताके जीते हुए कभी-सन्तानकी मृत्यु नहीं होती थी । सभी लोग सुखी तथा धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिक भावका आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नहीं होता था । सहस्रों पुत्रोंके साथ सहस्रों वर्षों तक नीरोग तथा शोकशून्य होकर मनुष्य जीवित रहते थे । वृक्ष-समूह सदा ही फूलफलमूलोंसे सुशोभित रहा करते थे । इच्छामात्रसे ही मेघ जलवर्षण करता था, और शीतल मन्द सुगन्ध सुखस्पर्श वायु बहा करता था । अपने अच्छे कर्मसे तृप्त होकर प्रजा अपने कर्ममें ही तत्पर रहती थी, सभी लोग धर्मपरायण थे और कहीं भी मिथ्या व्यवहारका प्रचार नहीं था, सभी अच्छे लक्षण तथा धर्मसे सुशोभित थे। यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्रके पुण्यप्रतापसे रामराज्यमें प्रजासुखकी पराकाष्ठाका अपूर्व दृष्टान्त है । यदि अब भी ऐसे प्रजापालक प्रजाहित-प्राण राजा भारतमें मिल जायें तो भारतकी यह दीन दशा जिसमें लाखों मनुष्य रोगसे, शोकसे तथा दुर्भिक्षसे नित्य मर रहे हैं एकबार ही नष्ट होकर भारतमें नन्दनकाननकी आनन्द धारा बह निकले और शान्ति रूपिणी मन्दाकिनी प्रजाके दग्ध हृदयको शीतल कर दे । न जाने भारतके भाग्य रूपी आकाशमें ऐसे शुभ नक्षत्रका उदय कब होगा !

आदर्श राजाके अतिरिक्त आदर्श मानव तथा आदर्श गृहस्थके भी सभी गुण श्रीरामचन्द्रमें सुशोभित थे। उनकी पितृभक्ति, मातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, जितेन्द्रियता, एक-पत्नी-व्रत, सहन-शीलता, धैर्य्य, भक्तवत्सलता, शरणागतके

प्रति दया, उदारता, सच्चरित्रता, शीलता, भद्रता, निष्कपट प्रेम, दरिद्रोंपर कृपा, सत्यव्रत आदि सभी गुण नरलोकमें दुर्लभ तथा प्रत्येक गृहस्थके लिये आदर्शरूप हैं। रामचन्द्रजी वर्णाश्रमके कितने प्रतिपालक थे सो परशुरामके प्रति उनके वाक्यसे ही पता लग जाता है। परशुरामने जब उनसे संग्राम करना चाहा तो उन्होंने उत्तर दिया था—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥

आप ब्राह्मण होनेके कारण पूज्य हैं और महर्षि विश्वामित्रके साथ सम्बन्ध रहनेसे भी पूज्य हैं। इसलिये आपका प्राणनाशकारी बाण मैं नहीं चलाऊंगा। इसी प्रकार केवल वर्ण धर्मकी रक्षाके लिये ही उन्होंने शम्बूकका गला काट दिया था। यही सब भगवान् रामचन्द्रके जीवनमें अपूर्व आदर्श हैं जिनके यथाशक्ति अनुकरण करनेपर भी समस्त संसार धन्य हो सकता है।

रामावतारमें वानरोंसे बहुत सहायता मिली थी, इस कारण वे सब वानर कौन थे और किस किस आकारके थे सो निर्णय करने योग्य है। रामायण बालकाण्ड १७ सर्गमें लिखा है—

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम्॥
सत्यसन्धस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः॥

महाराजा दशरथके पुत्ररूपमें भगवान् विष्णुके उत्पन्न होनेके अनन्तर ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा कि आप सब भगवान्‌की सहायताके लिये अपने अपने तेजसे बलवान् कामरूपी जीवोंको उत्पन्न करें। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर देवताओंने निज तेजसे गन्धर्वी, यक्षी, विद्याधरी, वानरी आदि स्त्रियोंमें वानर रूपधारी अनेक पुत्रोंको उत्पन्न किया। यथा इन्द्रने बालिको, सूर्यने सुग्रीवको, कुबेरने गन्धमादनको, विश्वकर्माने नलको, पवनदेवने हनुमानको इत्यादि। क्योंकि रावणको यह वर मिला हुआ था कि देवताओंके हाथसे नहीं मरेगा। इसलिये विष्णु तथा अन्यान्य देवताओंको नर तथा वानरका रूप

धारण करना पड़ा था। वे सब कामरूपी थे इसलिये जब जैसा प्रयोजन हुआ रूप धारण कर सकते थे यथा रा० यु० का० १२७-१२८ सर्गमें:—

ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः।
कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा॥
नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः॥

कामरूपी वानरोंने मनुष्यरूप धारण करके भरतसे कुशल पूछा। अनेक भूषणोंसे भूषित वानरगण मनुष्यरूप धारण करके नौ हाजर हाथियों पर चढ़कर चले। रामायणके सु० काण्डके द्वितीय सर्गमें हनुमानके लिये लिखा है—

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥

सूर्यास्त होनेके बाद हनूमानने अपने शरीरको छोटा बना कर बिल्लीका रूप धारण किया और उसी अपूर्व रूपमें रावणके अन्तःपुरमें घुस गये। यही सब देवता स्वरूप वानरोंके कामरूपी होनेके प्रमाण हैं। श्रीरामचन्द्रके निजधाम चले जानेके बाद ये सभी वानर जो जिस देवतासे निकले थे उसमें लय हो गये।

निष्कलंक रामचरित्रमें कोई कोई यह कलंक लगाते हैं कि उन्होंने छिपकर बालिको मारा था। अतः यह शंका समाधान करने योग्य है। पहिले ही कहा गया है कि रामावतारके कार्यमें सहायता करनेके लिये देवांशसे वानरोंका जन्म हुआ था। इस प्रकार इन्द्रदेवने बालिको उत्पन्न किया था। अतः बालिको उचित था कि, सुग्रीव आदिके साथ मित्रता कर वह रामावतार कार्यमें सहायता करता। किन्तु ऐसा न करके उलटा उसने सबसे विरोध किया और कामुक होकर सुग्रीवकी स्त्रीको ही छीन लिया। अतः जब अवतार कार्य्यमें सहायता न करके विरोध ही किया तो उसका जीवित रहना उचित न था यही बालिवधमें दैव कारण था। 'उसको छिपकर क्यों मारा' इसके दो उत्तर हैं। प्रथम—वानर शाखामृग होते हैं, मृग-मारनेमें क्षत्रियगण युद्ध धर्मका आचरण नहीं करते हैं, जैसे तैसे सामने या छिपे ही मार देते हैं। इस कारण शाखामृग बालिको छिपकर मारनेमें कोई दोष नहीं हो सकता है। द्वितीयतः

बालिको यह वर था कि, जो सामने आवेगा, उसका आधा बल बालिको प्राप्त हो जायगा। ऐसा होनेसे सन्मुख आकर उसे मारना असम्भव था। यही कारण है, कि श्रीरामचन्द्रको युद्धनीतिका अवलम्बन करके उसे छिपकर मारना पड़ा। अतः रामचरित्रमें बालिवधके कारण कोई दोष स्पर्श नहीं कर सकता है। यही निष्कलंक गुणधाम श्रीरामका आदर्श चरित्र है।

दस अवतारोंमें अष्टम अवतारका नाम बलराम और कृष्णावतार है, इनमेंसे बलराममें अंशकलाका विकाश और कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश हुआ था, यथा भागवतमें—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

और सब अंशावतार हैं, किन्तु कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश होनेसे वे साक्षात् ईश्वररूप हैं। इस प्रकार अंशकला तथा पूर्णकलामें भगवान्के प्रकट होनेका क्या कारण उपस्थित हुआ, सो द्वापर और कलिके उस सन्धिकालकी भीषणताके विषयमें थोड़ा विचार करनेपर ही पता लग सकता है। उस समय चारों ओरसे असुरोंके अत्याचार द्वारा धरा भाराक्रान्ता हो उठी थी। एक ओर महापापी कंसने शिशुहत्या, गोहत्या, पिताको, बहिनको, बहनोईको कारावास दुःखप्रदान, धर्मनाश, भगवान्के नामपर भीषण विद्वेष, प्रजापीड़न आदि महापापोंसे संसारको भर दिया था, दूसरी ओर शिशुपाल दन्तवक्रने अपने आसुरी प्रभावसे पृथ्वी माताके दिलको दहलाना शुरू किया था, तीसरी ओर जरासन्ध, अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, केशी, प्रलम्ब, चानूर, तृणावर्त, नरकासुर, पंचजन, कालियमन, शम्बर आदि कितने ही प्रजा पीड़क नरघातक असुर उस समय भीषण अत्याचारी हो उठे थे, और चौथी ओर आसुरी शक्तिसे उत्पन्न दुर्योधन, दुःशासन आदिके गुरुभारसे पृथ्वी बहुत ही पीड़ित हो रही थी। जहांपर रजस्वला कुलबधू सभाके बीचमें विवस्त्रा किये जायं, भीष्म जैसे महात्मा वीर भी बैठे बैठे देखते ही रह जायं, झूठे खेलमें परास्त कर भाईकी सम्पत्ति हर ली जाय और उन्हें बनबास क्लेश दिये जायं, जहां पर सप्तरथी मिलकर निरस्त्र बालकको क्षत्रिय धर्मको तिलाञ्जलि दे असहाय अवस्थामें मार डालें, जहांपर निद्रित अवस्थामें भी मनुष्योंकी हत्या की जाय, गुरु शिष्यका और शिष्य गुरुका प्राणसंहार करें, गर्भमें स्थित बालकपर भी अस्त्र प्रयोग किया जाय, वहां पर कितना पाप बढ़ गया था थोड़े ही विचारसे मनुष्य उसे समझ सकते हैं। इन्हीं पाप तथा पापियोंका नाश करके संसारमें

पुण्यमयी शान्तिसुधा बहानेके लिये ही भगवानका अंशकला तथा पूर्णकला दोनों ही भावमें अवतार हुआ था। वसुदेव देवकीने पूर्वजन्ममें भगवान्को पुत्ररूपमें पानेके लिये घोर तपस्या की थी, इसी कारण उनके द्वारा भगवान् संसारमें अवतीर्ण हुए थे यथा—

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥

कृष्ण रूपमें प्रकट होकर श्रीभगवान्ने वसुदेव तथा देवकीसे कहा 'पूर्व जन्ममें जो मुझे पानेके लिये तपस्या आप दोनोंने की थी—उसका स्मरण कराने के अर्थ मैंने चतुर्भुज रूपमें दर्शन दिया। आप दोनों पुत्रभाव तथा ब्रह्मभावमें मेरा चिन्तन तथा मुझमें स्नेह कर उत्तम गतिको पावेंगे।

जिस प्रकार वसुदेव देवकीने भगवान्को पुत्र भावमें पानेके लिये तपस्या की थी, उसी प्रकार अनेक ऋषियोंने पतिभावमें उनको पानेके लिये तपस्या की थी। ये ही सब गोपी बनकर पूर्वजन्मकी साधनाके अनुसार कृष्णावतारके समय उत्पन्न हुए थे यथा—पद्मपुराणके पाताल खण्डमें—

मानसे सरसि स्थित्वा तपस्तीव्रमुपेयुषाम्।
जपतां सिद्धिमन्त्रांश्च ध्यायतां हरिमीश्वरम्॥
मुनीनां काङ्क्षतां नित्यं तस्य एव पदाम्बुजम्।
एकसप्ततिसाहस्रसंख्यातानां महौजसाम्॥
तदहं कथयाम्यद्य तद्रहस्यं परं वने॥

मानस सरोवरमें श्रीभगवान्के चरण सेवाकी इच्छा करके इकहत्तर हजार मुनियोंने तीव्र तपस्या की थी। उन्होंने सिद्ध मन्त्रका जप और हरिका निरन्तर ध्यान किया था। उनमेंसे जिन मुनियोंने श्रीभगवान्को शरीर-मन-प्राण आत्मा सभीके द्वारा सम्भोग करनेकी इच्छासे उनका ध्यान किया था उनका जन्म गोपवंशमें गोपीरूपमें हुआ था, क्योंकि बिना स्त्री शरीर धारण किये ऐसा हो ही नहीं सकता था। इसी प्रकार बहुतसी देवी तथा बहुतसी श्रुतियोंका भी गोपीरूपमें जन्म हुआ था। और 'भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्'

इस वचनके द्वारा भागवतमें कहा गया है कि गोप रूपमें तथा यदुवंशमें अनेक देवता भी उत्पन्न हुए थे। इससे सिद्ध हुआ कि गोप तथा गोपीगण सामान्य स्त्री पुरुष नहीं थे किन्तु देवांशसे उनकी उत्पत्ति हुई थी।

श्रीभगवान्‌ने कृष्णावतारमें क्या क्या किया था यह सब हिंदुमात्रको विदित ही है, इसलिये इसका विस्तृत वर्णन यहां नहीं किया जायगा। केवल उनके अलौकिक चरित्रके विषयमें अति जटिल जो कुछ भाव है उसीका थोड़ा बहुत रहस्य बताया जायगा। अवतार श्रीभगवान्‌का होता है। भगवान् सच्चिदानन्दरूपमें होनेसे उनमें सत् भाव, चित् भाव और आनन्द भाव पूर्ण हैं। इस कारण पूर्णावतारमें भी तीन भाव पूर्णरूपसे रहते हैं। सत् भावके साथ कर्मका, चित् भावके साथ ज्ञानका और आनन्द भावके साथ भक्तिका सम्बन्ध है। इसलिये पूर्णावतारके जीवनमें कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंकी ही लीला प्रकट होती है। वे पूर्ण कर्मी, पूर्ण ज्ञानी और सभी रसके रसिक होते हैं और ऐसा होते हुए भी त्रिगुणातीत होनेके कारण सबसे अलग तथा निर्लिप्त होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कर्म, ज्ञान, भक्ति सभीके उच्च अलौकिक आदर्श प्रकट हुए थे। अंशावतारमें अंशकलाका विकाश रहनेसे उनका सभी काम किसी एक भावको मुख्य रखकर होता है, जैसा कि श्रीरामचन्द्रने मर्यादा भावको मुख्य रखकर सब काम किया था, जिस कारण सीतामाताके पूर्ण निर्दोषी होनेपर भी केवल वंश मर्यादा रक्षाके लिये उन्होंने उनको वनवास दिया था। किन्तु पूर्णावतार भावातीत होनेके कारण किसी एक भावको लेकर काम नहीं करते। वे केवल जगत् कल्याण और समष्टिरूपसे धर्मरक्षाका विचार रखकर काम करते हैं। इसी कारण युधिष्ठिरसे मिथ्या कहलाकर द्रोणको मरवा देनेपर भी श्रीकृष्णको पाप नहीं लगा। और भी ऐसे ऐसे अनेक कार्य करते रहे जो सब लौकिक दृष्टिसे अच्छा न होने पर भी जगत्‌का कल्याण तथा जगत्‌में धर्मरक्षाके विचारसे सम्पूर्ण निर्दोष थे। यही पूर्णावतारके जीवनमें कर्मका रहस्य है। उनके जीवनमें भक्तिका रहस्य यह है कि सभी रसके भक्त उनकी लीलामें अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पूर्णावतार होनेसे रसमें भी वे पूर्ण हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण लीलामें पाण्डवादि सख्य रसके भक्त, विदुरादि दास्य रसके भक्त, यशोदादि वात्सल्य रसके भक्त, भीष्म आदि वीर रसके भक्त और व्रजगोपियां आदि कान्ता रसके भक्त, प्रकट हुए थे। इनमेंसे कान्तारस कुछ

रहस्यमय होनेके कारण रासलीला आदिके रहस्यको न समझकर मूढ़ लोग श्रीकृष्णके महान चरित्रपर कहीं कहीं कलङ्क लगाते हैं। अतः यह विषय समाधान करने योग्य है। रासलीला प्रसङ्गमें श्रीमद् भागवतमें लिखा है—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

अर्थात् रासलीलाके समय योगेश्वर श्रीकृष्णने अनेक शरीर धारण करके दो दो गोपियोंके बीचमें एक एक होगये थे। उसी प्रसङ्गमें यह भी लिखा है कि जो गोपियां घरसे भाग आयी थीं उनके पतियोंके पास एक एक गोपीका सा रूप धारण करके श्रीकृष्ण रह गये थे ताकि उन पतियोंको पता न लगे कि उनकी स्त्रियां भाग गयी हैं। बिना योगीके कोई भी इतने शरीर धारण नहीं कर सकता, कामुक विषयी एक शरीरको इतना नहीं बना सकता, इसलिये भगवान् वेदव्यासने श्रीकृष्णको यहां पर 'योगेश्वर' कहा है, कामेश्वर या रतीश्वर नहीं कहा है। अब यह बात विचारने योग्य है कि जो योगी स्वयं स्त्री भी बन सके या पुरुष भी बन सके उसके भीतर काम हो सकता है कि नहीं। सभी लोग जानते हैं कि किसीको अपने ऊपर काम नहीं हो सकता है, अपनेसे भिन्न दूसरेपर ही काम हो सकता है। रमण द्वैतमें ही सम्भव है अद्वैतमें नहीं, अपनेमें रमण आत्माराम योगी ही कर सकते हैं, विषयी दूसरेके साथ रमता है। अपने साथ नहीं रम सकता है। अतः एक ही कृष्ण जब स्त्री भी बनते हैं और पुरुष भी बनते हैं और दोनोंही रूपोंमें अद्वितीय रूपसे रहते हैं तो उनकी योग स्थिति काम दशा या वैषयिक दशासे ऊपर है यह निःसन्देह प्रमाणित हो गया। इस कारण भागवतमें लिखा है—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजतैतादृशीः क्रीड़ाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

जो भगवान् गोपियोंके भीतर भी हैं और उनके पतियोंके भीतर भी हैं उनका शरीर धारण और इस प्रकार लीला केवल भक्तोंके प्रति कृपा करनेके लिये है। जिससे भक्त मात्र इन लीलाओंके रहस्यको जानकर उनके प्रति अनु-

रक्त हो सकें। अतः श्रीकृष्णके प्रति काम आदि वैषयिक भावोंकी आशङ्का अज्ञान मात्र है। इसी कारण रासलीला प्रसङ्गमें भगवान् वेदव्यासने कहा है—'आत्माराम कृष्णने रमण किया' 'योगेश्वरने रमण किया' 'अपनेमें वीर्यको रोककर रमण किया' इत्यादि इत्यादि · अर्थात् यह सभी रमण योगीका सर्वत्र आत्मा देखकर आत्म रमणकी तरह था, भोगीका विषयभोग नहीं था। किन्तु ऐसा होने पर भी रासपञ्चाध्यायीमें जो इस प्रकारके श्लोक मिलते हैं जिससे स्थूल रमण ही प्रतीत होता है इसका रहस्य भेद करना चाहिये। पहिले ही कहा गया है कि पूर्वजन्मके अनेक ऋषि मुनि भगवान्के साथ स्थूल शरीर द्वारा सम्बन्ध करनेकी इच्छासे गोपी बन कर आये थे। अतः पूर्व संस्कारके अनुसार श्रीभगवान् कृष्णकी अति मधुर मूर्तिको देखते ही उनके भीतर स्थूल रूपमें मिलनेकी इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु भगवान् भागवतमें कहते हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः कथितो धान प्रायो बीजाय नेष्यते॥

भगवान्के प्रति काम भावसे प्रीति करने पर भी वह काम भुने हुए बीजकी तरह अङ्कुर न जमाकर नष्ट हो जाता है। सो कैसे होता है परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्मर्षि शुकदेवने बताया था यथा—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेऽश्वरे कृष्णे यत एतद्द विमुच्यते॥

अर्थात् काम, क्रोध, भय स्नेह आदि किसी भी भावके द्वारा भगवान्में नित्य आसक्त रहते रहते भक्त उनमें तन्मय हो जाता है और उसी तन्मयता द्वारा मन भगवान्में लवलीन हो जाने पर भक्तको मुक्ति मिलती है। गोपियोंमें भी ठीक ऐसा ही होता था। वे पूर्व संस्कारके अनुसार श्रीकृष्णको देखते ही अनुरक्त हो जाती थीं और उनसे स्थूल रमण करना चाहती थीं। किंतु श्रीकृष्ण भगवान्की अलौकिक शक्ति द्वारा अत्यन्त आकृष्ट होकर थोड़ी ही देरमें तन्मय हो जाती थीं। और जब तन्मय हो गयीं, अपनेको भूल ही गयीं, मन ही नष्ट

हो गया तो मनमें उत्पन्न कामादि कैसे रह सकता है ? इस प्रकारसे तन्मयता द्वारा मन तथा मनोवृत्तियोंको खोकर भगवान्में लवलीन होकर गोपियोंने उच्चगति पाई थी। यही रासलीलाका गूढ़ रहस्य है जिसको यथार्थ रूपसे समझ जाने पर श्रीकृष्ण-चरित्र पर कोई भी आशङ्का नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार 'वस्त्र-हरण' के विषयमें भी जो शङ्का होती है वह भी इसके रहस्यके न समझनेका ही फल है। वह रहस्य यह है कि, कुछ गोपियोंने श्रीभगवान् कृष्णको पतिरूपसे पानेके लिये कात्यायनी व्रत किया था। यथा भागवतमें—

'नन्दगोपसुतं देवं पतिं मे कुरु ते नमः'

माता कात्यायनि! नन्दसुत भगवान् कृष्णको मेरा पति कर दो तुम्हें नमस्कार। जब श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा थे तो परमात्माके पानेके लिये जितनी योग्यता होनी चाहिये उसके हुए बिना श्रीकृष्ण कभी उनके पति नहीं हो सकते थे। उन्होंने वस्त्र-हरण द्वारा उस योग्यताकी परीक्षा की थी। शास्त्रका सिद्धान्त है, कि जब तक जीव शरीरके प्रति अभिमान रखता है तब तक परमात्माको नहीं पा सकता है। काम, लज्जा, भय आदि तभी तक रहता है, जब तक शरीरके प्रति अभिमान है, बालकमें काम नहीं होता है इसलिये वे नग्न होनेमें लज्जा नहीं करते। इसी प्रकार परमहंस महात्मा परमात्माको पाकर शरीरके अभिमानको काटते हैं इस कारण वे भी नग्न रहते हैं। जब तक यह दशा न हो तभी तक काम लज्जा आदि रहती है, तभी तक वस्त्रसे लज्जाको रखनी होती है और तभी तक शरीरके प्रति अभिमान रहनेके कारण परमात्मा-नहीं मिलते हैं। गोपियोंकी उच्च आशा तो परमात्माको पतिरूपसे पानेकी थी, परन्तु शरीरके प्रति अभिमान उनका नष्ट नहीं हुआ था। इसी विषयको 'वस्त्र-हरण' करके श्रीकृष्ण भगवान्ने स्पष्ट दिखा दिया, कि जब वस्त्रहीन होनेमें उनको लज्जा मालूम होती है तो अभी तक शरीरके प्रति उनका अभिमान नष्ट हुआ नहीं और जब नष्ट नहीं हुआ तो परमात्माको पतिरूपमें पानेका समय अभी तक उनका आया नहीं। यह परीक्षा केवल उपदेश द्वारा उतनी पूरी नहीं होती जितनी वस्त्र-हरण द्वारा प्रत्यक्षरूपसे हो सकी। बाकी श्रीकृष्ण स्वयं कैसे थे सो पहिले ही कह चुके हैं। यही वस्त्रहरणका रहस्य है। इस प्रकारसे पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें भक्तिके सभी रसोंके विकाश-का मौका आया था। उनके जीवनमें ज्ञानकी पूर्णता कैसी थी सो गीतापर

मनन करनेसे ही पूरा पता लग जाता है। क्योंकि विना पूर्ण ज्ञानके गीतामृतकी वर्षा कोई नहीं कर सकता। इसके सिवाय कुरुक्षेत्रके संग्राम तथा अन्यान्य अनेक मौके पर श्रीभगवान्ने अपने पूर्णज्ञानका परिचय दिया था। यही सब पूर्णावतार श्रीकृष्णकी महिमा है।

श्रीभगवान्के नवम अवतारका नाम बुद्धावतार है। यह अवतार कलियुगके उस समय हुआ था जब कि वेद ईश्वर तथा देवताओंके नामसे लक्ष लक्ष पशुबलि और नरबलि तक होती थी और इस हिंसापापसे संसारमें बड़ी ही धर्मग्लानि हो रही थी। इसी कारण श्रीभगवान्को बुद्धावतारमें वेद, ईश्वर तथा देवताओंका खण्डन करके हिंसापापका नाश करना पड़ा था। जिस प्रकार विष प्राणघातक होनेपर भी प्रबल रोगमें कहीं कहीं औषधि होकर प्राण-रक्षा तक कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर तथा वेदका खण्डन अनुचित होने पर भी उस समयमें प्रबल हिंसारोगके नाशके लिये औषधिरूप बन गया था, यही बुद्धावतारमें वेद आदि खण्डनका रहस्य है। इसी कारण परवर्त्ती कालमें जब हिंसापाप दूर होगया और ईश्वरके खण्डनसे पुनः नास्तिक उत्पन्न होने लगे, तो भगवान् शंकराचार्य्यने बौद्धमतका खण्डन करके पुनः वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा की। यही श्रीभगवान्के बुद्धावतार धारणका रहस्य है।

दशम अवतार कल्कि अवतार है जो अभी तक हुआ नहीं। कलियुगके अन्तमें जब संसारमें पाप अत्यन्त बढ़ जायगा और म्लेच्छ लोग प्रजाओं पर बड़ा ही अत्याचार करेंगे तभी म्लेच्छ नाश तथा धर्मस्थापनके लिये यह अवतार होगा। यही अंशकला तथा पूर्ण कलामें प्रकट श्रीभगवान्के दस अवतारका संक्षेप वृत्तान्त है। परमात्मा समझकर इन अवतारोंकी पूजा करनेसे जीवको अवश्य ही उत्तम गति प्राप्त होती है।

ऊपर कथित अंशावतार और पूर्णावतारके अतिरिक्त और भी तीन प्रकारके अवतार होते हैं, यथाः—विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार। विशेषावतारको आवेशावतार भी कहते हैं। इसमें व्यक्तिविशेषके भीतर भगवद्भावका आवेश होता है और उस समय वह अवतारकी तरह कार्य कर सकता है। यथा पद्मपुराणमें—

'आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः'

सनक सनन्दन आदि कुमार तथा नारदमें श्रीभगवान्का आवेश हुआ

था। अतः वे आवेशावतार कहला सकते हैं। अविशेषावतार दीक्षा देते समय गुरु कहलाते हैं। वास्तवमें गुरु भगवान् ही हैं। किन्तु भगवान्के निराकार होनेसे किसी साकार गुरुरूप केन्द्र द्वारा उनकी ज्ञानशक्ति प्रकट होकर शिष्यको आत्माका पथ दिखाती है। अतः दीक्षा देते समय जिस गुरुरूप केन्द्र द्वारा भगवान्की ज्ञान शक्ति प्रकट हो, वह केन्द्र अविशेषावतार है और अन्तःकरणमें विवेकरूपसे जो शक्ति जीवको नित्य पापकर्मसे बचाती है तथा पुण्यपथमें ले जाती है वह श्रीभगवान्का नित्यावतार है। इस प्रकार-से पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार—श्रीभगवान्के ये पांच प्रकारके अवतार हुए। श्रीभगवान्के अवतारकी तरह ऋषि और देवताके भी अवतार होते हैं। यही संक्षेपसे वर्णित अवतार-तत्त्व है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे त्रयोदशकिरणः।



चतुर्दश किरण।

श्रीकृष्णचरित्र-वर्णन।

श्रीभगवान्‌के मधुर चरित्रवर्णन प्रसङ्गमें प्रथमतः उनके प्रकट होनेका कारण बताया जाता है। अग्निपुराणमें लिखा है। यथा—

यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः।
भुवो भारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः॥

यदुवंशमें जो यादवगण उत्पन्न हुए थे, उनमेंसे वासुदेव श्रीकृष्ण प्रधान थे। वसुदेव और देवकीके द्वारा उनका जन्म हुआ था। पृथिवीके भार-हरणके लिये ही उनका अवतार हुआ था। अवतारकी उत्पत्तिके विज्ञानके प्रसङ्गमें यह बात पहले ही बताई गई है कि, श्रीकृष्णके अवतारके पहले पृथिवी किस प्रकार असुरभारसे पीड़ित हो गई थी और गौका रूप धारण करके उन्होंने रोती रोती ब्रह्माजीकी शरण ली थी और ब्रह्मा आदि देवताओंने भी श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली थी। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरोंके अत्याचारसे संसार अत्यन्त पीड़ित हो रहा था, संसारसे भगवान्‌का नाम लोप हो रहा था, धर्मकी धारा एक बार ही नष्ट हो चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओंके पापाचरणसे राजा और प्रजा दोनोंहीमें भयंकररूपसे पापकी वृद्धि हो रही थी। यह बात पहले ही कही गई है कि, सनकादि मुनियोंके शापवश जय और विजय नामक विष्णु भगवान्‌के दो द्वारपाल विष्णुलोकसे पतित हो गये थे और उनको यह वर मिला था कि, यदि विष्णु के साथ शत्रुताका आचरण करेंगे, तो तीन जन्ममें उनकी मुक्ति होगी। इसके अनुसार जय और विजयका प्रथम जन्म हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु रूपमें हुआ था, जिनको वाराहावतार और नृसिंहावतारमें श्रीभगवान्‌ने मार दिया था। उनका दूसरा जन्म रावण और कुम्भकर्णरूपमें हुआ था, जिनको श्रीरामावतारमें भगवान्‌ने मार दिया था। उनका तृतीय जन्म शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें हुआ था, जिनको श्रीकृष्णावतारमें भगवान्‌ने मार दिया

आविर्भाव कारण।

था। इसलिये कृष्णावतारके पहले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरोंके

[redacted]

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव ॥

एक सूईके आगे जितनी भूमि आती है उसका भी आधा भाग युद्ध किये बिना नहीं मिलेगा और केवल इतना ही नहीं, घमण्डी दुर्योधनने, जिनके चरण-कमलोंके आश्रयसे जीव संसारके बन्धनसे मुक्त होता है, उसी श्रीकृष्णचन्द्रको बांधनेकी आज्ञा दी। इसीसे सभी लोग समझ सकते हैं कि, कृष्णावतारके पहले संसारमें कितना पाप बढ़ गया था। इन्हीं पापियोंका नाश करके पृथ्वी-का पापभार दूर करके धर्मकी धाराकी वृद्धिके लिये ही पूर्णकलामें श्रीभगवान्-का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्यपर उनका ममत्व होता है, परन्तु जहांपर गुरु शिष्यका तथा शिष्यपुत्रका प्राणविनाश करें और गुरु-पुत्र अश्वत्थामा नींदकी अवस्थामें शिष्यपुत्रोंका प्राणविनाश करनेमें संकोच न करें वहांपर कितना पाप बढ़ गया था, इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार बालककी हत्याके समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थामें मनुष्यकी बात ही क्या, वृक्षपर चोट लगाना भी पाप है, परन्तु द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने निद्रित अवस्थामें ही द्रौपदीके पांच बालकोंका प्राणविनाश कर दिया था और गर्भमें ही परीक्षित-को मार डालनेके लिये उत्तराके गर्भमें ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया था। ऐसे ऐसे भयंकर पाप द्वापर और कलिके सन्धिकालमें भारतवर्षमें फैल गये थे। और और अवतार जिस कालमें प्रकट हुए थे उस समय केवल कलावतार-रूपमें भगवान् उस समयके विघ्नोंको दूर करनेमें समर्थ हुए थे। परन्तु द्वापर युगका अन्त और कलियुगका प्रारम्भरूप सन्धिका समय इतना भया-नक हो गया था कि उस समय श्रीबलराम अवतारके कलारूपसे प्रकट होनेपर भी पूरा कार्य न होते हुए देखकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णावतारके प्रकट होनेकी भी आवश्यकता हुई थी।

यथा भागवतके दशम स्कन्धमें—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।

श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ।

भादोंमासके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको आधी रातके समय जिसमें सब जीवोंका निवास है ऐसे श्रीविष्णु जिस प्रकार पूर्व दिशामें चन्द्रमाका उदय होता है उसी प्रकार देवीरूपिणी देवकीके गर्भसे प्रकट हो गये । कमल-लोचन, चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, श्रीवत्सचिन्हसे युक्त, कण्ठमें कौस्तुभ भूषित, पीताम्बर, मेघवर्ण, वैदूर्यमणिसे सुशोभित, किरीट कुण्डलकी ज्योतिसे प्रकाशमान बहुत, घुंघरूवाले केश धारण किये हुए, करधनी, बिजावट और वलय आदि गहनोंसे परम शोभायमान उस अद्भुत बालक भगवान्को वसुदेवजीने देखा और देखकर स्तोत्र पाठ किया । तदनन्तर माता देवकीने भी श्रीभगवान्की स्तुति की । वसुदेव देवकीके स्तुति पाठके अनन्तर श्रीभगवान्ने उन दोनोंको पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण कराया कि किस प्रकारसे उन दोनोंने पूर्वजन्ममें घोर तप किया था और श्रीभगवान्के प्रसन्न हो जानेपर उन दोनोंने यही वर मांगा था कि श्रीभगवान् जैसे पुत्र उनको प्राप्त हो जांय । उनके जैसे तो वे ही हैं ऐसा सोचकर उन्होंने कृष्णावतारमें वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें उत्पन्न होना स्वीकार किया था । उसी बातका इस समय उन्होंने वसुदेव देवकीको स्मरण दिलाया और पश्चात् कहा—

एतद्वां दर्शितं रूपं प्रागृजन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तो कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥

पूर्वजन्मके स्मरणके लिये मैंने यह अपना स्वरूप बताया क्योंकि ऐसा किये विना लौकिक जीव मुझे पहचान नहीं सकता । आप दोनों मुझे पुत्र-

भाव और ब्रह्मभाव दोनों भावोंसे स्मरण तथा मेरेपर प्रेम करके उत्तम ब्रह्म-गतिको प्राप्त कर सकेंगे। इतना कहकर श्रीभगवान्‌ने निजरूपको छिपाकर लौकिक शिशुका रूप धारण कर लिया।

जिस प्रकार श्रीभगवान् रामचन्द्रकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनेक देवता आदि वानरादिके रूपमें उत्पन्न हुए थे और लक्ष्मी भी सीतारूपमें उत्पन्न हुई थीं उसी प्रकार श्रीभगवान् कृष्णकी कर्मोपासनाज्ञानमयी पूर्ण अवतारकी लीलाको कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनोंसे परिपूर्ण करनेके लिये कृष्णावतारके समय भी अनेक देवता, देवियां, श्रुतियां और ऋषि महर्षि-गण भी विविध स्त्री पुरुषके रूपमें उत्पन्न हुए थे और स्वयं प्रकृतिमाता भी राधारूपमें गोकुलमें उत्पन्न हो गई थीं। यथा श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें—

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥
विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥

आकाशवाणी सुनकर ब्रह्माजीने देवताओंको कहा—"हे देवतागण! मेरी बातको सुनो और शीघ्र उसी प्रकार आचरण करो। श्रीभगवानने पृथिवी-

की पीड़ा जान ली है और पृथिवीका भार उतारनेके लिये अवतीर्ण होंगे। आप सब भी मनुष्यरूपसे पृथिवीमें उनकी सहायताके लिये उत्पन्न हो जाओ और जब तक वे पृथिवीमें रहें तब तक उनके अवतारकार्यमें सहायता करो। वसुदेवके गृहमें साक्षात् भगवान्का आविर्भाव होनेवाला है इसलिये उनके प्रिय कार्य्य करनेके लिये सुरपुरीकी देवियां उत्पन्न हो जायं। वासुदेवके अंशसे उत्पन्न अनन्तदेव भी बलरामरूपसे उनके कार्यमें सहायता देनेके लिये पहले ही उत्पन्न होंगे। महामाया भी उनकी आज्ञासे उनके ही कार्यके लिये संसारमें उत्पन्न होंगी। इस प्रकारसे श्रीकृष्णावतारके समय उनकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनन्तदेव, अन्यान्य देवतागण, देवीगण और स्वयं महामायाका नरनारी-रूपमें आविर्भाव हुआ था। ये ही सब अनेक गोप, गोपी, गोपबालकगण, यादवगण, बलराम और श्रीमती राधिकाके नामसे प्रसिद्ध हुए थे। महामायाकी उत्पत्तिके विषयमें शास्त्रमें कहा गया है कि, कृष्णजन्मके समय यशोदाके गर्भसे महामाया उत्पन्न हुई थीं और कंसके हाथसे पृथक् होकर उसको कृष्णजन्मका वृत्तान्त सुनाकर चली गई थीं। इसके सिवाय श्रीराधामें भी महामायाका विशेष अंश था इसका प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। यथा—पद्मपुराणके पाताल-खण्डमें—

द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः।
प्रधानं या भगवती यया सर्वमिदं ततम्॥
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याविद्या त्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहकारणकारणम्।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम्॥
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्रानुकारणाम्।
तामालिङ्ग्य वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम्॥
ध्यायेदेतद्विधं देवं स च सिद्धिमवाप्नुयात्॥

जिनके अपूर्व तेजसे बिजलीके प्रकाशकी तरह दश दिशायें प्रकाशित हो रही हैं, जो प्रधानरूपिणी भगवती सर्वत्र व्याप्त हैं, जो सृष्टिस्थिति और प्रलय करनेवाली और विद्या तथा अविद्यारूपिणी अपने रूपमें, शक्तिरूपमें, माया-

रूपमें एवं चिन्मयभावमें सुशोभित होती हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि देवताओंके कारणके भी कारण हैं, जिनकी मायासे चर और अचर समस्त संसार परिव्याप्त है वेही वृन्दावनकी ईश्वरी राधा हैं और परमात्मारूप वृन्दावनके ईश्वर श्रीकृष्ण आनन्दसे उनको आलिङ्गन कर रहे हैं। इस प्रकार राधासे आलिङ्गित कृष्णको जो भक्त ध्यान करता है उसको मुक्तिपद प्राप्त होता है। यही श्रीराधामें महामायाका अंश था इसका प्रमाण है। गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऊपर कथित श्रीमद्भागवतके प्रमाणसे तो यह सिद्ध होता है कि, बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी देवियां थीं जिन्होंने ब्रह्माजीके कथनानुसार पूर्णावतारकी लीलामें सहायता करनेके लिये गोपीरूपमें जन्मग्रहण किया था। इसके सिवाय और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि, बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी श्रुतियां थीं और बहुतोंका शरीर पूर्वजन्ममें ऋषि महर्षियोंका था। अनेक गोपियोंके पूर्वजन्ममें महर्षि होनेके विषयमें कृष्णोपनिषद्में लिखा है। यथा—

"श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ।"

सर्वाङ्गसुन्दर सच्चिदानन्दलक्षण रामचन्द्रको देखकर वनवासी मुनिगण विस्मित हो गये और उन्होंने उनके साथ अङ्गसङ्ग करनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने मुनियोंसे कहा कि, उनका रामावतार मर्यादामूलक है इसलिये इस अवतारमें अङ्गसङ्ग नहीं हो सकता है। आगे जब वे कृष्णावतार धारणकर पृथिवीमें आवेंगे, उस समय मुनिगण गोपीरूपसे व्रजमें उत्पन्न होंगे और उसी समय श्रीभगवानके साथ उनका अङ्गसङ्ग हो सकेगा। ये ही वनवासी अनेक मुनि ऋषि कृष्णावतारके समय गोपिका बनकर व्रजमें उत्पन्न हुए थे। गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमें पद्मपुराणके पातालखण्डमें अपूर्व वर्णन मिलता है। उसमें हरपार्वतीसंवादप्रसङ्गमें शिवजी पार्वतीसे कह रहे हैं—

मानसे सरसि स्थित्वा तपस्तीव्रमुपेयुषाम्।
जपतां सिद्धिमन्त्रांश्च ध्यायतां हरिमीश्वरम्॥

मुनीनां काङ्क्षतां नित्यं तस्य एव पदाम्बुजम् ।
एकसप्ततिसाहस्रसंख्यातानां महौजसाम् ॥
तत्तेऽहं कथयाम्यद्य तद्रहस्यं परं वने ॥

मानस-सरोवरमें श्री गवान्की चरणारविन्दसेवाकी आकांक्षा करके इकहत्तर हजार मुनियोंने तीव्र तपस्या की थी। उन्होंने सिद्ध मंत्रका जप और हरिका निरन्तर ध्यान किया था। उनमेंसे जिन मुनियोंने श्रीभगवान्को शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभीके द्वारा सम्भोग करनेकी इच्छासे भगवान्का ध्यान किया था उनका जन्म गोपवंशमें गोपीरूपमें हुआ था क्योंकि, बिना स्त्री-शरीर प्राप्त किये इस प्रकार शरीर, मन, प्राण आत्मा सभी प्रकारसे जीव श्रीभगवान्में उत्तमा रति नहीं कर सकता है। यही कारण है कि, तपस्वी मुनियोंका गोपीरूपमें व्रजमें जन्म हुआ था। श्रीभगवान्ने भी गीतामें लिखा है कि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिस प्रकार सङ्कल्पको लेकर जीव शरीरको छोड़ता है उसी प्रकार आगेका जन्म जीवको प्राप्त होता है। इसी प्रकारसे पद्मपुराणके पातालखण्डके इकतालीसवें अध्यायमें गोपी बननेवाले अन्यान्य मुनियोंका भी वृत्तान्त दिया हुआ है। यथा—सत्यतपा नामक मुनिने इस प्रकार तप और ध्यान किया था जिसके फलसे दशकल्पके बाद वे सुभद्र नामक गोपकी कन्या भद्रा नामक गोपी बने। हरिधामा नामक एक मुनि थे जिन्होंने उग्र तपस्या और उसी प्रकार ध्यान जप किया था। वे तीन कल्पके अन्तमें सारङ्ग नामक गोपकी कन्या रङ्गवैनी नामक गोपी बने। जाबालि नामक एक मुनि थे। उन्होंने नौ कल्पतक तपस्या और ध्यान करके प्रचण्ड नामक गोपकी कन्या चित्रगन्धा नामसे व्रजमें जन्मग्रहण किया था। इस प्रकारसे अनेक मुनियोंने पूर्वतपस्या और सङ्कल्पके अनुसार श्रीभगवान्के साथ सर्वथा रतिलाभके लिये व्रजमें गोपीरूपसे जन्म लाभ किया था जिनका विवरण पद्मपुराणमें मिलता है। इस प्रकार उच्च प्राक्तन संस्कार होनेके कारण ही गोपियां इस प्रकारसे गोविन्दमें अपने प्राणोंको लगानेवाली हो गई थीं और श्रीभगवान्की पूर्णावतार-

लीलामें उपासना-भावके मधुर विकाशका अवकाश प्रदान किया था। मुनियोंके अतिरिक्त कुछ गोपियां श्रुतियां थीं ऐसा भी प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। यथा-पद्मपुराण पातालखण्डमें—

अतः परं श्रुतिगणास्तासां काश्चिदिमाः शृणु।
उद्गीतैषा सुगीतेयं कलगीता त्वियं प्रिया॥
एषा कलस्वराख्याता बालेयं कलकण्ठिका।
विपञ्चीयं क्रमपदा ह्येषा बहुहुता मता॥
एषा बहुप्रयोगेयं ख्याता बहुकलाबला।
इयं कलावती ख्याता मता चैषा क्रियावती॥

गोपियोंके रूप धारण करनेवाली श्रुतियोंके नाम यथा—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलस्वरा, कलकण्ठिका, विपञ्ची, क्रमपदा बहुहुता, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती और क्रियावती। ये सब स्त्रियां मुख्य हैं। और भी अनेक गोपीरूपधरनेवाली श्रुति-स्त्रियां गौणी हैं।

इस प्रकारसे अनेक देवियाँ, अनेक श्रुतियां, अनेक मुनिगण मिलकर अपने अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार व्रजमें गोपीरूपमें उत्पन्न हो गई थीं और उन्होंने अनेकभावमें श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ रति करके अन्तमें अनन्तधामको प्राप्त किया था। अतः व्रजगोपियां साधारण गोपकन्या नहीं थीं परंतु उन्नतकोटिकी भगवान्‌की उपासना करनेवाली थीं जिन्होंने कृष्णावतारमें उपासनामयी लीलाको पूर्ण किया था, यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

महाभारत और भागवतके श्रीकृष्ण।

वृन्दावनकी समस्त लीला और महाभारतकी समस्त लीला एक ही श्रीकृष्णके द्वारा सम्पन्न हुई थी, इस विषयका प्रमाण द्रोणपर्वमें सञ्जयके प्रति धृतराष्ट्रकी उक्तिमें मिलता है। यथा—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय।
कृतवान् यानि गोविन्द यथा नान्यः पुमान् क्वचित्॥
गोकुले वर्द्धमानेन बालेनैव महात्मना।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे।

जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठञ्चापि महासुरम् ।
मुरञ्चामरसङ्काशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजविमध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तपस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजञ्च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानञ्च जघान पशुवत् तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥
यमाहुः सर्वपितरं वासुदेवं द्विजातयः ।
अपि वा ह्येष पाण्डूनां योत्स्यतेर्थाय सञ्जय ।
स यदा तात संनह्येत् पाण्डवार्थाय सञ्जय ।
न तदा प्रतिसंयोद्धा भविता तस्य कश्चन ॥
यदि स्म कुरवः सर्वे जयेयुर्नाम पाण्डवान् ।
वार्ष्णेयोऽर्थाय तेषां वै गृहीयाच्छस्त्रमुत्तमम् ॥
ततः सर्वान्नरव्याघ्रो हत्वा नरपतीन् रणे ।
कौरवांश्च महाबाहुः कुन्त्यै दद्यात् स मेदिनीम् ॥
यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जय ।
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद्रथः ॥

मोहाद्दुर्योधनः कृष्णं यो न वेत्तीह केशवम् ।
मोहितो दैवयोगेन मृत्युपाशपुरस्कृतः ॥
न वेद कृष्णं दाशार्हमर्जुनञ्चैव पाण्डवम् ।
पूर्वदेवौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ ॥

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंको सुनो, जिनके ऐसे कर्म कोई नहीं कर सकता है। लड़कपनमें जब श्रीकृष्ण गोकुलमें थे उस समय उनकी अलौकिक शक्ति व्रजगोपिकाओंमें तथा संसारमें प्रकट हुई थी। इन्होंने यमुना वनवासी अति वेगवान् शक्तिमान् हयासुरको मार दिया था। गौओंके शत्रु बैलके रूप धरनेवाले दानवको भी मार दिया था। प्रलम्ब, नरक, जम्भ, पीठ और मुर नामक असुरोंको निहत किया था। महाबल कंसराजको अपने गणोंके साथ निहत किया था। अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति कंसभ्राता सुनामाको बलरामको साथ लेकर श्रीकृष्णजीने मार दिया था। उन्होंने चेदिराज शिशुपालको युधिष्ठिरके यज्ञमें अर्घ्यसम्बन्धीय विवादमें पशुकी तरह मार दिया था। मेरी ही सभामें उन्होंने जो आश्चर्य जनक कार्य किया था ऐसा कौन कर सकता है! जिनको द्विजगण परमपिता कहते हैं अब वे ही श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें होकर युद्ध करेंगे। उनके पाण्डवपक्षमें युद्ध करने पर कौन उनसे युद्ध कर सकता है! यदि कौरवगण पाण्डवोंको पराजित भी कर दें तौ भी श्रीकृष्ण जब अस्त्रग्रहण करेंगे तो सबको मारकर पाण्डवोंको पृथिवीका राज्य दिलावेंगे। जहांपर श्रीकृष्ण सारथि और अर्जुन योद्धा हैं वहां कौन उनके सामने युद्ध कर सकता है? दैवविमूढ़ दुर्योधन श्रीकृष्णके स्वरूपको जान न सका, उसका नाश सन्निकट है। वे दोनों नर नारायण ऋषि थे, अब उन्हींके अवतार रूपसे आये हैं। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, वृन्दावनमें लीला करनेवाले तथा महाभारतकी लीला करनेवाले श्रीकृष्ण एक ही परम पुरुष थे। अब नीचे एक ही कृष्णके जीवनमें इस प्रकार विविध भावोंसे भरी हुई लीलाएँ कैसे संघटित हो सकती हैं सो क्रमशः बताया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, कार्यब्रह्मके भीतर अनेक विचित्र चेष्टाएं उसमें उत्पन्न जीवोंके संस्कार-मूलक स्वरूपके अनुकूल ही होती हैं। इसलिये जिस समय समष्टि संस्कारका आश्रय करके कोई अवतार इस कार्यब्रह्ममें प्रकट होंगे तो उस समय भी कार्यब्रह्ममें उत्पन्न प्राकृतिक चेष्टासमूह उस अवतारके स्वरूपानुकूल ही होंगे

इसमें सन्देह नहीं हो सकता और जब इन अवतारोंमें कोई पूर्णावतार प्रकट होंगे तो उनकी लीलाके समय समस्त चेष्टाएं कार्यब्रह्ममें ठीक उसी प्रकारसे अवश्य संघटित होंगी जो उस पूर्णावतारके स्वरूपके अनुकूल हो। अवतार जब सच्चिदानंदमय श्रीभगवान्के सत्, चित्, आनन्दरूपी तीनों भावोंको लेकर होता है तो पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश रहेगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इसी कारण यह भी निश्चय है कि, पूर्णावतारके जोवनमें कार्यब्रह्मके भीतर सद्भावके अनुसार कर्मकी पूर्णलीला, चित् भावके अनुसार ज्ञानकी पूर्णलीला और आनन्दभावके अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होगी। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णके लीलाकालमें कार्यब्रह्मके भीतर नाना प्रकारके अनन्त विचित्र कर्म संघटित हुये थे, उपासनाभावके अन्तर्गत मुख्यरस और गौणरस-रूपसे जो चतुर्दश प्रकारके रसोंका वर्णन पा[illegible]ता है सभीके साधक भक्त उनके लीलाकालमें देखनेमें आये थे और अनन्त ज्ञानसमुद्रके जितने तरङ्ग हो सकते हैं सभीके प्रभाव उनके विचार तथा कार्य समूहमें प्रकट हुए थे, यही अनन्त विस्तारमयी कर्मोपासना और ज्ञानसम्बन्धी उनकी पूर्णावतारलीलाका रहस्य है। अतः श्रीकृष्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न करना व्यर्थ है कि, उन्होंने इस प्रकारसे इतने कर्म क्यों किये? इस प्रकारसे रासलीला आदि क्यों की? इसका कारण यह है कि, पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर इस प्रकार जीवोंका उत्पन्न होना और इस प्रकारसे अनन्त कर्म, चतुर्दश रसोंका मधुर विलास, गूढ़ ज्ञानका अपूर्व विलास सभीका होना प्राकृतिक नियम तथा विज्ञानके अनुकूल ही था। बल्के यदि इस प्रकारसे अनन्तकर्म, अनन्त रस और अनन्तज्ञानका विस्तार उस समय न होता तो उनकी पूर्णावतारकी लीला अधूरी रह जाती और वे पूर्णावतार नहीं कहला सकते। अतः शास्त्रज्ञ गम्भीर पुरुषोंको इस प्रकार सन्देहजालमें फंसना नहीं चाहिये। अब नीचे क्रमशः उनकी कर्मोपासनाज्ञानमयी लीलाओंका पृथक् पृथक् स्वरूप निर्णय किया जाता है।

अंशावतारके साथ पूर्णावतारके स्वरूपका भेद यह है कि, अंशावतारका समस्त कार्य किसी एक भावकी मुख्यता लेकर होता है, परन्तु पूर्णावतारके कार्यमें किसी भी भावका पक्षपात नहीं रहता है। उनके सभी कार्य भावातीत होते हैं।

श्रीकृष्णकी कर्मलीला।

और भूभार हरणके द्वारा समस्त संसारका कल्याण है। इसलिये समष्टि और व्यष्टिगत धर्म्मके विचारसे द्रोणाचार्य्यका मरण होना ही उस समय धर्म्म था और यदि उसके लिये किसीको असत्य भी बोलना पड़े तो असत्य भी धर्म्म था। पूर्णज्ञानी पूर्णावतार श्रीकृष्णके हृदयमें इस धर्मसंकटकी मीमांसा दृढ़मूल थी, इसलिये उनको इस संसारके कल्याणकी बुद्धिसे किसीसे असत्य कहलानेमें भी संकोच नहीं था, इसके सिवाय स्वाभिमान और स्वार्थशून्य होनेके कारण उनके भावातीत स्वरूपके साथ सत्यासत्य भाषणका, पुण्य पापका कोई सम्पर्क नहीं था, यही कारण है कि, श्रीकृष्णजीपर मिथ्या भाषण करानेका कोई पाप न हुआ और वे सीधे अपने धामको चले गये। परन्तु युधिष्ठिरमें इस प्रकारकी ज्ञानमयी उदार बुद्धि नहीं थी। युधिष्ठिरको कभी नरकदर्शन नहीं करना पड़ता, यदि स्वाभिमानको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी बुद्धिसे विचार करते कि, व्यक्तिगत धर्मके साथ समष्टिगत धर्म्मकी तुलनाके तथा उस देश कालमें जगत् कल्याणके विचारसे झूठ बोलना ही उस समय धर्म्म है। दूसरी बात ज्ञानका इतना ऊंचा अधिकार न होनेपर भी भक्तिके पक्षका भी आश्रय लेकर महात्मा युधिष्ठर इस प्रकार विचार करते कि, श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णब्रह्म नारायण और परमज्ञानी गुरु हैं संसारमें धर्म्मरक्षाके लिये इनका अवतार हुआ है; इसलिये अपना यह कर्त्तव्य है कि, जैसी वे आज्ञा करें गुरुबुद्धिसे उसको मानते जायँ और फलाफल उन्हींमें अर्पण करते जायँ। इस प्रकार भक्तिमूलक समर्पण-बुद्धि होनेपर भी युधिष्ठिरको नरक देखना नहीं पड़ता। सो उनमें दोनों भावोंमें कोई भाव भी नहीं था अर्थात् न उनमें श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी उदारबुद्धि ही थी और न भक्तिके द्वारा समर्पण बुद्धि ही थी, उनमें केवल कार्पण्यदोष था जिसके कारण, ऐसा कहें कि न कहें इस प्रकार उनके चित्तमें सन्देह था और अन्तमें कर्मचक्रके अनुसार श्रीकृष्णके प्रभावमें भी आ गये, जिस कारण 'अश्वत्थामा हतः' इतना शब्द जोरसे और 'नरो वा कुञ्जरो वा' इतना धीरेसे कहना स्वीकार कर लिया। इसी कार्पण्यदोषके कारण मिथ्याभासने युधिष्ठिरको नरकदर्शन करना पड़ा। यही पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें निष्काम कर्म्मयोगकी भावातीत गति है, जिसका आश्रय करके अपूर्व रूपसे संसारका कल्याणसाधन कर दिया था और धर्म्माधर्म्म सत्यासत्य और पाप पुण्य आदि द्वन्द्वके सम्पर्कसे रहित होकर अनायास अनन्त धामको प्राप्त भी हो गये थे। ऐसे ऐसे

अनेक धर्मसंकटोंकी मीमांसा इनके कर्मजीवनमें मिलती है, जिससे कर्मके साथ साथ ज्ञानका सामञ्जस्य उनके जीवनमें पाया जाता है।

इस प्रकारसे उनके जीवनके स्तर स्तरमें उदार धर्मनीति, पूर्णज्ञान, पूर्ण-कर्मयोग, भावातीत अलौकिक भाव तथा जगत् कल्याण करनेके बहुत बहुत दृष्टान्त मिलते हैं जो पूर्व वर्णित विज्ञानके अनुसार विचार करनेपर सम्पूर्ण युक्तियुक्त सिद्ध हो जाते हैं। अपनी अवतारलीलाके बीचमें श्रीकृष्णजीको कई सहस्र कन्याओंका पाणिग्रहण करना पड़ा था। परन्तु उन सभी विवाहोंका मूल खोजनेपर यह पता लगेगा कि, उन्होंने अपनी किसी लौकिक इच्छाको चरितार्थ करनेके अभिप्रायसे लौकिक जनोंकी तरह कोई भी विवाह नहीं किया था। उनके सभी विवाह पतिभावमें तपस्यापरायण स्त्रीपुरुषोंको तपःफल प्रदानके अर्थ ही हुए थे। जिस प्रकार 'श्रीभगवान् जैसे मेरे पुत्र हो,' इस कामनासे तपस्या करनेके कारण श्रीभगवान्को वसुदेव देवकीका पुत्र बनना पड़ा था, जिस प्रकार, "श्रीभगवान्से शरीर, मन, प्राण द्वारा रमण प्राप्त हो" इस भावसे तपस्यापरायण मुनियोंको और श्रुतियोंको गोपीरूपसे जन्मदान करके पतिभावमें उनसे प्रेम करना पड़ा था, ठीक उसी प्रकार रुक्मिणी आदि अनेक स्त्रियोंको जिन्होंने "श्रीभगवान् मेरे पति हो जांय" इसी कामनासे तपस्या की थीं, केवल उनको तपःफल देनेके लिये ही कृष्णावतारमें श्रीभगवानको पत्नीरूपमें ग्रहण करना पड़ा था। उसमें अपनी ओरकी कामना कारण नहीं थी, क्योंकि आत्माराम, भावातीत भगवान्में कामना ही क्या हो सकती है, केवल भक्तोंकी ओरकी ही कामना इन सब विवाहमें कारण-स्वरूप थी और जब भगवान् धर्मार्थकाममोक्षके चतुर्वर्ग फल प्रदानके लिये चतुर्हस्त हैं, तो यदि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र इस प्रकारसे भक्तोंका मनोरथ उनके अधिकार, तपस्या तथा साधनानुसार पूर्ण न करते, तो उनके भगवत्स्वरूपमें असम्पूर्णता रह जाती। यही श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका षोडश सहस्र रानियोंको ग्रहण करनेका कारण था। केवल भक्तके मनोरथकी पूर्ति ही लक्ष्य होनेके कारण उन सब स्त्रियोंसे मायाके आश्रय द्वारा उत्पन्न लक्ष लक्ष यादवगणको अवतारलीलाके समाप्त होते समय देशद्रोही और प्रमादी जानकर उन्होंने ब्रह्मशापके छलसे स्वयं ही मरवा दिया था और स्वयं भी अपने धामको सिधार गये थे। यही सब उनके जीवनमें कर्म और ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्य है।

कर्मके सदृश उपासनाका भी पूर्ण आदर्श श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार कृष्णचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपसे प्रकट हुआ था। यह सिद्धान्त पहले ही निर्णय किया गया है कि, श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप होनेसे पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश होना स्वतः सिद्ध है। इसी कारण श्रीकृष्णके जीवनमें जैसा कि पहले बताया गया है सत् भावसे कर्मका और चिद्‌भावसे ज्ञानका पूर्णविकाश हुआ था। आनन्दभाव सत् और चित्‌में व्यापक है, इसलिये उनके कर्म्म और ज्ञानमय जीवनके भीतर आनन्दभावका भी पूर्णविकाश हुआ था। श्रीभगवान् रसरूप हैं, उनकी यह रसमय आनन्दसत्ता ही संसारमें स्नेह, प्रेम, भक्ति, काम, मोह, श्रद्धा, वात्सल्य, ममता आदि नाना भावसे मायाके द्वारा विकाशको प्राप्त होती है। भक्तिशास्त्रमें इन सब रसोंको चतुर्दश भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा—वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि सप्त गौणरस और दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्या सक्ति आदि सप्त मुख्यरस। अतः श्रीभगवान्‌में जब सब रस विद्यमान हैं, तो उनके पूर्णावतारमें इन सभोंकी लीला अवश्य ही प्रकट होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें समस्त मुख्यरस और समस्त गौणरसकी लीला प्रकट हुई थी। उनकी लीलामें सात प्रकार मुख्यरसके द्वारा साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे और सात प्रकारके गौणरसके द्वारा भी साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे। अतः रासलीला, विश्वरूप प्रदर्शन, वस्त्रहरण, बाललीला आदियोंके द्वारा मधुर, अद्भुत, हास्य, वात्सल्य, कान्त, दास्य आदि चतुर्दश रसोंका विकाश होना पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें स्वतःसिद्ध था। अब इनका विकाश पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें कैसे हुआ था उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा-वीररसके लिये भीष्मपितामह, करुणरसके लिये सखीगण, बीभत्सरसके लिये अघासुर, रौद्ररसके लिये इन्द्रदेव, अद्भुतरसके लिये अर्जुन और यशोदा, हास्यरसके लिये गोपाल बालकगण और भयानकरसके लिये कंस, यह सातों उनके जीवनमें गौणरसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार वात्सल्यरसके लिये नन्दयशोदा, दास्यरसके लिये अक्रूर, सख्यरसके लिये अर्जुन और कान्तरस, गुणकीर्तनरस, आत्म निवेदनरस तथा तन्मयरसके लिये व्रजगोपिकाओंका माहात्म्य जगत्प्रसिद्ध है। इस प्रकारसे सप्त गौणरस और सप्त मुख्यरसरूपसे सब रसोंका विकाश

श्रीकृष्ण-जीवनमें उपासना लीला।

श्रीभगवान्की लीलासे प्रकट हुआ था। ईश्वरमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंकी पूर्णता है, इसलिये पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रमें भी ऐश्वर्य और माधुर्यकी पूर्णता प्रकट हुई थी। कर्मजीवनमें उनका ऐश्वर्य प्रकट हुआ था। उपासनाजीवनमें उनका माधुर्य प्रकट हुआ था। उसी माधुर्यकलाके विकाशके लिये ही श्रीकृष्णकी बांसुरी है, जिसमेंसे समस्तरसोंके राग निकलकर समस्तरसोंके द्वारा उपासनापरायण भक्तजनोंका मनोमोदन करते थे। संसारमें जीवोंकी चित्तवृत्ति पूर्व कर्मानुसार हुआ करती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कृष्णावतारके समय जितने प्रकारके भक्त कृष्णलीलाक्षेत्ररूप भारतवर्षमें प्रकट हुए थे उनकी चित्तवृत्ति अनेक पूर्वकर्मोंके वैचित्र्यके कारण नाना प्रकारकी हुई थी, अर्जुनके साथ नर नारायणरूपमें पूर्वजन्मसे सख्यभावका ही सम्बन्ध था, इसलिये अर्जुनने सख्यभावसे ही श्रीभगवान्के साथ प्रेम किया। गोपाल बालकोंके साथ देवराज्यमें पूर्व सम्बन्ध रहा था इसलिये उन्होंने हास्य, सख्य आदि रसोंके द्वारा ही श्रीभगवान्की भजना की। कंस शिशुपाल आदिके साथ द्वेषभावका ही पूर्व सम्बन्ध रहा इसलिये उन्होंने द्वेषभावके द्वारा ही श्रीभगवान्में तन्मय होकर वैष्णवी मुक्ति प्राप्त करली। वसुदेवदेवकीके साथ वात्सल्यभावका ही पूर्वकर्मसम्बन्ध रहा इसलिये उन दोनोंने वात्सल्यभावके द्वारा ही श्रीभगवान्के साथ प्रेम करके परमा गति प्राप्त की। परम प्रेमवती व्रजगोपिकाओंके पूर्वकर्मोंके विषयमें पहले ही प्रमाणोंके साथ विस्तारितरूपसे वर्णन किया है कि, गोपियां सामान्य गोपकन्या नहीं थीं, उनमेंसे राधिका तो साक्षात् मायारूपिणी थी और अन्यान्य गोपियां कोई श्रुति थी, कोई मुनि थी, कोई देवी थी। उन सभोंने शरीर मन प्राणके द्वारा श्रीभगवान्के साथ स्थूल रूपमें मिलनेके लिये ही पूर्वजन्ममें सहस्रों वर्षोंतक घोर तपस्या की थी। अतः पूर्व तपस्याके अनुसार उनका कृष्णावतारके समय व्रजमें जन्म होना और स्थूल सूक्ष्म आदि समस्त शरीरोंके साथ प्रेम करनेका संस्कार रहनेके कारण स्त्रीशरीरमें जन्म होना उन सभोंके पूर्वकर्मानुकूल ही था। इसी कारण व्रजगोपिकाओंने श्रीभगवान् मन्मथको भी मथन करनेवाले कृष्णचन्द्रके साथ कांताभावसे प्रेम किया था। श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि ग्रंथोंमें जो कहीं कहीं ऐसा वर्णन देखनेमें आता है कि, व्रजगोपिकागण श्रीकृष्णके साथ स्थूल शरीरका सम्बन्ध करना चाहती हैं और उनमें कामका भी आवेश हुआ है सो उनके पूर्व संसारके अनुसार अवश्यम्भावी है। क्योंकि, यह बात पहले ही

कही गयी है कि, उन मुनियोंने तथा श्रुतियोंने स्थूल शरीरके द्वारा श्रीभगवान्के साथ रमण करनेकी वासनासे ही पूर्वजन्मोंमें कठोर तपस्या की थी। अतः श्रीभगवान् कृष्णचंद्रके अलौकिक, परम सुन्दर मनोरम स्थूल शरीरकी कान्तिके देखनेसे उनके हृदयमें अवश्य ही पूर्व जन्मका संस्कार जाग उठेगा और स्थूल शरीरसे उनको आलिङ्गन आदि करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी, अनङ्गका भी आवेश हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इस प्रकार स्थूलभावसे प्रेमवती गोपियोंका उद्धार श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने किस प्रकारसे किया था। श्रीभगवान्ने अपने ही मुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

मुझमें मग्नचित्त होकर यदि जीवमें काम भी हो जाय तथापि वह काम वृद्धिप्राप्त हो नहीं सकता है। जिस प्रकार भुने हुए बीजसे अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती है, उस प्रकार मुझमें अर्पित काम भी वासनाको उत्पन्न न करके शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इसी वचनके अनुसार श्रीभगवान् चतुर्दश रसोंमेंसे चाहे किसी रसके द्वारा उनके प्रति प्रेम करनेवाला क्यों न हो, सभीका उद्धार भक्तोंकी प्रकृतिके अनुसार करते थे। जीवकी प्रकृतिपर बलात्कारके द्वारा कार्य करना पूर्ण पुरुषके स्वरूपके अनुकूल नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें प्रकृतिके विरुद्ध होनेके कारण अनिष्ट और अवनतिकी आशङ्का रहती है। प्रकृतिको सरल करते हुए उसीके द्वारा ही उसीका नाश करना यथार्थ धर्म और ज्ञानानुकूल कार्य है, इसलिये ज्ञानी गुरु श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने इसी प्रकारसे पूर्व कर्मानुकूल प्रकृति तथा प्रवृत्तिको देखकर उसीके अनुसार समस्त भक्तोंका यथोचित उद्धार किया था। किसी भी भावके द्वारा श्रीभगवान्में आसक्त होनेपर भी श्रीभगवान्के सर्वशक्तिमान् होनेसे भक्त उसी भावके द्वारा भगवान्में तन्मय हो सकता है और तन्मयता होनेपर मनका लय हो जाता है, जिससे भक्तका भाव ही नष्ट होकर भावातीत भगवान् उनको प्राप्त हो जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतके १० में अध्यायमें—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, मैत्री आदि किसी भावके द्वारा श्रीभगवान्‌में आसक्त होनेपर उनकी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे भक्त उनमें तन्मय हो जाता है। कामादि किसी मानसिक भावका अस्तित्व तबतक जीवमें रहता है जबतक उन भावोंके उत्पत्तिस्थान मनका अस्तित्व विद्यमान रहे। परन्तु जिस समय कामादि भावके द्वारा भगवान्‌में आसक्तचित्त भक्तको श्रीभगवान् अपनी शक्ति द्वारा आकर्षण करके अपनेमें तन्मय कर लेते हैं उस समय तन्मयता द्वारा मनोनाश होनेसे मनमें रहनेवाले कामादि भाव समूल नाशको प्राप्त हो जाते हैं और भक्त समस्त लौकिक वासनाओंसे रहित होकर लोकातीत भगवद्भावमें लवलीन हो मुक्ति पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। यही भाव अनेक प्रकारके पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके भक्तोंके द्वारा श्रीकृष्णभगवान्‌की उपासनामयी लीलामें प्रकट हुआ था और द्वेष, काम, वात्सल्य आदि सभी भावोंको इसी प्रकारके श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अपनी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे तन्मयभाव द्वारा नाश करके भक्तोंको परमा वैष्णवी गति प्राप्त कराई थी। अचल गम्भीर समुद्रकी तरह उनके धीर पूर्ण स्वरूपमें सभी भाव चञ्चल नदियोंकी तरह लयको प्राप्त हो जाया करते थे और इसी प्रकारसे गोपिकादि भक्तगण पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न समस्त लौकिक चांचल्योंसे रहित होकर परम पदको प्राप्त हो गये थे। यही श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें उपासनाकी पूर्णतामयी चतुर्दशरसमयी मधुर लीला है।

कृष्णजीवनमें ज्ञानलीला।

कर्म और उपासनाकी तरह ज्ञानका भी पूर्ण प्रकाश श्रीकृष्णचन्द्रकी अवतारलीलामें हुआ था इसमें सन्देह नहीं है। पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा संशयदोषयुक्त जड़ताग्रस्त अर्जुनको गीता और अनुगीताके उपदेशच्छलसे संसारकी शिक्षाके लिये उन्होंने प्रकट की थी उसकी तुलना संसारमें कहीं नहीं हो सकती है। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये इतने उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं थी, जितना उन्होंने गीताके भीतर दिया है। वह उपदेश केवल समस्त संसारके कल्याण-साधनके लिये ही था। जिस प्रकार भूभारहरणके लिये कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुन निमित्त मात्र थे, उसी प्रकार संसारके प्रति गीताके उपदेशके लिये भी अर्जुन निमित्त मात्र ही थे।

गीता पूर्ण ज्ञानकी गङ्गा है, गीता अमृतरसकी अजस्र धारा है। गीतामें कर्मोपासनाज्ञानकी त्रिधारा गङ्गा यमुना सरस्वतीकी त्रिधाराकी तरह परस्पर सम्मिलित होकर दिव्य प्रयागकी सृष्टि हुई है जिसमें भावुक भक्त अवगाहन स्नान करके अनन्तानन्दमय निःश्रेयस पदको अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। गीता दुस्तर संसार सागरसे पार उतरनेके लिये अमोघ तरणी है, गीता भावुक जनोंके लिये गम्भीर तरङ्गमय भावसमुद्र है। गीता, कर्मयोगपरायण महात्माको उत्तरायण गति द्वारा सत्यलोकमें ले जानेके लिये दिव्य विमानरूप है, गीता ज्ञानयोगनिष्ठ महात्माको जीवन्मुक्त बनानेके लिये अमृत समुद्ररूप है, गीता संसार मरुभूमिमें जले हुए दुःखित जीवनके लिये मधुर जलसे पूर्ण मरूद्यान (मरुस्थलका बगीचा) है, कितना कहा जाय संसारमें गीताकी अपूर्व माधुरीका वर्णन ही नहीं हो सकता है। संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके प्रकाश द्वारा श्रीभगवान्‌ने उपनिषदोंका सारतत्त्व प्रकट किया है। कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका विज्ञानांश गीतामें प्रकट है। परन्तु ज्ञानप्रकाशकार्य्यमें इतना ही करके वे निवृत्त नहीं हुए थे। उनकी मनुष्य लीलामय जीवनी ज्ञानके सब विभागोंकी पूर्णतासे पूर्ण थी। यद्यपि समष्टिरूपसे ज्ञानके सब विभागोंका सारांश और धर्मके सब विभागोंका विज्ञान और वेदके तीनों काण्डोंका रहस्य श्रीगीताजीमें प्रकट है, परन्तु श्रीभगवान्‌ने पृथक् पृथक् रूपसे ज्ञानके सब विभागोंको प्रकाश अपने आदर्श जीवन द्वारा करके दिखला दिया था। साधारण धर्मके गूढ़ रहस्योंका विज्ञान उन्होंने अर्जुन और महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख प्रकट किया था। महाभारतमें उन प्रकरणोंके पाठ करनेसे विदित होता है, कि, धर्मके पूर्ण रहस्यको उन्होंने इस प्रकारसे प्रकट किया है, मानों धर्मसम्बन्धमें वेदका विज्ञान जगत्‌के सम्मुख प्रकट करनेके लिये ही उनका अवतार हुआ था। नारीधर्मका जगत्पवित्रकर रहस्य और नारीधर्मसे अतीत लोकोत्तर प्रेमका विज्ञान श्रीभगवान्‌ने व्रजलीलाके प्रसङ्गसे गोपिकाओंको उपदेश दिया था जिसका विवरण श्रीविष्णुभागवत्‌में देखनेसे धर्मज्ञमात्र ही समझ सकेंगे कि, नारीधर्मरूपी विशेष धर्मका विज्ञान इस प्रकारसे उन्होंने जगत् कल्याणार्थ प्रकाशित किया है, मानों नारीधर्मकी मर्यादारक्षाके अर्थ ही उनका अवतार हुआ था और मानों नारीधर्मको पवित्र रखकर प्रेमकी अपूर्व माधुरीसे जगत्‌को तृप्त करनेके अर्थ ही वे अवतीर्ण हुए थे। पुरुषधर्मविज्ञान, राजधर्मविज्ञान, समाजनीति

विज्ञान, साधारणधर्म्म-विज्ञान, आपद्धर्म्म-विज्ञान, धर्म्मयुद्धनीति-विज्ञान, वर्णाश्रमधर्म्म-विज्ञान इत्यादि ज्ञानकाण्डके सब अङ्गोंका पूर्ण विकाश श्रीभगवान्‌के लीलाविग्रहकी कथाओं और उनके उपदेशसमूहके द्वारा महाभारत आदि ग्रन्थोंमें प्रकट है, यही सब श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके ज्ञानमय जीवनका अपूर्व आदर्श रूप है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार होनेके कारण श्रीकृष्णके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञानको अपूर्व सामञ्जस्ययुक्त पूर्ण आदर्श प्रकट हुआ था। यही संक्षेपसे वर्णित पूर्णावतार श्रीकृष्णकी अतिगूढ़ रहस्यमयी लीला है।

शंका समाधान।

कराल कलिकालकी विपरीत गति है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिमयी मधुरलीलाको ही कलिकालके मनुष्योंने न समझकर बहुत प्रकारके दोषारोप करना प्रारम्भ कर दिया है। इसलिये श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र और गोपियोंके चरित्रोंका वर्णन करके उन सब शङ्काओंका समाधान किया जाता है। रासलीलामें जिस प्रकार कार्य्य हुए थे उन सबोंपर विचार करके देखनेसे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान पूर्णतया हो सकता है। यह बात भागवत्‌में प्रसिद्ध है—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

श्रीकृष्णजीने रासलीला करते समय दो दो गोपियोंके बीच एक एक होकर हजारों मूर्त्तियां धारण कर ली थीं और जिस रात्रिको रासलीला हुई थी उस रातको जो गोपियां घरको छोड़कर चली आई थीं, उन गोपियोंकी भी एक एक मूर्त्ति धारण करके उनके पतियोंके पास भगवान् विद्यमान थे। जैसा भागवतमें लिखा है कि:—

नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः॥

भगवान्‌की मायासे मुग्ध होकर व्रजके गोपोंने अपने पास अपनी अपनी स्त्रियोंको देखा था जिससे उनको नहीं जान पड़ा कि, उनकी स्त्रियां चली गई हैं। अतः इससे सिद्ध होता है कि, उस रात्रिको भगवान्‌ने हजारों स्त्रियोंका रूप और पुरुषोंका रूप धारण किया था। अब विचार करनेका विषय यह है कि, एक स्थूल शरीर और एक सूक्ष्म शरीरको हजारों स्थूल

शरीर और हजारों सूक्ष्म शरीर बनादेना जब योगशास्त्रका विषय है तो योगके किस अधिकारमें योगी इस प्रकार बन सकता है। योगदर्शनमें एक सूत्र है कि:—

निर्म्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

स्वरूपस्थ जीवन्मुक्त योगी यदि अपने प्रारब्ध कर्म्मको शीघ्र भोग करके समाप्त करना चाहे तो अनेक स्थूल शरीर और अनेक सूक्ष्म शरीरको बनाकर भोग कर सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझा जाय कि, यदि प्रारब्धकर्म्मके अनुसार किसी योगीकी आयु पचास वर्षकी हो, परन्तु वह योगी योगरूपी अलौकिक पुरुषार्थके द्वारा तीस वर्षमें जीवन्मुक्त होजाय तो उनकी आयु पचास वर्ष होनेके कारण और बीस वर्षमें भोगे जानेवाले प्रारब्धकर्म्म बाकी रहेंगे, यह समझना होगा, क्योंकि यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि:—

प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः।

प्रारब्धकर्मोंका क्षय भोगसे ही हो सकता है। अब यह बीस वर्षका कर्म्म वह योगी चाहे तो बीस वर्षमें ही भोग कर सकता है, या उससे कम समयमें भी भोग कर सकता है। यथा-यदि उस योगीकी प्रकृति वैसी ही हो कि, बीस वर्षके भोगको चार वर्षमें भोग करना चाहे, तो एक स्थूल सूक्ष्मको पांच स्थूल सूक्ष्म शरीर बनाकर योगी बीस वर्षके कर्म्मोंको चार वर्षमें ही भोग कर डालेंगे, परन्तु इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म शरीर बनाना उन्हीं योगीके लिये ही सम्भव है कि, जो स्थूल और सूक्ष्म शरीरके बन्धनसे मुक्त हैं; अर्थात् जीवन्मुक्त हैं। स्थूल भूतोंको इकट्ठा करके स्थूल शरीर तभी बनाया जा सकता है कि, जब स्थूल भूतोंपर अधिकार जमजाय। उसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंको इकट्ठा करके अन्तःकरण आदि सूक्ष्म शरीरको बनाना योगीके लिये तभी सम्भव हो सकता है कि, जब सूक्ष्म तत्त्वों पर भी अधिकार जमजाय। स्थूल सूक्ष्म दोनों तत्त्वोंपर अधिकार तभी जम सकता है कि, जब योगी दोनों तत्त्वोंसे अलग होजाय, क्योंकि, जो जिससे पृथक् है या ऊँचा है वही उसपर अधिकार जमा सकता है। विषयी पुरुष ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि, विषयी लोगोंके आत्मा, मन, इन्द्रियों और सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे; तत्त्वोंपर अधिकार जमानेकी शक्ति उनमें नहीं हो सकती है। यह काम वीतराग जितेन्द्रिय योगी कर सकते हैं,

विषयी पुरुष नहीं कर सकते । इससे सिद्ध हुआ कि, श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी निर्लिप्त, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और योगी थे, क्योंकि, ऐसा न होता तो श्रीकृष्णचन्द्रजी कभी स्थूल सूक्ष्म तत्त्वोंपर अधिकार जमाकर हजारों स्थूल, सूक्ष्म शरीर धारण नहीं कर सकते थे। इसलिये जिस रासलीला पर लोग कटाक्ष करते हैं, उसी रासलीला पर विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि, श्रीकृष्णचन्द्रजी पूरे जितेन्द्रिय योगी थे, उनमें कामका लेशमात्र नहीं था। इसलिये भगवान् वेदव्यासने कहा है कि:—

योगेश्वरेण कृष्णेन ।

योगेश्वर श्रीकृष्णने इतने शरीर धारण किये। यदि उनमें काम होता तो "योगेश्वर" न लिखकर "कामेश्वर" लिखते। यही अकाट्य योगकी युक्ति श्रीकृष्णके चरित्रको अच्छी तरह प्रमाण कर देती है, क्योंकि, जब पुरुष जितेन्द्रिय हो तो स्त्री उसका क्या कर सकती है। इसलिये गोपियाँ किसी प्रकारकी ही क्यों न हों उसमें श्रीकृष्णकी कोई हानि नहीं थी और इसीलिये ही भागवतमें लिखा है कि:—

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः ।

अपनेमें ब्रह्मचर्य्यको रोककर उनको सन्तुष्ट किया। श्रीकृष्णचन्द्रजीमें काम नहीं था। वे कैसे थे सो संसार जानता है। और जानता ही क्या है भगवान्ने गीतामें स्वयं ही कहा है कि वे कौन थे। यथा-गीतामें:—

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्व्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

जिस प्रकार नदियां स्थिर, गम्भीर, पूर्ण और विशाल समुद्रमें प्रवेश करके अपनेको समुद्रमें मिला देती हैं, उनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती; उसी प्रकार जिस महान् पुरुषके उदार चित्तरूपी महान् समुद्रमें समस्त कामना आकर लय हो जायं, वही शान्तिको प्राप्त करता है, कामनापरायण जीवको शान्ति नहीं मिलती। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सामान्य कामनापरायण जीवके समान स्त्रियोंको देखकर भाग नहीं जाया करते थे, किसी दूसरेमें

कामको देखकर दुर्बलकी तरह भाग जानेवाला मनुष्य पूर्ण नहीं बन सकता, क्योंकि, श्रुतिमें लिखा है कि:—

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

दुर्बल मनुष्य आत्माको नहीं प्राप्त कर सकते, तेजस्वी पुरुष ही आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। श्रीकृष्णका उदार हृदय इस प्रकार तेजस्वी और पूर्ण था कि, जिस पर अपनी कामनाकी तो बात ही क्या है, किसीकी कामना भी प्रभाव-विस्तार नहीं करती थी। परन्तु जो भक्त जिस प्रकारकी कामनाको लेकर आया करते थे, समुद्रमें नदीकी तरह उनके पास आकर सबोंकी सब कामनाएं नष्ट हो जाती थीं, जिससे भक्तोंकी मुक्ति हो जाती थी, यही भगवान्का स्वरूप था और भगवान्का स्वरूप क्या था सो शास्त्रोंमें मुक्त पुरुषके लक्षण-रूपसे वर्णन किया गया है। मुक्त पुरुष स्फटिक मणिकी तरह होते हैं और कमल-दलस्थित जलके सदृश निर्लिप्त होते हैं। जिस प्रकार स्फटिक मणिके सामने लाल फूल आनेसे स्फटिक लाल वर्ण प्रतीत होता है, पीला फूल सामने आनेसे स्फटिक पीला रंगका दिखाई देता है, इस प्रकार जो रंग सामने लाया गया वही रंग स्फटिकका दिखाई देने लगता है, परन्तु वास्तवमें स्फटिकके वे सब रंग नहीं हैं, स्फटिक स्वच्छ निर्मल है, मुक्त पुरुषका अन्तःकरण ऐसा ही होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं, उनके सदृश ही बनजाते हैं। यथाः—

बाले बाला विदुषि विबुधा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाऽऽम्नायलीलागृहाणि।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान्पण्डिते पण्डितोऽसौ,
दीने दीनः सुखिनि सुखवान्भोगिनि प्राप्तभोगः।
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
धन्यः कश्चित्त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः॥

समस्त प्राकृतिक भावोंसे परे स्थित ब्रह्मरूप मुक्त पुरुष बालकके सामने बालक, विद्वानके सामने विद्वान्, गायकके सामने श्रेष्ठ गायक, वीरके सामने वीर, वेदज्ञके सामने वेदज्ञ, सिद्धोंके सामने सिद्ध, मुनिके सामने

मुनि, महात्माओंके सामने महात्मा और प्रौढके सामने प्रौढ बन जाते हैं; अधिक कहना ही क्या है, जो जिस प्रकारका है उसके सामने उसी प्रकार बन जाते हैं। उनके अपने स्वरूपमें कोई हानि नहीं होती, और न उनका अपना स्वरूप ही बदलता है। अतः स्वरूपमें स्थित होकर ही मौनीके सामने मौनी, गुणीके सामने गुणवान्, पण्डितके सामने पण्डित, दीनके सामने दीन, सुखीके सामने सुखी, भोगीके सामने प्राप्त भोगी, मूर्खके सामने मूर्ख, युवतीके सामने युवक वक्ताके सामने प्रौढ वक्ता और अवधूतके सामने अवधूत बन जाते हैं; इस प्रकारके त्रिभुवनविजयी मुक्त पुरुष धन्य हैं। यही निर्लिप्तता-सब कुछ करनेपर भी कुछ भी न करनेका भाव, मुक्त पुरुष और पूर्ण पुरुषका लक्षण है। भगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण थे, इसलिये उनमें भी यही भाव था। यथा–भागवतमेंः—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजाम्
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड् विदुषाम्
तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गङ्गतः साग्रजः॥

स्फटिक मणिकी तरह पूर्ण निर्लिप्त भगवान् कृष्णचन्द्रजी मल्लोंके लिये वज्ररूप थे, मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मनुष्य थे, स्त्रियोंके लिये मूर्त्तिमान् मन्मथ थे, गोपोंके लिये आत्मीय थे, दुष्ट राजाओंके लिये दमन करनेवाले थे, अपने माता पिताके लिये छोटे शिशु थे, भोजपति कंसके लिये मृत्युरूप थे, सगुण उपासकके लिये विराट्रूप थे, निर्गुण उपासक योगियोंके लिये निराकार परमात्मा थे, और यादव कुलके लिये परम देवता थे। इसी प्रकार एक ही भगवान् अनेकरूप थे। यही पूर्णताका लक्षण है। भागवतके वर्णनको देखनेसे सिद्ध होता है कि, गोपियां भी जानती थीं कि, श्रीकृष्ण सामान्य पुरुष नहीं हैं, किन्तु साक्षात् परमात्मा ईश्वर हैं। उन्होंने रास-

लीलामें या और स्थानोंमें, जैसा कि पहले कहा गया है, श्रीकृष्णको विभु, परमात्मा, परमेश्वर करके सम्बोधन भी किया है। उनका इस प्रकार सम्बोधन करना प्रेमका पागलपन नहीं था, परन्तु यथार्थ ज्ञान था, जिस ज्ञानके होनेसे उन्होंने कात्यायनी व्रतका अनुष्ठान किया था। अब इस बात पर विचार कर सकते हैं कि, संसारमें ऐसी कोई स्त्री नहीं है जो कि, पुरुषको दुर्बल और कामुक जाननेपर भी उसके अधीन बन जाय और ऊंचे ऊंचे सम्बोधन करे। इस विषयको विषयी लोग खूब जानते हैं। स्त्रीजाति अभिमानिनी हुआ करती है। कामुक पुरुषोंको अपने अधीन करनेमें उनको आनन्द आता है। केवल जितेन्द्रियके पास वे दबती हैं। अजितेन्द्रिय पुरुषको वे वशमें रखकर स्वेच्छाचार करती हैं। इस-लिये यदि श्रीकृष्णजीमें किसी प्रकारका कामभाव होता तो गोपियां उनकी इतनी प्रशंसा नहीं करतीं और न उनके लिये रो रो कर इतनी प्रार्थना ही करतीं। ईश्वर और जीवमें भेद यह है; योगदर्शनमें लिखा है कि:—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पांचों क्लेशोंसे और कर्म्म, कर्म्मफल तथा संस्कारोंसे परे होते हैं। ईश्वर प्रकृतिके अधीन नहीं होते, माया ईश्वरके अधीन होती है। जीव ही मायाका दास होता है, इसलिये स्त्रीके वशमें होना जीवके लिये सम्भव है। ईश्वर स्त्रीके वशमें नहीं होते। इसी भाव-को लक्ष्मी, जो क्षीरसमुद्रमें सोये हुए विष्णु भगवान्‌के पांव दाबाया करती हैं, उनके द्वारा दिखाया गया है और इसी भावको ही रासलीलामें भी स्पष्टरूपसे दिखाया गया है। यथा—जहां गोपियोंमें थोड़ासा भी अभिमान आया कि, उसी समय भगवान् उनको छोड़कर अन्तर्धान हो गये। उनमेंसे जो अभिमा-निनी नहीं थीं और इसीलिये जो श्रीकृष्णको और भी थोड़ी देर तक देख सकती थीं, उन्होंने भी जब थोड़ी देरके बाद, अपनेको सबसे भाग्यवती समझ, अभिमान किया और श्रीकृष्णके कन्धे पर चढ़ना चाहा, तो श्रीकृष्णजी उनके अहंकारको तोड़नेके लिये, कन्धा बताकर नीचेसे अन्तर्धान हो गये; क्योंकि, श्रीकृष्ण तो ईश्वर थे, मायाके वश नहीं थे, इसलिये उनसे दब जाना उनके स्वरूपके विरुद्ध था। यदि श्रीकृष्ण सामान्य मनुष्य होते तो एकान्तमें रातके समय उस प्रकारकी परस्त्रीको पाकर रात भर आनन्दसे कन्धे पर लिये

फिरते, परन्तु भगवान् ऐसे न थे, भगवान् भगवान् थे, इसलिये उस गोपीने जब धृष्टता की, तब उसी समय उसको दण्ड दे दिया, यह सब उनके ईश्वर-भावका लक्षण है। इसलिये ही रासलीलाका वर्णन सुनकर जब महाराजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीसे पूछा कि यह कैसी बात है कि, धर्म्मके स्थापनके लिये अवतीर्ण भगवान्‌ने दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ इस प्रकार बर्ताव किया, जिसको परीक्षित्‌ने परदाराऽभिमर्षण करके कहा है। तब शुकदेवजीने परीक्षित्‌को श्रीकृष्णजीके यथार्थ रूपको समझाकर समस्त शंकाओंका समाधान कर दिया और मन्दमति कलियुगके जीवोंके लिये भी अपूर्व्व धर्म्मका उपदेश किया। यथाः—

धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याऽऽचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेन वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो!॥
किमुताऽखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाऽकुशलान्वयः॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता,
योगप्रभावविधुताऽखिलकर्म्मबन्धाः।
स्वैरञ्चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥
गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्व्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

लौकिक जगत्‌के लिये जो धर्म्म है, ईश्वरमें उस धर्म्मका व्यतिक्रम देखनेमें आता है, क्योंकि ईश्वरमें शक्ति अधिक होनेसे साहस भी अधिक है।

जैसा कि अग्नि समस्त वस्तुओंको दग्ध कर सकती है, इसी प्रकारसे तेजस्वी पुरुष भी लौकिक धर्म्मसे विरुद्ध धर्म्मके धक्केको भी सहन कर सकते हैं, इसीलिये उस प्रकारके विरुद्ध आचारसे उनको दोष नहीं लग सकता। जो ईश्वर नहीं है; अर्थात् जीवको इस प्रकारके आचार मनसे भी नहीं करना चाहिये, करने पर उसका नाश हो जाता है। जैसा कि शिवजी विषपान करने पर भी नीलकण्ठ बने हुए हैं, परन्तु साधारण जीव विषपान करनेसे मर जाता है। प्रत्येक धर्म्म या अधर्म्म तभी तक जीवको स्पर्श कर सकता है, जबतक जीवका जीवत्व रहे; अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रियों और स्थूल शरीरके साथ जीवका अहम्भाव या ममता रहे। परन्तु जिस समय ममताके नष्ट होनेसे आत्मा, शरीर और मनसे पृथक् हो जाता है, उस समय शुभ या अशुभ कोई भी कर्म्म जीवको स्पर्श नहीं करता है। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी जब साक्षात् नित्य मुक्त परमात्मा थे, स्थूल सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ उनका जब कोई ममत्व-सम्बन्ध नहीं था, तो कुशल या अकुशल, कोई कर्म्म उनको स्पर्श नहीं कर सकता है। जो परमात्मा मनुष्य, जन्तु, देवता, और समस्त प्राणियोंमें व्यापक, सबके प्रभु और प्रार्थनीय हैं, उनको कुशल अकुशल कैसे स्पर्श कर सकता है। जिनके चरणकमलके प्रभावसे योगी लोग कर्म्मबन्धनसे मुक्त होकर संसारको पवित्र करते हुए विचरण करते हैं, निराकार, केवल मायासे शरीरधारी उन परमात्माको बन्धन कैसे लग सकता है। जो स्वयं बद्ध है, वह दूसरेको मुक्त नहीं कर सकता है। शास्त्रोंमें कहा है कि:--

स्वयमसिद्धः कथं परान्साधयति।

स्वयं असिद्ध होनेसे दूसरोंको सिद्ध नहीं बना सकता है। श्रीकृष्णजी यदि स्वयं बद्ध होते तो दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकते थे, परन्तु हजारों योगी उनके चरणकमलके प्रतापसे मुक्त होगये, इसलिये श्रीकृष्ण बद्ध नहीं थे। बन्धन हो कैसे, क्योंकि, भगवान् गोपियोंके पतियोंमें और सकल जीवोंमें व्यापक सर्व्वान्तरात्मा थे। उनका शरीर धारण करना केवल भक्तोंपर दया करनेके लिये ही था। पुरुष स्त्रीसे तभी बद्ध हो सकता है कि, जब पुरुष अपनेको भोक्ता और स्त्रीको भोग्या समझे; अर्थात् स्त्रीमें या पुरुषमें परस्पर कामभोगकी इच्छा तभी रहसकती है जबतक स्त्री अपनेको पुरुषसे भिन्न

समझे और पुरुष अपनेको स्त्रीसे भिन्न समझे। मुक्त पुरुषको कामकी इच्छा इसलिये नहीं होती है कि, उनका द्वैतरूप अज्ञान नष्ट हो जानेसे वे स्त्री पुरुष सभीको अद्वितीय ब्रह्मरूपमें देखते हैं। उनकी स्त्री पुरुष-भेददृष्टि नष्ट हो जाती है, इसलिये कामकी इच्छा भी मूलसे ही नष्ट हो जाती है। श्रीकृष्णमें काम तभी हो सकता था यदि श्रीकृष्णजी गोपियोंसे भिन्न होते। परन्तु जब श्रीकृष्ण परमात्मा थे तो गोप भी वही थे, गोपी भी वही थे, पुरुष भी वही थे, स्त्री भी वही थे, तो स्वयं जब स्त्री पुरुष दोनों हीं हैं तो स्त्रीमें कामबुद्धि कैसे हो सकती है। और यह बात भी हम पहले कह चुके हैं कि एक ही श्रीकृष्णने रासलीलाके दिन हजारों पुरुष और हजारों स्त्रियोंका रूप धारण कर लिया था, तो गोपियोंके प्रति उनका काम भाव कदापि नहीं हो सकता है क्योंकि काम भाव अपनेसे पृथक् किन्हीं दूसरोंपर होता है, अपना कामभाव अपनेपर नहीं होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में लिखा है कि:—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि।

हे भगवन्! तुम स्त्री हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो और तुम्हीं जीर्ण वृद्ध होकर हाथमें दण्ड ले वञ्चना करते हो। इस प्रकारसे परमपुरुष सर्व्वव्यापी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं ही गोपी बनकर, स्वयं ही हजारों रूप धरकर, भक्तोंकी अपने अपने अधिकारके अनुसार मनोवासना पूर्ण करते हुए, सबके काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य्यको अपनेमें लय करते हुए, सभीको परमानन्दमय मुक्ति पदको प्रदान करते थे। उनमें किसीका काम असर नहीं करता था और न उनमें काम ही हुआ करता था। दूसरोंका कठिन काम भी उनमें आकर समुद्रमें नदीके तुल्य लय हो जाता था। यही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पर और एक दोष लगाया जाता है कि वे सामान्य चोरकी तरह गोपियोंके घरसे मक्खन चुराते थे। यह बात भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको न जानकर ही कही जाती है। क्योंकि जहां गोपियोंके घरसे मक्खन चुरानेकी बात लिखी है, वहां यह बात भी लिखी है कि श्रीकृष्णचन्द्रको उस प्रकारसे मक्खन लेनेमें किसी गोपीने कभी मना नहीं किया, अपिच सभी गोपियां चाहती थीं कि श्रीकृष्ण मक्खन ले जायं। और मक्खन निकालते

तथा दधि मन्थन करते समय सब गोपियां भगवान्के गुण गान करती थीं, एवं मन्थनके बाद सब कुछ चीजें भगवान्को निवेदन करती थीं। यथा—भागवतके दशमस्कन्धमें:—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

भगवान्में अनुरक्त गोपियां धन्य हैं, जो कि दूध दोहनेके समय और मक्खन निकालनेके समय मथनके शब्दके साथ साथ अपने प्रेम भरे शब्दोंको मिलाती हुई अश्रुकण्ठी हो भगवान्के मधुर गुणोंको गाती थीं।" जिनका समस्त कर्म, समस्त प्राण, समस्त मन भगवान्के प्रेममें ही निमग्न था, जिन्होंने अपने सर्व्वस्वको भगवान्के चरणकमलमें अर्पण कर दिया था, उनके लिये भगवान्को थोड़ासा मक्खन देना क्या बड़ी बात थी। इसलिये गोपियोंके घरसे श्रीकृष्णका मक्खन लेना चोरी नहीं हो सकता। चोर दूसरेकी चीजको उसकी अनिच्छासे चोरी करता है, उसकी इच्छासे नहीं। इच्छासे लेना चोरी नहीं कहलाता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि श्रीकृष्णजीकी माताके घरमें इतना दूध दही मक्खन था तो दूसरेके घरसे इस तरह लेनेकी आवश्यकता क्या थी। इसका पहला उत्तर यह है कि जब गोपियां भगवान्के नामसे सब कुछ समर्पण करती थीं तो भक्तवत्सल भगवान्के लिये उनकी समर्पित वस्तुओंका ग्रहण करना अपना कर्त्तव्य था। दूसरा उत्तर यह है कि अपनी माताकी चीजोंको छोड़कर संसारकी और चीजोंके लेनेमें संसारको तृप्त करना भगवान्का लक्ष्य था। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

> तस्मिँस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत्।

जिस विराट् पुरुषके उदरमें समस्त ब्रह्माण्ड भरा हुआ है, उनके पेट भरनेसे ब्रह्माण्डकी तृप्ति होती है। इसको महाभारतमें दृष्टान्तके द्वारा भी समझाया गया है। जिस समय दुर्व्वासा ऋषि अपने शिष्योंके साथ दुर्योधनके अतिथि हुए थे, उस समय दुर्योधनने सशिष्य दुर्व्वासाको भोजनसे तृप्त कराकर यही वर मांगा था कि "इसी प्रकार, पञ्च पाण्डव और द्रौपदी, जो कि आजकल बनवासमें हैं, उनके भोजनके बाद उनके मकानपर जाकर शिष्योंके

साथ आप (दुर्व्वासा) उनके अतिथि होवें"। इस बातको दुर्व्वासा ऋषिने स्वीकार कर लिया। तदनुसार पांचों पाण्डव और द्रौपदीके भोजनके बाद उनके स्थानमें जाकर अतिथि हुए। अब द्रौपदीके भोजनके बाद कुछ भी अन्न भोजनपात्रमें न रहनेसे दुर्व्वासाके शापके भयसे द्रौपदी और पञ्च पाण्डव बहुत भीत हुए और अन्तमें कोई भी उपाय न देखकर द्रौपदीने श्रीकृष्णकी स्तुति की। इसी भावको लेकर भागवतमें कहा है कि:—

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्रात्,
दुर्व्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीम्,
तृप्तामसंस्त सलिले विनिमग्नसंघः॥

दुर्योधनकी इस दुष्टतासे दस हजार शिष्योंके समेत महर्षि दुर्व्वासा पाण्डवोंके शिविरमें पहुँच गये, परन्तु द्रौपदीके खा चुकने पर सूर्य्यदत्त थालीमें कुछ भी अन्न न था; अगत्या द्रौपदीने जब श्रीकृष्णचन्द्रजीको याद किया, तो श्रीकृष्णचन्द्रजी द्रौपदीके पास आये और भोजन करनेको मांगा तो उनसे द्रौपदीने और भी रोकर कहा कि मेरे खानेके बाद थाली (सूर्य्यदत्त पात्र) में कुछ भी नहीं रहता है। इतने पर भी श्रीकृष्णचन्द्रजीने उस थालीको मंगवाकर देखा और उस थालीके किनारे लगा हुआ थोड़ा सा जो शाक था उसीको ही खाकर कह दिया कि:—

अनेन विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्।

मैं ही जब विश्वरूप हूँ तो मेरे इस भोजनसे विश्वात्मा भगवान् तृप्त हो जायं, जिससे संसार तृप्त हो। उनके भोजन करके ऐसा कहने पर समस्त संसारकी भूख मिट गई, इसीलिये साथ ही साथ दुर्व्वासा और उनके शिष्य जो कि स्नान करने गये थे, उन सबोंकी क्षुधा भी निवृत्त हो गई और बिना भोजन किये ही सन्तुष्ट होकर सभी चले गये। गोपियोंसे मक्खन लेनेका भी यही उद्देश्य था, क्योंकि यशोदाके मकान पर इतना मक्खन होने पर भी वहां न खाकर दूसरेके मकानसे खानेका कारण यही था। जिस प्रकार रुक्मिणीके मकान पर भोजन करनेसे रुक्मिणीका ही कल्याण होता, जगत्का कल्याण नहीं होता, क्योंकि आत्मीय सम्बन्धसे जो कर्म्म होता है, वह कर्म्म अपनेको ही स्पर्श करता है और जगत्के सम्बन्धसे जो कर्म्म होता है उसका फलाफल

जगत्को स्पर्श करता है। इसलिये द्रौपदीके घरमें अन्नकण खानेसे जगत्की तृप्ति हुई, रुक्मिणीके मकानपर खानेसे न हुई; ठीक उसी प्रकार यशोदाके मक्खन खानेसे, वहां विशेष आत्मीय सम्बन्ध होनेके कारण उससे यशोदाका ही कल्याण होता, समस्त संसारका कल्याण नहीं होता, परन्तु श्रीकृष्ण जब भगवान्के पूर्णावतार थे, तो उनकी महिमा यह होनी चाहिये, कि जब तक श्रीकृष्णजी संसारमें रहें तब तक संसारका कोई मनुष्य भूखा न रहे, सभीका कल्याण और पूर्ण तृप्ति होती रहे और इस प्रकारसे समस्त संसारकी तृप्ति तभी होना सम्भव था, जब भगवान् दूसरेके घरसे मक्खन खाते, इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी यशोदाके घरमें मक्खन पूरा होने पर भी गोपियोंके द्वारा समर्पित मक्खनको खाया करते थे। यही माखनलीलाका रहस्य है।

यह सिद्धान्त पहले ही हो चुका है कि ब्रह्ममें तीनों भावोंकी पूर्णता होनेसे संसारकी समस्त वस्तुओंमें तीन भाव भरे हुए हैं। ये तीन भाव अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार पूर्ण अवतार वे ही होंगे जिनमें आध्यात्मिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता और आधिभौतिक पूर्णता हो; अर्थात् जिनमें शरीरकी पूर्णता, शक्तिकी पूर्णता और ज्ञानकी पूर्णता हो। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीमें ये तीनों पूर्णताएँ स्पष्ट प्रमाणित होती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रजीके स्थूल शरीरकी पूर्णता थी; अर्थात् स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताके लिये जो कुछ बातें होनी चाहियें, वे सब कृष्णचन्द्रजीमें थीं। स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे सौन्दर्य्य, ब्रह्मचर्य्य, आदि पूरा होता है, कोई अङ्ग हीन या बिकल नहीं होता है, या किसी प्रकारकी दुर्बलता नहीं होती है, ये सब गुण श्रीकृष्णमें पूरे थे। उनके सौन्दर्य्यकी तुलना ही कहां मिल सकती है। ऐसे सुन्दर पुरुष न कभी हुए थे और न होंगे। जिनके सौन्दर्य्यसे समस्त संसार मुग्ध हो रहा है, जिनके रूपसमुद्रमें चित्तको डुबाकर साधक संसारके समस्त रसोंको भूल सकता है, मानो प्रकृति माताने अपने खजानेमें जितना रूप था सब लेकर एकाधारमें भर दिया है। समस्त अङ्ग प्रत्यङ्ग श्रीकृष्णके पूर्ण थे, किसी अङ्गमें विकलता न थी। और श्रीकृष्णजीके ब्रह्मचर्य्यके विषयमें क्या कहा जाय, हजारों परस्त्रियोंके बीचमें होकर मन्मथमन्मथ, आत्माराम, अवरुद्धसौरत और योगेश्वरेश्वर; अर्थात् कामदेवके मथन करनेवाले शरीर मन और बुद्धिसे परे आत्मामें रमण करनेवाले, अपनेमें वीर्य्यको रोकनेवाले और योगेश्वरोंके भी ईश्वर, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र थे। मनुष्योंकी बुद्धि सामान्य

कामकी चिन्तासे व्याकुल हो जाती है, चित्तका धैर्य्य नष्ट होने लगता है, फिर एकान्तमें परस्त्रीके प्रार्थना करनेसे जो दशा होती है, उसकी तो बात ही क्या है। परन्तु यह श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके ब्रह्मचर्य्यकी पूर्णताकी शक्ति थी, जिससे हजारों परस्त्रियोंके बीचमें होकर अपने स्वरूपमें स्थित रह सकते थे। यही उनके स्थूल शरीरकी पूर्णता अर्थात् आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है।

श्रीकृष्णचंद्रजीकी आधिदैविक पूर्णता शक्तिकी पूर्णतामें थी। श्रीमद्भागवतके पढ़नेसे उनमें दैवीशक्तिकी पूर्णता कैसी थी, यह निश्चय होसक्ता है। उन्होंने बालककालमें ही किस प्रकार अलौकिक शक्तिका परिचय दिया था। यथा—पूतनाबध, शकटासुरबध, कालीयदमन, गोवर्द्धनधारण आदि। इन सबोंसे उनकी शक्तिकी पूर्णता प्रकट होती है। अज्ञानी लोग भगवान् श्रीकृष्णजीके स्वरूपको न जानेकर इन विषयोंमें बहुत प्रकारके सन्देह करते हैं। कई लोगोंने तो ऐसी स्पर्द्धा की है कि, इन सब अलौकिक लीलाओंको उड़ा दिया है तथा और तरहका अर्थ किया है, यह सब उनके अज्ञानका ही फल है। जिन जिन दैवीशक्तियोंके प्रतापसे समस्त संसारचक्र घूम रहा है और जो शक्ति पत्तों पत्तोंमें जाकर संसारकी रक्षा कर रही है. वह दैवीशक्ति तो भगवान्की ही शक्ति है। अवतार उसी शक्तिका ही स्थूल केन्द्रके द्वारा विकाश है। प्रकृतिमें धर्म्मकी रक्षा और दैवी क्रियाओंकी रक्षाके लिये, आवश्यकताके अनुसार, कभी अंशरूपसे और कभी पूर्णरूपसे, किसी केन्द्रके द्वारा विकाश होकर वह शक्ति संसारकी रक्षा करती है और धर्म्मकी धाराको ठीक कर देती है। जब श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार थे, तो उनमें भगवान्की पूर्ण शक्ति विद्यमान थी, फिर भगवान्के लिये एक पहाड़ उठा लेना, या किसी सांपका दमन करना, क्या बड़ी बात थी। क्योंकि जब उसी भगवान्की शक्तिसे हजारों पहाड़, अनन्त ग्रह उपग्रह नक्षत्र चन्द्र सूर्य्य आदि शून्यमें टँगे हुए हैं और हजारों हिंस्रजन्तु मारे जाते हैं या दबाये जाते हैं, तो एक छोटासा पहाड़ उठा लेना और दो चार असुरोंको मार देना, क्या बड़ी बात है; वह सब कार्य्य भगवान्की व्यापकशक्तिसे होता है और यह कार्य्य उसी व्यापकशक्तिके किसी केन्द्रमेंसे प्रकट होनेसे हुआ। इनमें अन्तर कुछ भी नहीं है, केवल अज्ञानी लोगोंके समझनेका ही अन्तर है। वास्तवमें श्रीकृष्णके जीवन भरके समस्त अलौकिक कार्य्य उनमें दैवीशक्तिकी पूर्णताको ही बतलाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रकी तीसरी पूर्णता आध्यात्मिक अर्थात् ज्ञानकी पूर्णता है,

सो गीताके पाठ करनेसे ही मालूम पड़ सक्ता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया था। गीतामें समाधि भाषा पूर्ण है, जिसमें समस्त उपदेशोंका ज्ञान भरा हुआ है। इस प्रकारकी ज्ञानमयी भाषाको पूर्ण ज्ञानीके सिवाय और काई नहीं कह सका है, क्योंकि समाधिभाषाके कहनेवाले समाधिस्थ पुरुष ही हुआ करते हैं, इतर पुरुष समाधिभाषाको नहीं कह सक्ते हैं। और दूसरा कारण यह है कि, गीता पूर्ण होनेसे ही श्रीभगवान्‌का वाक्य कही जाती है। यह सिद्धान्त शास्त्रमें कहा गया है कि, पूर्ण वस्तु वही है, जिसमें जीवकी पूर्णता विधान करनेके लिये पूर्ण उपदेश किया गया हो। जीवकी पूर्णता त्रिभावकी पूर्णताके द्वारा हुआ करती है। उसमें शरीर आधिभौतिक भाव है, मन अधिदैवभाव है और बुद्धि अध्यात्मभाव है, इसलिये शरीर मन और बुद्धि तीनोंकी पूर्णतासे ही साधक पूर्णब्रह्मरूप बनसक्ते हैं। शरीरकी पूर्णता कर्म्मसे, मनकी पूर्णता उपासनासे और बुद्धिकी पूर्णता ज्ञानसे होती है। इसलिये जिस पुस्तकमें कर्म्म, उपासना और ज्ञान, तीनों ही पूर्णतया वर्णन किये गये हैं, वही पूर्ण पुस्तक है, और पूर्ण होनेसे भगवान्‌का वाक्य है, क्योंकि भगवान् पूर्ण हैं। वेदमें कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, जीवोंके उद्धारके लिये पूरे पूरे वर्णन किये गये हैं, इसलिये वेद भगवान्‌का वाक्य है; इसी प्रकार गीतामें भी अट्टारह अध्यायोंमें कर्म्म उपासना और ज्ञानका वर्णन किया गया है। इसके सब अध्यायोंमें सब तरहकी बात होनेपर भी प्रधानतः पहले छः अध्यायोंमें कर्म्मकी बात, दूसरे छः अध्यायोंमें उपासनाकी बात और तीसरे छः अध्यायोंमें ज्ञानकी बात कही गई है, इसलिये गीता पूर्ण है। पूर्णताका और एक लक्षण यह है कि जिसमें साम्प्रदायिक भाव न हो और निष्पक्ष उदार भाव हो। ऋषियोंकी बुद्धि और साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धिमें इतना ही अन्तर है। ऋषियोंकी बुद्धि पूर्ण होनेसे उसमें साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं रहता एवं उसमें किसी एक भावकी प्रधानता मानकर और भावोंकी निन्दा नहीं की जाती। जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासके नाना प्रकारके पुराण लिखनेके विषयमें कहा गया है कि भगवान् वेदव्यासने पूर्ण ऋषि होनेसे भिन्न भिन्न पुराणोंमें सभी बातोंका वर्णन किया है, किसीको गौण और किसीको मुख्य नहीं किया। परन्तु साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धि इस प्रकारकी नहीं होती, वे एक ही भावको प्रधान मानकर औरोंकी निन्दा करते हैं। भारतवर्षमें जबसे इस प्रकारके साम्प्रदायिक मतोंका प्रचार हुआ है, तभीसे भारतमें अशान्ति और मतद्वैधता

फैल गई है, और परस्परकी निन्दा व ईर्षा फैलकर धर्म्मके नामपर अधर्म्म होने लग गया है। परन्तु गीतामें इस प्रकारकी बात नहीं है, क्योंकि गीता भगवान्‌के मुखसे निकला हुआ पूर्ण ग्रन्थ है, इसलिये गीता सकल प्रकारके अधिकारियोंका समान रूपसे कल्याण करनेवाली है। इसमें कर्म्मीके लिये निष्काम कर्म्मका उदारभाव, भक्तके लिये भक्तिका मधुरभाव और ज्ञानीके लिये परमज्ञानका गम्भीरभाव, एकाधारमें सभी भाव सामञ्जस्यके साथ भरे हुए हैं, जिससे गीताका पाठ करके सभी धर्म्मके लोग सन्तुष्ट होते हैं और सकल देश तथा सकल धर्म्मोंमें गीताकी प्रतिष्ठा हुआ करती है। श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार नहीं होते तो गीता जैसे विज्ञानशास्त्रको कभी नहीं बोल सकते। गीताकी और पूर्णता यह है कि गीतामें भक्तिके छः अध्याय बीचमें रक्खे गये हैं, क्योंकि भक्तिके बीचमें होनेसे कर्म्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा, यह तीन प्रकारकी भक्ति, सकल प्रकारके अधिकारियोंका कल्याण कर सकती है। भक्ति सकल साधनोंकी प्राणरूप है, चाहे कर्म्मी हो, चाहे ज्ञानी हो, भक्ति मूलमें न होनेसे दोनोंमें बन्धनकी आशङ्का रहती है। भक्तिहीन कर्म दम्भ और कर्तृत्व उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि कर्म्मी अपनेको भगवान्‌को निमित्तमात्र मानकर, जगत्सेवामें भगवत्सेवा समझकर, भक्तिके साथ कर्म्म करे, तो उस कर्म्मसे दम्भ या बन्धन उत्पन्न नहीं होगा। उसी प्रकार भक्तिहीन शुष्क ज्ञान चित्तमें तर्कबुद्धि और अभिमान उत्पन्न करके, ज्ञानमार्गी पुरुषको बन्धनमें डाल सकता है; परन्तु ज्ञानके मूलमें भक्ति रहनेसे ज्ञानी भक्त आत्मरति बन जायगा, शुष्क तार्किक और अभिमानी नहीं रहेगा, जिससे उसको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होगी। इस प्रकारकी पूर्णता तभी आ सकती है जब कर्म्म और ज्ञान दोनोंके बीचमें भक्ति आजाय, इसलिये ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीताके बीचके अध्यायोंमे भक्तिको रक्खा है। भक्तिके कर्म और ज्ञानके बीचमें रखनेका और भी उदार हेतु यह है, कि जिस प्रकार उदार पुरुषका भाव निरन्तर विवाद नष्ट करके शान्ति प्रचार करना होता है; उसी प्रकार उदार श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गीता प्रचार करनेका उद्देश्य संसारमें शान्तिप्रचार करना था, इसलिये उन्होंने भक्तिका उपदेश कर्म्म और ज्ञानके बीचमें किया था। क्योंकि जहां दोनों विरुद्ध पक्षमें विवाद होता है, वहां बीचमें एक शान्त पुरुष विवादको मिटानेवाला हो तो विवाद नहीं बढ़ता है; अपिच शान्ति प्राप्त होती है। कर्म्म और ज्ञानमें सदा ही विवाद है। कर्म्म जो कुछ कहता है

ज्ञान उससे उल्टा कहता है। कर्म्मके मतमें जगत् सत्य है और ज्ञानके मतमें जगत् मिथ्या है। कर्म्मके मतमें कर्मी होना चाहिये और ज्ञानके मतमें निष्कर्मी होना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान और कर्म्मका विवाद सदा ही बना हुआ है, इसलिये श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बीचमें भक्तिको रखकर कर्म्म और ज्ञानका विवाद मिटा दिया है। बीचमें भक्तिके रहनेसे संसार व्यावहारिक दशामें मिथ्या होनेपर भी संसारको भगवान्का रूप जानकर ज्ञानी महात्मा जगत्कल्याणरूप निष्काम कर्म्मको कर सकते हैं और कर्म्मी सकल प्रकारके कर्म्मोंको करने पर भी, जगत्की पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्मरूपताको जानकर कर्ममार्गमें अहङ्कार आदि बन्धनोंसे मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार भक्तिने बीचमें आकर ज्ञान और कर्म्ममें सामञ्जस्य और दोनोंको निर्विरोध कर दिया है। यही गीताकी पूर्णताका लक्षण है, इसलिये गीताके वक्ता श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीमें इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता भी होनेसे वे पूर्ण परमात्मा थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूर्णताका और एक लक्षण यह है कि द्वन्द्व अर्थात् दोनों विरुद्धभावोंमें सामञ्जस्य रखना। पूर्ण पुरुष अर्थात् मुक्त पुरुष वेही होते हैं जिनमें सुख-दुःखादि-द्वन्द्व-सहिष्णुता होती है। उनके चित्तमें सुखमें हर्ष वा दुःखमें विषादका संस्कार नहीं लगता है, क्योंकि वे सुख दुःखसे परे आनन्दमय साम्यदशाको प्राप्त करते हैं। पूर्णावतारमें भी यही लक्षण पाया जाता है, क्योंकि पूर्णज्ञानी होनेके कारण उनमें सकल प्रकारके विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य रहता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य था, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे भगवान्के पूर्णावतार थे। अब इन विषयोंका दृष्टान्त दिया जाता है। क्षत्रियकी यह प्रकृति है कि युद्धमें अस्त्र लेकर शत्रुओंको मार देना। गीतामें अर्जुनको भगवान्ने उपदेश किया है, कि हे अर्जुन! तुम युद्ध किये बिना नहीं रह सकते हो क्योंकि:—

प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।

प्रकृति बलात् तुमको युद्धमें नियुक्त कर देगी। लड़ाई देखनेसे क्षत्रियोंके हाथोंमें स्फुरण होने लगता है, यह क्षत्रियकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु श्रीकृष्णके जीवनमें क्या देखते हैं? कुरुक्षेत्रमें इतना युद्ध उन्होंने कराया अट्ठारह अक्षौहिणी सैन्यको मरवाकर संसारका भार हरण किया, तौ भी

क्षत्रिय होनेपर भी, युद्धमें अस्त्र तक धारण नहीं किया। यदि श्रीकृष्णजी सामान्य मनुष्य होते तो ऐसा कभी नहीं कर सकते थे। यही उनके पूर्ण चरित्रमें दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य है। क्षत्रिय लोग प्रतिज्ञाशूर होते हैं, उनकी प्रतिज्ञा प्राण जानेपर भी नहीं टूटती है। भगवान् सत्यके रूप होनेपर भी भक्तके अधीन हुआ करते हैं, इसलिये युद्धमें अस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञा सर्वत्र अटूट रहनेपर भी, परमभक्त भीष्मदेवकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये अस्त्र धारण करके दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य किया था! कर्म्म संसारमें बन्धनका कारण होता है, कर्मी लोगोंमें अपने कर्तृत्वका अभिमान होता है और दूसरी ओर निष्क्रिय होकर आलस्य-परायण होते हैं, इन दोनों भावोंका सामञ्जस्य निष्काम कर्म्म है; अर्थात् कर्म्म करते हुए भी उसमें वासनाको न रखकर कर्म्मके लिये ही कर्म्म करना है। यथा—गीतामें कहा है कि:—

कर्म्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥

मनुष्यका अधिकार कर्म्म करनेमें है, परन्तु कर्म्मके फलमें अधिकार नहीं है, फलकी इच्छासे कर्म्म नहीं होना चाहिये और कर्म्मको छोड़ना भी नहीं चाहिये, यही निष्कामकर्म्मका आदर्श है। इस आदर्शको पूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने जीवनमें पूर्णरूपसे दिखा दिया था कि किस प्रकारसे सर्व्व कर्म करते हुए भी कमलदलस्थ जलके सदृश मनुष्य निर्लिप्त रह सकता है। जितना कर्म्म श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने अवतारमें किया था, उतना कर्म यदि किसी मनुष्यको करना पड़ता तो कर्म्मके चक्रमें पड़कर विक्षिप्त (पागल) हो जाता। परन्तु अनन्त जटिल-कर्म होनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रजीके मन और बुद्धिपर उन कर्म्मोंने कुछ भी असर (प्रभाव) नहीं किया था और उनका वंशी बजाना नहीं छूटा था जो कि आनन्द और निश्चिन्तताका चिन्ह-स्वरूप था। योगदर्शनमें ईश्वरके लक्षणके लिये लिखा है कि:—

स एव पूर्व्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्।

कालके द्वारा परिच्छिन्न न होनेसे ईश्वर परम ज्ञानी ऋषियोंके भी गुरु हैं वह ज्ञान भगवान् कृष्णचन्द्रके भीतर था। समस्त उपनिषदोंकी सारभूता गीता जिनकी वाणी है, उनके ज्ञानका क्या ठिकाना है? इतना ज्ञान होनेपर भी और सबके गुरु होनेपर भी जब लौकिक जगत्में आये थे, तब लोकाचारको पूरा पूरा निबाहना उनका कर्त्तव्य था, क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करते हैं और लोग उनका ही अनुकरण किया करते हैं। इसलिये संसारमें आदर्श स्थापन करनेके लिये सबके गुरु होनेपर भी गुरु सान्दीपनि मुनिके पास पढ़नेको गये थे और गुरुदक्षिणारूपसे उनकेमृत पुत्रको जिला दिया था। इसमें भी दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है। संसारमें अहङ्कार और धृष्टताका लक्षण बहुत बढ़ा हुआ है, मनुष्य सामान्य-शक्ति होनेपर भी वर्णधर्मोंको मिथ्या कहकर कुछसे कुछ करनेको प्रस्तुत हो जाते हैं। विचार करनेकी बात है कि, श्रीकृष्णमें जितनी शक्ति थी, उतनी शक्ति किस ब्राह्मणमें थी? और इसीलिये ही भीष्मदेवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको ही सबसे पहले यज्ञभाग देनेका प्रस्ताव किया था; परन्तु इतनी शक्ति होनेपर भी वर्णधर्मकी मर्यादाको श्रीकृष्णचन्द्रजीने नहीं तोड़ा था, क्योंकि वर्णधर्म जन्म और कर्मसे किस प्रकार सम्बन्ध रखता है, यह श्रीकृष्णचन्द्र अच्छी तरहसे जानते थे, इसलिये क्षत्रियका शरीर होनेके कारण युधिष्ठिरके यज्ञमें ब्राह्मणोंका सत्कार करनेका कार्य्य उन्होंने लिया था। सर्वशक्तिमान् होनेपर भी इस प्रकार सब ओर विचार रखकर काम करना यही उनके चरित्रमें विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है। आजकल तीस तीस रुपये पानेवाले आफिसोंके क्लर्क अपने मरनेके बाद स्त्रीके गुजारेके लिये लाइफइन्शुरेन्स कम्पनीमें रुपया जमा करते हैं। वे स्वयं आधे पेट खाकर भी स्त्रीके मोहमें बद्ध होकर इस प्रकार करते हैं। कर्मोंपर दृष्टि नहीं डालते। क्या श्रीकृष्णचन्द्रजी चाहते, तो अपनी धर्मपत्नियोंके लिये इस संसारमें अपनी लीला समाप्त करनेसे पहले कुछ रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकते थे? तीस रुपयो पानेवाले क्लर्कमें इतनी शक्ति है, तो उनमें क्या कुछ शक्तिकी कमी थी? परन्तु श्रीकृष्णजी इस प्रकार सामान्य विषयीकी तरह मोहग्रस्त नहीं थे और न कर्मविज्ञानको भूलकर नियतिपर हाथ डालनेकी इच्छा करते थे, इसलिये उनके अपने धाममें सिधार जानेके बाद अर्जुनकी भी शक्ति नष्ट हो गई और स्त्रियोंकी भी रक्षा नहीं हो सकी। यह भी कृष्णके दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और उनकी पूर्णताका लक्षण है। संसारमें मोहान्ध पुरुषका यह लक्षण है कि, अपने आत्मीयजनोंको छोड़नेके समय उसको बहुत दुःख होता है। जिसके साथ जितना प्रेम हो, उससे पृथक् होनेके समय उतना ही कष्ट होता है। संसारके मोह, काम, प्रेम आदिमें

चित्तको बांध लेना जीवका लक्षण है और इनसे निर्लिप्त रहना, प्रेम करनेपर भी उसमें बद्ध न होना एवं मोहादिमें बद्ध होकर अपने कर्त्तव्यको भूल नहीं जाना यही मुक्त पुरुषका स्वरूप है। यह भाव श्रीकृष्णचन्द्रजीमें पूर्णरूपसे था, क्योंकि गोपियोंका प्रेम जिस प्रकार उनमें था, अक्रूरके ले जाते समय वे सब जिस प्रकार अत्यन्त दुःखके साथ रो रोकर उनको रोकनेका प्रयत्न करती थीं, सामान्य पुरुषकी ऐसी शक्ति नहीं थी कि, इस प्रकारके प्रेमको छोड़-कर चला जाय, परन्तु श्रीकृष्णजीको अपनी व्रजलीला समाप्त करके और और कर्त्तव्यके लिये मथुरा आदि स्थानोंमें जाना था, इसलिये पूर्णज्ञानी श्रीकृष्णचन्द्रजीके चित्तपर गोपियोंके प्रेम और प्रार्थनाका कुछ भी प्रभाव न पड़ा और वे उनको छोड़कर चले गये। यह भी भगवान्‌के चरित्रमें दोनों भावोंका सामञ्जस्य है, इस प्रकार निष्पक्ष विचारके साथ जितना ही सोचा जायगा, उतना ही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके लोकातीत चरित्र और पूर्णता-की महिमा पूर्णरूपसे प्रकट होगी।

गोपी-चरित्र।

गोपियोंके भी चरित्रपर मनन करनेसे अद्भुत रहस्य जान पड़ता है। उनका मधुर भाव और उनका भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण ही उनके प्रति भगवान्‌की कृपाका कारण था। पहले ही कहा गया है कि, गोपियां कई श्रेणीकी थीं। सभी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रेम कान्ताभावसे था। भक्तिशास्त्रमें १४ चौदह प्रकारके रस लिखे हैं, उनमें वीर, करुण, हास्य, वीभत्स आदि सात गौण और दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सात रस मुख्य हैं। इन सब रसोंके द्वारा प्रेम करनेके विषयमें भक्तिशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि:—

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम्।
तदभावे जारवत्।

कान्तासक्ति हो, अथवा और किसी प्रकारकी आसक्ति हो, सभीमें माहा-त्म्य ज्ञानपूर्वक प्रेम होना चाहिये। ईश्वरमें माहात्म्यबुद्धि न रखकर प्रेम करनेसेवह प्रेम जारसे प्रेम करनेके सदृश होता है। गोपियोंकी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्रेम करनेमें कान्तासक्ति थी, परन्तु बहुतसी गोपियोंको श्रीकृष्णका माहात्म्यज्ञान था। वे गोपियां जानती थीं कि श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। जैसा भागवतमें कहा है कि:—

"प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृताङ्किल बन्धुरात्मा"
"न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्" ।

आप सकल भूतोंके आत्मा हो, सर्व्वव्यापी अन्तरात्मा भगवान् हो, आदि बहुतसे पहले कहे हुए श्लोकोंसे गोपियोंका श्रीकृष्णमें ईश्वरज्ञान सिद्ध होता है, इसलिये कान्ताभावसे प्रेम करनेसे माहात्म्यज्ञान रहनेके कारण गोपियां उन्नत हुई थीं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि जब गोपियोंने अपने अपने पतियोंको छोड़कर श्रीकृष्णको ही पति बनाया तो गोपियां व्यभिचारिणी और पापिनी क्यों नहीं कहलायँगी? इसका उत्तर यह है कि यदि गोपियां अपने अपने पतियोंको छोड़कर और किसी दूसरे मनुष्यको पति बनातीं तो वे अवश्य व्यभिचारिणी और पापिनी कहलातीं और उनको नरक होता; परन्तु जब गोपियोंने सकल पतियोंके अन्तरात्मा परमपति भगवान्‌में शरीर मन प्राण और आत्माको समर्पण किया था तो गोपियोंपर व्यभिचारदोष नहीं लग सकता है, क्योंकि भगवान् ही जब बहुरूप धारण करके समस्त संसारके पति हैं तोः—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन,
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणि,
तथैव सर्व्वार्ऽहणमच्युतेज्या ॥

जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जल सेचन करनेसे शाखा पत्रादि सबकी तृप्ति हुआ करती है और जिस प्रकार प्राणके तृप्त होनेसे इन्द्रियां भी तुष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवानकी सेवा करनेसे समस्त पति और समस्त संसारकी सेवा हो जाती है। विवाहका उद्देश्य यह है कि स्त्री पुरुषमें परस्पर के प्रति प्रेम बढ़ाकर भगवान्‌के प्रति प्रेमका अभ्यास करना। सच्चा प्रेम भगवान्‌के साथ ही होता है, क्योंकि वही प्रेम नित्य है और भगवान् प्रेमके रूप हैं। भगवान्‌के प्रेममें दुःख नहीं है, विरह नहीं है, विषाद नहीं है, किसी प्रकारका शोक नहीं है और अशान्ति नहीं है। जीवका हृदय भी इसी नित्य प्रेमके लिये लालायित रहता है। समस्त संसारके जीव इसी परम शान्तिमय

प्रेममय भगवान्‌के चरण कमलको प्राप्त करनेके लिये ही अनन्तकालसे कालचक्र में घूम रहे हैं। संसारकी समस्त अशान्ति और संसारका समस्त चाञ्चल्य इसी निश्चल शान्तिमय परमपदको प्राप्त करनेके लिये है। श्रीभगवान्‌के साथ यही मिलन यथार्थ मिलन और अध्यात्मिक विवाह है। यही विवाह सकल विवाहोंका लक्ष्य है। इसीलिये ही समस्त संसार घूम रहा है और अनन्त कर्म्मोंका स्रोत बह रहा है। परन्तु भगवान्‌के निराकार और इन्द्रियोंसे अतीत होनेसे एकाएक भगवान्‌के साथ प्रेम होना कठिन है, इसलिये संसारमें स्त्री-पुरुष जीव आपसमें प्रेम करके हृदयमें जो छिपा हुआ प्रेम है उसको जगा करके भगवान्‌के प्रति प्रेमका अभ्यास करते हैं। शरीरके साथ शरीरका सम्बन्ध व मनके साथ मनका सम्बन्ध, यह सभी उसी आध्यात्मिक विवाह अर्थात् भगवान्‌के साथ प्रेम करनेका उपायमात्र है, लक्ष्य आध्यात्मिकविवाह ही है। इसलिये जिसका इस प्रकार आध्यात्मिक विवाह हो गया है; अर्थात् जिसने संसारके प्रेमको तुच्छ समझकर भगवान्‌के साथ जो प्रेम उसको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य समझ लिया है, उसके जीवनका उद्देश्य पूर्ण हो चुका है, इसलिये उसको संसारकी किसी वस्तुके साथ किसी प्रकारके सम्बन्ध रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि भगवान्‌से प्रेम हो जानेपर सब कर्त्तव्य पूर्ण हो जाते हैं, फिर उसको किसी बातकी जिम्मेवरी नहीं रहती है। भगवान्‌के प्रति परम प्रेमवती गोपियोंके चित्तका यही भाव था। उनकी जीवनतरणि सच्चिदानन्दसमुद्रमें बह गई थी। उनके सब कर्त्तव्य भगवान्‌के चरण कमलोंमें विलीन हो गये थे। उनका सब विवाह आध्यात्मिक विवाह में जाकर लय हो गया था, क्योंकि वे श्रीकृष्णचन्द्रको परमपति परमात्मा जानकर उनमें ही शरीर मन और प्राणको समर्पण कर चुकी थीं। समस्त धर्म्मोंको त्याग करके धर्म्मरूप शाश्वत भगवान्‌में आत्माको अर्पण कर चुकी थीं। इसलिये इस प्रकारकी कान्तासक्तिमें कोई पाप या व्यभिचार नहीं था। श्रीभगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है कि:—

ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
सर्व्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहन्त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

जो भक्त मेरेमें ही समस्त कर्म्मोंको अर्पण करके मेरेमें चित्तको रखकर अनन्य योगके साथ मेरी उपासना करेंगे उनको मैं शीघ्र ही संसार-समुद्रसे उद्धार करूँगा। हे अर्जुन! तुम मेरेमें चित्त रखो, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो, इससे तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे। समस्त धर्म्मोंको त्याग करके केवल मेरी ही शरण लो, धर्म्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप होगा उससे तुम्हें मैं ही उद्धार करूंगा। गोपियोंने भी इसी प्रकार भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण करके सांसारिक स्त्रीधर्म्मको त्याग किया था और आत्मसमर्पण करनेके कारण धर्म्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप हुआ था, भगवान्ने उनको उससे उद्धार किया था। यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है। गोपियोंके प्रेमके रहस्यके विषयमें अधिक क्या कहा जाय। गोपियां वेद वेदान्त नहीं पढ़ी हुई थीं, परन्तु केवल भक्तिके द्वारा ही भगवान्को उन्होंने अपने वशमें कर लिया था, क्योंकि भगवान्ने कहा कि:—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज! ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।
श्रियञ्चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा ॥
मयि निर्वद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

मैं भक्तोंके अधीन हूँ, मेरी स्वतन्त्रता भक्तोंके सामने नहीं है, साधुओंके पास मेरा हृदय बँधा हुआ है, साधुओंके बिना मैं अपनी आत्मा और श्रीको नहीं चाहता हूं, मैं साधुओंका परम गतिस्वरूप हूं, मुझमें चित्तको बांधकर समदर्शी साधुलोग जिस प्रकार सती स्त्री पतिको वशमें करती है उसी प्रकार मुझको भी वशमें कर लेते हैं। गोपियोंका भी भगवान्के प्रति प्रेम ऐसा ही था। यथाः—

वाणी गुणाऽनुकथने श्रवणौ कथायाम्,
हस्तौ च कर्म्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे,
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ।।

गोपियोंकी वाणी भगवान्‌के गुणगानके लिये थी, उनके कर्ण भगवान्‌के मधुर गुणगान सुननेके लिये थे, उनके हाथ भगवान्‌के कार्य्य करनेके लिये थे, उनका चित्त भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यान करनेके लिये था, उनका मस्तक भगवान्‌की मूर्त्ति और तीर्थोंमें प्रणामके लिये था, उनकी दृष्टि भगवद्भक्तोंके दर्शनके लिये थी। इस प्रकार शरीर मन और प्राणसे गोपियां भगवान्‌के प्रति प्रेम करती थीं, इसलिये ही भगवान्‌ने उनपर इतनी कृपा की थी और अपने मुखसे उद्धवको व्रजमें भेजते समय उनके प्रेमका वर्णन किया था। यथा—भागवतमें:—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।।
ये त्यक्तलोकधर्म्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ।
मयि ताः प्रेयसाम्प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।।
स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।
धारयन्त्यपि कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ।।

गोपियाँ मुझमें मन व प्राणको समर्पण किये हुई हैं, मेरे ही लिये उन्होंने पति पुत्रोंको त्यागकर दिया है, उनका स्थूल शरीर व्रजमें रहने पर भी उनके चित्त आत्मास्वरूप मेरेमें ही लवलीन रहते हैं, उन्होंने मेरेही लिये लोकधर्म्मको त्याग कर दिया है इसलिये उनकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, मैं दूर पर हूँ इसलिये मेरे प्रति प्रेमवती गोपियां मेरे बिरहमें बहुत ही दुःखको पारही हैं और "मैं फिर लौटकर आऊंगा" इसी आशासे ही अत्यन्त कष्टके साथ किसी भी प्रकारसे प्राणोंको धारणकर रही हैं। यही भगवान्‌के प्रति गोपियोंका प्रेम था, जिसको भगवानने उद्धवके सामने अपने मुखसे प्रकट किया था।

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके वर्णनमें जितने श्लोक लिये गये हैं, उनमें सभी स्थानोंपर श्रीकृष्णजीके लिये योगेश्वर, मन्मथमन्मथ, आत्माराम, आदि

विशेषण होनेपर भी गोपियोंके प्रेमके विषयमें कहीं कहीं ऐसे वर्णन मिलते हैं कि जिससे गोपियोंमें कामादिभावोंकी प्रतीति होती है। कामकी दशा शरीर और मनपर कहांतक अधिकार जमा सकती है और किस दशा पर पहुंचनेसे जीव कामसे अतीत हो सकता है इसके तत्त्वको न जानकर श्रीमद्भागवतके उन सब श्लोकोंके आश्रयसे गोपियोंके भावपर बहुत प्रकारकी शङ्काएं हुआ करती हैं, इसलिये गोपियोंके भावोंका वर्णन करके शङ्का समाधान किया जाता है। यह बात भागवतमें लिखी है कि दो प्रकारकी गोपियाँ थीं। एक प्रकारकी ऐसी थीं कि जिनको उनके पतियोंने रासलीलकी रातमें श्रीकृष्णजीके पास जाने नहीं दिया था और इसी दुःखसे उन्होंने उसी समय प्राण त्याग दिया था। इन गोपियोंके लिये भागवतमें कहा है कि:—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः।
ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

कोई कोई गोपियां जिनके पतियोंने श्रीकृष्णचन्द्रजीके पास उनको जाने नहीं दिया, घरके भीतर जाकर आँखें बन्दकरके श्रीकृष्णका ही ध्यान करने लग गई, इस दशामें उनकी मुक्तिके लिये जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्म्मोंका क्षय होना चाहिये था सो होगया, क्योंकि प्रियतम भगवान्के विरहमें उनको जो अत्यन्त कष्ट हुआ उससे उनका समस्त अशुभ कर्म्म क्षय होगया और ध्यानके द्वारा परमात्माके साथ मानसिक रूपसे उन्होंने जो सम्बन्धजनित परम सुख भोग किया उससे उनका शुभकर्म्मका बन्धन भी टूटगया, इस प्रकार शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्म्मोंके क्षय होनेसे मुक्तबन्धन होकर उन गोपियोंने गुणमय देहको उसी समय त्यागकरके मुक्तिपदको प्राप्त कर लिया। भगवद्भावसे सम्बन्धयुक्त गोपियोंके ये संयोग वियोगरूपी दोनों भाव होनेके कारण तज्जनित सुख और दुःख भी असाधारण था इसमें सन्देह ही क्या है? अतः कर्म्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होना भी स्वतःसिद्ध है। इन गोपियोंका

भगवान्‌के प्रति परमात्माका ज्ञान नहीं था तौ भी जब भगवान्‌के संगसे इनकी मुक्ति हो गई थी तो जो गोपियाँ घरसे निकलकर भगवान्‌के पास चली गई थीं और भगवान्‌का जिनको माहात्म्यज्ञान अर्थात् परमात्मभाव था उनकी मुक्तिके विषयमें सन्देह क्या हो सकता है ? अब बात इतनी ही समझनेकी है कि गोपियां दो प्रकारकी थीं । पहली श्रेणीकी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति केवल पतिका भाव था, ब्रह्मका भाव नहीं था और दूसरी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति पतिभाव था और ब्रह्मभाव भी था एवं दोनों प्रकारकी गोपियोंमें ही कामभाव था । इन दोनों विषयोंमें ही महाराजा परीक्षित्‌ने श्रीमद्भागवतमें सन्देह किया है कि श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति ब्रह्मभाव न रहनेपर भी और कामभाव रहनेपर भी सब गोपियोंकी मुक्ति कैसे होगई थी । यथा-भागवतमें:—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ! ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥

जिन गोपियोंकी मुक्ति घरहीमें ध्यानके द्वारा हो गई थी उनमें श्रीकृष्ण-जीके प्रति ब्रह्मभावना न होनेपर भी उनको ऐसी गति कैसे प्राप्त हो गई ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने कहा है किः—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽधोक्षजप्रियाः ॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ! ।
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

जब भगवान्‌के प्रति द्वेष करनेपर भी शिशुपाल आदिकोंको सिद्धिलाभ हुआ था तो भगवान्‌के प्रति शरीर व मनके साथ प्रेम करनेवाली गोपियोंको सिद्धिप्राप्ति क्यों न होगी, क्योंकि अव्यय निर्गुण परमात्माका संसारमें प्रकट होना केवल मनुष्योंको मुक्ति देनेके लिये ही है। जिस प्रकार अमृतको कोई जानकर पीवे या न जानकर भी पीवे तो उससे अमरत्वप्राप्ति होती है, उसी

प्रकार भगवान्‌के स्वरूपको जानकर या न जानकर भी यदि मनुष्यका प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो सर्व्वशक्तिमान् भगवान्‌की शक्तिसे जीवके समस्त विषयभाव नष्ट होकर अन्तमें मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌के प्रति काम हो या क्रोध या भय हो या स्नेह हो या ऐक्य हो या मैत्री हो; अर्थात् किसी भी भावसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो तो उसी भावको लेकर नित्य भगवान्‌का चिन्तन करते करते जीव तन्मय हो जाते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते॥

जैसे एक प्रकारका कीट जिसको तैलपायी (तिलचट्टा) कहते हैं, वह भ्रमर कीट (कुम्हार) से पकड़े जानेपर डरसे उसीकी ही चिन्ता करता करता भ्रमरकीट बन जाया करता है, उसी प्रकार चाहे किसी भावसे हो भगवान्‌का ध्यान करते करते जीव भगवान्‌में तन्मय होकर अन्तमें मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं। इसी प्रकारसे शिशुपाल आदिको सिद्धि मिली थी और इसी प्रकारसे गोपियोंको भी मुक्ति मिली थी। यद्यपि भागवतके वर्णनसे प्रतीत होता है कि गोपियां स्थूल शरीरके साथ भी भगवान्‌से मिलना चाहती थीं अर्थात् उनमें स्थूल शरीरके सुखकी इच्छा थी परन्तु वह इच्छा तभीतक सम्भव है जबतक मनके साथ सम्बन्ध इन्द्रियों और स्थूल शरीरका रहे क्योंकि स्थूल शरीरका भोग तभीतक सम्भव हो सक्ता है। मन ही इन्द्रियां और स्थूल शरीरसे मिलकर स्थूल शरीरके भोगोंको अनुभव करता है इसलिये जिनका मन जिस समय स्थूल शरीर और इन्द्रियोंसे पृथक् होकर और किसी ऊँची वस्तुमें तन्मय हो जाय उनके लिये उस समय स्थूल शरीरका भोग या उस भोगकी चिन्ता कुछ भी नहीं रह सक्ती है क्योंकि तन्मय हो जानेसे मन शरीरसे पृथक् हो जाता है। गोपियोंकी दशा ठीक इसी प्रकारकी थी। पूर्व्वजन्मकी वासना प्रबल होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको देखते ही पहले पहले गोपियोंके चित्तमें भले ही भगवान्‌के साथ स्थूल शरीरसे मिलनेकी इच्छा हो जाय, परन्तु भगवान् तो श्रीकृष्ण थे, समस्त संसारके आकर्षण करनेवाले थे, काम क्रोध आदि समस्त इन्द्रियवृत्तियोंको खींचकर अपनेमें लय करनेवाले थे, इसलिये जिस समय गोपियोंके चित्तमें पहले पहले कुछ कामभाव रहनेपर भी सर्व्वशक्तिमान् सकल रसके आधार सकल वृत्तियोंको अपनेमें लय करने

वाले भगवान्‌में इस भावसे चित्तको डालते ही, जिस प्रकार नदी समुद्रमें लय होकर अपनेको भूल जाती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द समुद्र भगवान् श्रीकृष्णमें गोपियोंकी चित्तरूपी नदी जब मिलकर तन्मय हो जाया करती थी; अर्थात् भगवान्‌की शक्तिसे मुग्ध होकर उन्हींमें ही मन और प्राणको समर्पणकर गोपियां जब तन्मय हो जाया करती थीं, उस समय गोपियोंका पहली भाव छूट जाया करता था। क्योंकि जब चित्त शरीर और इन्द्रियोंसे पृथक् होकर भगवान्‌में लय हो जाय तो स्थूल शरीरके भोगका ध्यान नहीं रह सका है यही दशा गोपियोंकी थी। और इसी भावमें गोपियां अपने मन और प्राणको भगवान्‌में तन्मय कर दिया करती थीं, जिससे उनका समस्त कामभाव नष्ट होकर अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त हो गया था। इस प्रकार विषयभाव छूटकर विषयोंसे अतीत तन्मयभाव आना और उन्नति होना सामान्य मनुष्यके साथ प्रेममें कदापि सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य मनुष्यके विषयी और प्रकृतिके अधीन होनेके कारण अपनेमें प्रकृतिको लय करनेकी शक्ति उस मनुष्यमें नहीं होती है। यह शक्ति समस्त संसारके आकर्षण करनेवाले भगवान्‌में ही हो सक्ती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार होनेके कारण ऐसे ही सर्व्वशक्तिमान् थे, इसलिये गोपियां उनके चरणकमलका आश्रय करके संसारसमुद्रसे उद्धार हो गई थीं। गोपियोंकी भगवान् श्रीकृष्णजीमें तन्मयताके विषयमें भागवतमें कहा गया है कि:—

ता माऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये,
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

जिस प्रकार मुनि लोग समाधिदशामें या नदी समुद्रमें लय होनेसे नामरूपमय द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार गोपियां मुझमें चित्तको प्रेमके साथ ऐसा लय कर देती थीं कि, उनमें अत्यन्त तन्मयताके कारण द्वैत-भाव नहीं रहता था। वे अपनेको पूर्ण रूपसे भूल जाती थीं। इस प्रकार-की दशामें स्थूल शरीरका भान नहीं रहता है, इसलिये कामभाव भी पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है। इस प्रकारसे गोपियां शरीर, मन और प्राणसे भगवान्‌में

प्रीति करके मुक्त हो गई थीं। इसको एक दृष्टान्तसे समझाया जाता है। यदि तख्ते और लोहेकी कीलोंसे बनी हुई किसी नावको ऐसे एक समुद्रमें बहा दिया जाय कि जिसके एक तटपर एक बड़ा भारी चुम्बकका पहाड़ हो, तो वह नाव समुद्रमें बहती हुई जब चुम्बकके पहाड़के पास आ जायगी, उस समय चुम्बककी आकर्षणशक्तिसे समस्त कीलें नावसे खुलकर पहाड़में जाकर लग जायंगी और वह नाव खण्ड खण्ड होकर समुद्रमें डूब जायगी। ठीक उसी प्रकार गोपियोंकी अपनी शरीररूपी नाव, जो कि काम, मोह, अभिमान, अहङ्कार आदि कीलोंसे बनी हुई थी, उसको उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेमसमुद्रमें बहा दिया था, उसी प्रेमसमुद्रके किनारेपर चुम्बकके पहाड़रूपी समस्त संसारको आकर्षण करनेवाले श्रीकृष्णजी थे; इसलिये जिस समय गोपियां अपने अपने शरीररूपी नावको प्रेमसमुद्रमें बहाती हुई श्रीकृष्णके पास आ जाया करती थीं, तो उनकी आकर्षणशक्तिसे उनके शरीररूपी नावकी कामकी कील, मोहकी कील, अभिमानकी कील, अहङ्कारकी कील सब एक बार ही निकलकर श्रीकृष्णमें जाकर लय हो जाया करती थीं और गोपियां शरीरका सुखभोग, अहङ्कार, मोह आदि सब कुछ भूलकर श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाती थीं। उनका शरीर प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाता था और उनका द्वैतभाव पूर्णतया नष्ट हो जाता था। यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है, जिससे सब प्रकारके भावोंके भीतरसे भी उनकी मुक्ति हो गई थी। यही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अलौकिक चरित्र तथा गोपीचरित्रका दिग्दर्शन है।

इति श्रीधर्मसुधाकरे चतुर्दश किरणम्

